विषय-सूची
(Contents)

इकाई–1 (Unit–1)

(1-29)

1. राजनीति क्या है? (What is Politics **1-29**

1.1. उद्देश्य (Objectives)

1.2. परिचय (Introduction)

1.3. राजनीतिशास्त्र का स्वरूप, परिभाषा तथा क्षेत्र (Nature, Definition and Scope of Political Science)

1.4. परंपरागत राजनीतिशास्त्र की परिभाषाएँ (Definition of Traditional Political Science)

1.5. नामकरण का भेद (Terminolodical Distinction)

1.6. परंपरागत राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र (Scope of Traditional Political Science)

1.7. आधुनिक राजनीति विज्ञान एवं उसके क्षेत्र (Modern Political Science and its Scope)

1.8. राजनीतिशास्त्र के अन्य सामाजिकशास्त्रों से संबंध (Relationship Between Political Science and other Socal Sciences)

1.9. सारांश (Summary)

1.10. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

इकाई–2 (Unit–2)

(30-47)

2. लोकतंत्र (Democracy) **30-47**

2.1. उद्देश्य (Objectives)

2.2. परिचय (Introduction)

2.3. अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions)

2.4. लोकतंत्र के भेद (Types of Democracy)

2.5. लोकतंत्र के गुण (Merits of Democracy)

2.6. भारत में लोकतंत्र की संभावनाएँ (Possibilities of Democracy in India)

2.7. सारांश (Summary)

2.8. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

इकाई–3 (Unit–3)

(48-146)

3. राज्य तथा अन्य मानव संगठन (State and Other Human Organisation) **48-57**

3.1. उद्देश्य (Objectives)

3.2. परिचय (Introduction)

3.3. राज्य की परिभाषा (Definition of State)
3.4. राज्य के तत्व (Elements of State)
3.5. राज्य एवं समाज (State and Society)
3.6. राज्य और शासन (State and Government)
3.7. राज्य और राष्ट्र (State and Nation)
3.8. सारांश (Summary)
3.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

4. राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत (Theory of Origin of State) **58-72**
4.1. उद्देश्य (Objectives)
4.2. परिचय (Introduction)
4.3. राज्य की उत्पत्ति (Origin of State)
4.4. राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत (The Divine Origin Theory)
4.5. सामाजिक समझौता का सिद्धांत (The Social Contract Theory)
4.6. राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धांत (The Force Theory)
4.7. पितृसत्तात्मक सिद्धांत (The Patriarchal Theory)
4.8. मातृसत्तात्मक सिद्धांत (The Matriarchal Theory)
4.9. ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धांत (The Historical or Evolutionary Theory)
4.10. राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धांत (Mark's Theory of Origin of State)
4.11. सारांश (Summary)
4.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

5. राज्य के कार्य एवं सिद्धांत (Functions and Theory of State) **73-83**
5.1. उद्देश्य (Objectives)
5.2. परिचय (Introduction)
5.3. राज्य के आवश्यक कार्य (Important Work of State)
5.4. राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमाएँ (Limitation of Field of State)
5.5. उदारवादी सिद्धांत (Liberalist Principle)
5.6. समाजवादी सिद्धांत (Socialist Principle)
5.7. लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का उद्‌भव तथा विकास
(Origin and Development Concept of Public Welfare State)
5.8. सारांश (Summary)
5.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

6. प्रभुसत्ता (Sovereignty) **84-92**
6.1. उद्देश्य (Objectives)
6.2. परिचय (Introduction)
6.3. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)
6.4. प्रभुसत्ता के सिद्धांत का इतिहास (History of the Theory of Sovereignty)
6.5. प्रभुसत्ता की विशेषताएँ (Characteristics of Sovereignty)
6.6. प्रभुसत्ता के विभिन्न रूप (Various Aspects of Sovereignty)

6.7. प्रभुसत्ता और अंतर्राष्ट्रीय संगठन (Sovereignty and International Order)
6.8. भारतीय संविधान में प्रभुसत्ता की अवधारणा (Concept of Sovereignty in Indian Constitution)
6.9. प्रभुसत्ता और बहुवाद (Sovereignty and Pluralism)
6.10. सारांश (Summary)
6.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

7. अधिकार (Right) **93-108**

7.1. उद्देश्य (Objectives)
7.2. परिचय (Introduction)
7.3. अधिकारों की विशेषताएँ (Meaning and Definition of Rights)
7.4. अधिकार और राज्य (Rights and State)
7.5. अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Right)
7.6. नागरिकों के कुछ विशिष्ट अधिकार (Some Particular Right of Citizens)
7.7. अधिकारों और कर्त्तव्यों का संबंध (Relation between Right and Duties)
7.8. नागरिक के कर्त्तव्य (Duties of a Citizen)
7.9. भारतीय संविधान में मूल अधिकारों और कर्त्तव्यों की अवधारणाएँ
(The Concepts of Fundamental Rights and Duties in Indian Constitution)
7.10. सारांश (Summary)
7.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

8. स्वतंत्रता (Liberty) **109-120**

8.1. उद्देश्य (Objectives)
8.2. परिचय (Introduction)
8.3. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)
8.4. स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता (Liberty and Sovereignty)
8.5. स्वतंत्रता के भेद (Kinds of Liberty)
8.6. स्वतंत्रता और कानून (Liberty and Law)
8.7. भारतीय संविधान में स्वतंत्रता की अवधारणा (The Concept of Liberty in Indian Constitution)
8.8. सारांश (Summary)
8.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

9. न्याय (Justice) **121-129**

9.1. उद्देश्य (Objectives)
9.2. परिचय (Introduction)
9.3. न्याय का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Justice)
9.4. न्याय की संकल्पना का विकास (Concepts to Development of Justice)
9.5. न्याय के सार्वलौकिक तत्व (Universal Postulates of Justice)
9.6. न्याय की उदारवादी तथा मार्क्सवादी धारणाएँ (Liberal and Marxist Theories of Justice)
9.7. न्याय के विविध रूप (Various Forms of Justice)
9.8. न्याय तथा स्वतंत्रता में संबंध (Relationship between Justice and Liberty)
9.9. भारतीय संविधान में न्याय की व्यवस्था (Management of Justice in Indian Constitution)

9.10. सारांश (Summary)
9.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

10. समानता (Equality) 130-136

10.1. उद्देश्य (Objectives)
10.2. परिचय (Introduction)
10.3. समानता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Equality)
10.4. समानता की आवश्यक शर्तें (Important Factors of Equality)
10.5. समानता के रूप (Forms of Equality)
10.6. समानता और स्वतंत्रता का संबंध (Relationship between Equality and Liberty)
10.7. भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा (Concepts of Equality in Indian Constitution)
10.8. सारांश (Summary)
10.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

11. सरकार के अंग और उनके कार्य (Organs of Government and Their Functions) 137-146

11.1. उद्देश्य (Objectives)
11.2. परिचय (Introduction)
11.3. सरकार के अंग तथा उनके कार्य (Organs of Government and Their Functions)
11.4. व्यवस्थापिका (Legislature)
11.5. व्यवस्थापिका संगठन (Composition of Legislature)
11.6. व्यवस्थापिका के कार्य (Functions of Legislature)
11.7. कार्यपालिका (Executive)
11.8. कार्यपालिका के कार्य (Functions of Executive)
11.9. न्यायपालिका (Judiciary)
11.10. न्यायपालिका का संगठन (Organisation of Judiciary)
11.11. न्यायपालिका के कार्य (Functions of Judiciary)
11.12. सारांश (Summary)
11.13. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

इकाई–4 (Unit–4)

(147-206)

12. राजनीतिक दल (Political Parties) 147-157

12.1. उद्देश्य (Objectives)
12.2. परिचय (Introduction)
12.3. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)
12.4. द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति (Double Party and Many Party System)
12.5. एकदलीय पद्धति (Single Party System)
12.6. दलपद्धति के गुण-दोष (Merits and Demerits of Party-system)

12.7. भारत के राजनीतिक दल (Indian Political Parties)
12.8. सारांश (Summary)
12.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

13. दबाव समूह (Pressure Groups) **158-166**

13.1. उद्देश्य (Objectives)
13.2. परिचय (Introduction)
13.3. दबाव समूह की परिभाषा (Definition of Pressure Group)
13.4. दबाव समूह के उद्देश्य के कारण (Cause of Rising Pressure Group)
13.5. दबाव समूह की विशेषताएँ (Characteristics of Pressure Group)
13.6. दबाव समूह के प्रकार (Types of Pressure Group)
13.7. दबाव समूह के कार्य (Works of Pressure Group)
13.8. दबाव समूह के गुण (Merits of Pressure Group)
13.9. दबाव समूह के दोष (Demerits of Pressure Group)
13.10. प्रतिनिधित्व समूह के सिद्धांत (Principle of Representation Groups)
13.11. सारांश (Summary)
13.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

14. जनमत (Public Opinion) **167-176**

14.1. उद्देश्य (Objectives)
14.2. परिचय (Introduction)
14.3. लोकमत का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Public Opinion)
14.4. लोकमत की विशेषताएँ (Characteristics of Public Opinion)
14.5. लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति (Formation and Expression of Public Opinion)
14.6. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की बाधाएँ (Hindrances to Formation of Healthy Public Opinion)
14.7. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियाँ
(Necessary Conditon for the Formation of Healthy Public Opinion)
14.8. लोकमत का मापन (Measurement of Public Opinion)
14.9. सारांश (Summary)
14.10. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

15. प्रतिनिधिक लोकतंत्र : भारत में चुनाव तथा प्रतिनिधित्व (English) **177-196**

15.1. उद्देश्य (Objectives)
15.2. परिचय (Introduction)
15.3. मताधिकार के अधिकार (Franchise of Right)
15.4. निर्वाचन प्रणालियाँ (Method's of Election)
15.5. मतदान की प्रणालियाँ (Voting System)
15.6. निर्वाचन-क्षेत्र एवं पद्धतियाँ (System of Constituency)
15.7. व्यस्क मताधिकार (Adult Franchise)
15.8. अल्प-संख्यकों की प्रतिनिधित्व प्रणालियाँ (Representation to the Minorities)
15.9. भारत में चुनाव प्रणाली और सुधार (In India Election Commission and Improvement)

15.10. भारतीय चुनाव सुधार (Indian Election Reform)
15.11. सारांश (Summary)
15.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

16. धर्मनिरपेक्षता (Seculralism) **197-206**

16.1. उद्देश्य (Objectives)
16.2. परिचय (Introduction)
16.3. धर्मनिरपेक्षता (Seculralism)
16.4. धर्मनिरपेक्षता के तत्त्व (Element of Secularization)
16.5. धर्मनिरपेक्षता के कारक (Factors of Secularization)
16.6. सारांश (Summary)
16.7. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

नोट

इकाई–1

अध्याय-1

राजनीति क्या है
(What is Politics)

1.1. उद्देश्य (Objectives)
1.2. परिचय (Introduction)
1.3. राजनीतिशास्त्र का स्वरूप, परिभाषा तथा क्षेत्र
(Nature, Definition and Scope of Political Science)
1.4. परंपरागत राजनीतिशास्त्र की अवधारणाएँ (Definition of Traditional Political Science)
1.5. नामकरण का भेद (Terminological Distinction)
1.6. परंपरागत राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र (Scope of Traditional Political Science)
1.7. आधुनिक राजनीतिशास्त्र विज्ञान एवं उसके क्षेत्र (Modern Political Science and its Scope)
1.8. राजनीतिशास्त्र के अन्य सामाजिकशास्त्रों से संबंध
(Relationship Between Political Science and other Social Sciences)
1.9. सारांश (Summary)
1.10. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1.1. उद्देश्य (Objectives)

इ

- ल
- ल
- ल
- ल

1.2. परिचय (Introduction)

''राजनीति विज्ञान के संपूर्ण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव विषयक मौलिक मान्यताओं द्वारा ही होता है।''

–हरमन लैंडर

राजनीति क्या है–विश्व राजनीति के परिवेश में यह कहा जाता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। राजनीति अंग्रेजी शब्द **'पोलिटिक्स'** (Politics) का हिंदी रूपांतर है। पोलिटिक्स शब्द यूनानी भाषा के पॉलिस (Polis) शब्द से निकला है। प्राचीन यूनान में पॉलिस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता था–(*i*) नगर-राज्य

नोट

(City-State) तथा (*ii*) छोटा समुदाय (Small Community)। यह समुदाय राजनीतिक दृष्टि से सर्वोच्च तथा सम्मिलित संघ था। जिसका उद्देश्य एक आत्मनिर्भर तथा सुसंगठित समुदाय में अच्छे जीवन की प्राप्ति था। अरस्तु ने अपनी पुस्तक **'पोलिटिक्स'** (Politics) में 'राजनीति' के अंतर्गत राज्य, परिवार, समाज, दास-प्रथा इत्यादि का भी वर्णन किया है। इस प्रकार अरस्तु का दृष्टिकोण समग्रवादी था और उसने मनुष्य के सामुदायिक जीवन के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन राजनीति का विषय माना। उसके अनुसार राजनीति एक ऐसा विषय था जो नगर समुदाय के हर पहलू से संबंधित था। इसी अर्थ में उसने राजनीति को **सर्वोच्च विज्ञान** (Master Science) कहा था। मनुष्य चाहे राजनीतिक कार्यों में भाग ले अथवा तटस्थ रहे वह राजनीति के प्रभाव से वंचित नहीं रह सकता। इसलिए यूनानी विचारकों ने मनुष्य को राजनीतिक प्राणी के रूप में देखा है। अत: **अरस्तु** के अनुसार *'राजनीति' मानव के संपूर्ण अस्तित्व को समेट लेती है।* **मार्शल वर्मन** का भी मत है *''आप कोई भी हों अथवा कुछ भी बनना चाहते हों, आपकी राजनीति में रुचि भले ही नहीं हो, राजनीति आप में रुचि अवश्य ही रखती है।''*

मनुष्य प्रारंभ से ही राजनीति में अपनी रुचि रखता आया है। प्राचीन यूनान तथा रोम में नागरिक युद्ध के अलावा सबसे ज्यादा रुचि राजनीति में ही रखते थे। चूँकि युद्ध भी राजनीति का ही एक अंग है, इसलिए यह मानना पड़ेगा कि राजनीति मानव के जीवन पर हमेशा छाई हुई रहती है। दूसरों के साथ प्रतिस्पर्द्धा की स्थिति में, *समाज के दुर्लभ संसाधनों पर अपना प्रभुत्व और नियंत्रण स्थापित करने के प्रयास को राजनीति की संज्ञा दी जाती है।* इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विशिष्ट युक्ति और कौशल की आवश्यकता होती है। जब हम जन समर्थन की बात करते हैं तो उसका स्पष्ट अर्थ यही है कि साधारण से साधारण आदमी भी राजनीति से अछूता नहीं रह सकता। यह दूसरी बात है कि सक्रिय राजनीति में कम लोग रहते हैं जबकि निष्क्रिय भागीदार के रूप में हम सभी राजनीति से प्रेरित तथा प्रभावित हैं। मँहगाई, बेरोजगारी, भूख, गरीबी और भ्रष्टाचार आदि समस्याएँ हमारे सामने राजनीतिक प्रश्न ला खड़ा करती हैं। इस प्रकार राजनीति का क्षेत्र दिन प्रतिदिन बढ़ता चला जा रहा है।

जोसेफ रोसेक का मत है कि *''मानव मस्तिष्क में राजनीति आज इतना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है कि इसको जाने बिना हम मनुष्य के जीवन के किसी भी पहलू को पूरी तरह से नहीं समझ सकते हैं।''*

राजनीति के अर्थ के संबंध में जो अस्पष्टता देखी जाती है उसके पीछे अनेक कारण हैं। सर्वप्रथम राजनीति को व्यक्ति की निजी वैचारिक प्रतिबद्धता एवं सामाजिक आर्थिक स्थिति में अलग करके नहीं देखा जाता। चूँकि राजनीति हर आदमी के दैनिक जीवन पर किसी न किसी तरह का प्रभाव रखती है, इसलिए कोई भी आदमी राजनीतिक मामलों के प्रति निष्पक्ष दृष्टिकोण नहीं रख सकता।

जे.एच. ब्राइस के अनुसार, *''दुर्भाग्यवश राजनीति एक ऐसा विषय है जिस पर हर व्यक्ति अपने को विशेषज्ञ मानता है, भले ही उसने इसका क्रमबद्ध अध्ययन किया हो या नहीं।''*

हेकर ने लिखा है *''राजनीतिक सिद्धांत राजनीतिक चेतना की अपेक्षा करते हैं। वे उन लोगों के लिए नहीं हैं जो विश्व के बारे में गंभीरता से सोचने में असमर्थ हैं जिसमें वे रहते हैं।''* अत: राजनीति समझदार प्राणियों के आपसी संबंध तथा समय के बदलते परिवेश से संबद्ध होती है।

इसलिए उसकी प्रकृति और उसके विषय को एक निश्चित परिभाषा के बंधन में बाँधना उचित नहीं होगा। समय और परिस्थिति के बदलते परिवेश में राजनीति की परिभाषा भी बदलती रहती है। राजनीति के खिलाड़ी का असली उद्देश्य नैतिक दृष्टि से चाहे कितना ही घिनौना क्यों न हो, वह उसे ऐसे ढंग से प्रस्तुत करेगा जैसे वही नैतिक आदर्शों का मुख्यत: संरक्षक हो। यहाँ तक कि युद्ध की घोषणा करते समय भी प्रत्येक राष्ट्र दुनिया को यह दिखाने की कोशिश करता है कि उसे किसी उच्च नैतिक आदर्श की रक्षा के लिए यह कठोर कदम उठाना पड़ा है।

1.3. राजनीतिशास्त्र का स्वरूप, परिभाषा तथा क्षेत्र (Nature, Definition and Scope of Political Science)

''राजनीति विज्ञान के संपूर्ण स्वरूप का निर्धारण उसकी मानव विषयक मौलिक मान्यताओं द्वारा ही होता है।'' –**हरमन हैलर**

''राजनीति विज्ञान के अध्ययन का संबंध संगठित राज्यों से संबंधित मनुष्य के जीवन से है।'' –**लास्की**

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के रंगमंच पर राजनीति राजनीतिशास्त्र की आवश्यक विषय-वस्तु है। उसे समझने का प्रयास प्राय: सदियों से किया जा रहा है, किंतु आज तक किसी एक मत पर पहुँच पाना संभव नहीं हो पाया है। प्लेटो से लेकर आज तक के विद्वानों के अथक् प्रयास के बाद भी राजनीति क्या है? यह प्रश्न विवाद का विषय

बना हुआ है। राजनीति आज मानव जीवन का अभिन्न अंग बन गई है। आज जीवन का कोई भी ऐसा क्षेत्र नहीं है जो राजनीति के प्रभाव से वंचित हो। गाँव से लेकर राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान राजनीति के माध्यम से ही किया जा रहा है, जिसके चलते राजनीति और उससे संबंधित विषय-वस्तु का सही विश्लेषण करने में कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। यूनानी विचारकों ने मनुष्य को सामाजिक प्राणी माना है। समाज का प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष ढंग से राजनीति की विषय-वस्तु है। **अरस्तु** ने स्पष्ट कहा था, *''राजनीति वैधानिक तौर पर यह दर्शाती है कि हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं?''* यूनानी विचारकों ने राज्य और समाज कैसा है के स्थान पर कैसा होना चाहिए पर विशेष बल दिया है। इस प्रकार, राजनीति को आदर्शवादी नैतिकता का आयाम देकर आगे बढ़ाने का प्रयास किया है।

नोट

मनुष्य स्वभावत: और आवश्यकतावश एक सामाजिक प्राणी है। प्रसिद्ध विद्वान **अरस्तु** ने कहा है कि *''मनुष्य स्वभाव से ही सामाजिक प्राणी है।''* वह आगे कहता है कि *''वह व्यक्ति जो समाज में नहीं रहता, अथवा जिसकी अपनी कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि यह अपने में पूर्ण है, अवश्य ही या तो पशु है अथवा परमात्मा।''* इसका यह अर्थ हुआ कि मानव एक सामाजिक प्राणी है, वह समाज में जन्म लेता है और समाज में रहता है। मनुष्य न केवल स्वभाव से ही समाज में रहना चाहता है, बल्कि वह समाज में इसलिए भी रहने पर मजबूर है कि इसके बिना उसकी आवश्यकताएँ ही पूरी नहीं हो सकतीं। मनुष्य अकेला ही अपने लिए भोजन, मकान, कपड़े तथा आवश्यकता की अन्य असंख्य वस्तुएँ तैयार नहीं कर सकता। ऐसा वह केवल अन्य व्यक्तियों की सहायता से ही कर सकता है। आवश्यकता की सब वस्तुएँ संगठित समाज में ही तैयार हो सकती हैं, क्योंकि जिस समाज में संगठन नहीं है तथा अशांति है, वहाँ मनुष्य सुरक्षित जीवन नहीं बिता सकता। इस प्रकार के संगठित समाज को राज्य (State) कहते हैं। लेकिन समाज में मनुष्य सहयोग पूर्वक तभी रह सकता है जब उसके व्यवहार कतिपय सामाजिक आचरणों के अनुसार हों। इन सामाजिक आचरणों को निश्चित तथा स्पष्ट रूप देने के लिए नियमों की आवश्यकता है। पुन: इन नियमों के निर्माण तथा उन्हें पालन कराने के लिए एक संगठित सत्ता की आवश्यकता है। इस प्रकार की संगठित सत्ता को 'सरकार' (Government) तथा उसके नियमों को विधि (Law) कहते हैं। वह शास्त्र जो राज्य और सरकार का विवेचन करता है 'राजनीतिशास्त्र या राजनीति विज्ञान' (Political Science) कहलाता है।

परिभाषा

प्राचीन रोम के एक विचारक ने कहा था कि समस्त परिभाषाएँ खतरनाक होती हैं, क्योंकि उनसे कोई विशेष प्रयोजन नहीं निकलता और प्राय: सदा ही वास्तविकता उनके प्रतिकूल होती है। लेकिन आज के वैज्ञानिक युग में यह परंपरा पूर्णरूप से कायम हो चुकी है कि किसी शास्त्र का अध्ययन उसकी परिभाषा से ही प्रारंभ किया जाए। **सिजविक** ने इस आवश्यकता पर जोर देते हुए कहा है कि *''वैज्ञानिक अनुसंधान के सभी क्षेत्रों में मुख्य शब्दों की शुद्ध, सुस्पष्ट एवं सुनिश्चित परिभाषा प्राप्त कर लेना एक महत्त्वपूर्ण कार्य बन गया है।''* इसलिए जब तक किसी विषय या शास्त्र की शुद्ध और सुनिश्चित परिभाषा नहीं प्राप्त कर ली जाती तब तक उस विषय का अध्ययन आरंभ नहीं होता और न उस विषय की समस्याओं की पूरी जानकारी ही हो पाती है। लेकिन कठिनाई इस बात की है कि परिभाषाओं के इस संबंध में विद्वानों में घोर मतभेद है और उनके द्वारा इसकी विभिन्न परिभाषाएँ दी गई हैं। **गार्नर** ने कहा भी है कि *राजनीतिशास्त्र की उतनी ही परिभाषाएँ हैं जितने राजनीतिशास्त्र के लेखक।* इसलिए हमें विभिन्न परिभाषाओं पर विचार करना होगा।

शब्द-व्युत्पत्ति के दृष्टि से–राजनीतिशास्त्र को अंग्रेजी भाषा में पॉलिटिक्स (Politics) कहते हैं। 'पॉलिटिक्स' यूनानी भाषा के 'पोलिस' (Polis) शब्द से निकला है। यूनानी भाषा में 'पोलिस' शब्द का अर्थ नगर-राज्य (City-State) होता है। पहले यूनान छोटे-छोटे नगर-राज्यों से बना था। इन्हीं नगर-राज्यों का अध्ययन करने वाले शास्त्र को 'पॉलिटिक्स' कहते थे। नगर-राज्यों का आधुनिक नाम 'राज्य' (State) है। इस प्रकार शब्द-व्युत्पत्ति की दृष्टि से राजनीतिशास्त्र वह शास्त्र है जो नगर या राज्य से संबंधित विषयों का अध्ययन करता हो। संक्षेप में, राजनीतिशास्त्र राज्य-विषयक शास्त्र है। प्लेटो और अरस्तु की पुस्तकों के अध्ययन से भी यही ज्ञात होता है कि राजनीतिशास्त्र राज्य-विषयक संपूर्ण बातों का अध्ययन करता है।

भारतीय दृष्टिकोण से–प्राचीन भारत में विद्याओं के वर्गीकरण के आधार पर भी राजनीतिशास्त्र की समुचित व्याख्या की जा सकती है। भारतीय आचार्यों ने विद्याओं को चार भागों में विभक्त किया था। आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्त्ता तथा दंडनीति राजनीति से राजनीति का बोध होता था। प्राचीन काल में दंड का अर्थ सजा से नहीं था। उसका अभिप्राय समाज में व्यवस्था और शांति से था। सुव्यवस्थित जन समाज को ही राज्य कहते थे। जो विद्या इस राज्य के शासन या दंड का प्रतिपादन करती थी वही दंडनीति या राजनीतिशास्त्र कहलाती थी।

मौर्यकालीन भारतीय राजनीतिक विचारक कौटिल्य की राजनीतिक-सिद्धांत के क्षेत्र में एक अनुपम देन है। उसकी पुस्तक 'अर्थशास्त्र' में राजनीतिशास्त्र के विविध सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया था। इस पुस्तक में उसने यह भी बतलाया कि राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत एक सुव्यवस्थित समाज और राज्य का अध्ययन किया जाता है।

नोट

1.4. परंपरागत राजनीतिशास्त्र की परिभाषाएँ (Definition of Traditional Political Science)

आधुनिक युग में राजनीतिशास्त्र के स्वरूप तथा विस्तार के संबंध में बड़े-बड़े परिवर्तन हुए हैं। इन परिवर्तनों के संदर्भ में इसकी नई परिभाषा की आवश्यकता है। आधुनिक युग में राजनीतिशास्त्र की परिभाषा और विषय-वस्तु क्या है, इसके संबंध में तीन विचारधाराएँ हैं, जिनकी चर्चा हम नीचे करेंगे।

राजनीतिशास्त्र केवल राज्य के अध्ययन के रूप में

इस श्रेणी में वे विचारक आते हैं जो राजनीतिशास्त्र को केवल राज्य का अध्ययन मानते हैं तथा सरकार के विस्तृत अध्ययन को राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में सम्मिलित नहीं करते। इस वर्ग में बहुत-से विचारक हैं, जिनमें **ब्लुंशली** (Bluntschli), **गार्नर** (Garner) और **गेरीस** (Garies) मुख्य हैं। इन तीनों विचारकों ने राजनीतिशास्त्र को केवल राज्य की व्याख्या और अध्ययन करने वाला शास्त्र माना है।

ब्लुंशली का कहना है–*''राज्य विज्ञान वह विज्ञान है जिसका राज्य से संबंध है, जो राज्य की आधारभूत स्थितियों, उसकी प्रकृति तथा विविध स्वरूपों एवं विकास को समझने का प्रयत्न करता है।''* **गेरीस** नामक एक जर्मन लेखक के अनुसार *''राज्य विज्ञान राज्य को एक सत्ता-संस्था (Institution of Power) के रूप में मानता है, वह राज्य के संबंधों, उसकी भूमि एवं प्रजा, उसके ध्येय, उसके नैतिक महत्त्व, उसके जीवन की अवस्थाओं तथा आर्थिक एवं राजस्व-संबंधी समस्याओं और उसके साध्य आदि का विवेचन करता है।''* **गार्नर** ने तो यहाँ तक कहा है कि *''राजनीतिशास्त्र का आरंभ एवं अंत राज्य के साथ ही होता है। इसकी मौलिक समस्याओं में साधारणत: प्रथम, राज्य की उत्पत्ति और उसकी प्रकृति का अनुसंधान; द्वितीय, राजनीतिक संस्थाओं की प्रवृत्ति, उनके इतिहास तथा उनके स्वरूपों का अध्ययन तथा तृतीय, जहाँ तक संभव हो इनके आधार पर राजनीतिक प्रगति और विकास के नियमों का निर्धारण करना सम्मिलित है।''* इन परिभाषाओं में केवल 'राज्य' शब्द पर ही जोर दिया गया है और राजनीतिशास्त्र को केवल राज्य का अध्ययन करने वाला शास्त्र मान लिया गया है। 'सरकार' की ओर थोड़ा भी संकेत नहीं है।

इसलिए यह विचारधारा न्याय-संगत नहीं, क्योंकि सरकार राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग है। वही राज्य के कार्य-कलापों को कार्यान्वित करती है। यह वह यंत्र है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा का संपादन होता है। यह राज्य का मूर्त्त रूप है और उपर्युक्त परिभाषाएँ इसी महत्त्वपूर्ण अंग को बहिष्कृत कर देती हैं। अत: ये अपूर्ण और एकांगी कही जा सकती हैं।

केवल सरकार के अध्ययन के रूप में

दूसरे वर्ग के विचारक राजनीतिशास्त्र को केवल सरकार के अध्ययन तक सीमित मानते हैं, राज्य की ओर थोड़ा भी संकेत नहीं करते हैं। इस वर्ग के कुछ प्रमुख विद्वानों के निम्नलिखित विचार हैं–

सीले–*''राज्य-विज्ञान शासन संबंधी बातों पर ठीक उसी प्रकार विचार करता है जिस प्रकार राजनीति अर्थशास्त्र संपत्ति, जीव-विज्ञान, बीजगणित अंकों तथा रेखागणित स्थान एवं परिणाम के संबंध में विचार करते हैं।''*

लीकॉक–*''राजनीतिशास्त्र सरकार से संबंधित विद्या है।''*

राजनीतिशास्त्र की ये परिभाषाएँ भी अपूर्ण तथा एकांगी हैं। इन परिभाषाओं में सरकार को राज्य से पृथक् अस्तित्व प्रदान किया गया है, लेकिन वास्तविकता यह है कि सरकार राज्य का एक तत्त्व मात्र है। राज्य के बिना सरकार की कल्पना ही नहीं की जा सकती। सरकार राज्य को सिर्फ मूर्त्तरूप प्रदान करती है। अत: राजनीतिशास्त्र को केवल सरकार का अध्ययन मानना एकदम असंगत तथा निरर्थक है।

दोनों के अध्ययन के रूप में

नोट

विचारकों का तीसरा वर्ग इन दोनों तत्त्वों को ध्यान में रखकर राजनीतिशास्त्र की परिभाषा करता है। यह वर्ग राजनीतिशास्त्र को राज्य तथा सरकार दोनों का अध्ययन मानता है। फ्रांसीसी विद्वान **पॉल जेनेट** (Paul Janet) ने इस मत का प्रतिपादन करते हुए लिखा है–''राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र का वह भाग है जिसमें राज्य के आधार तथा सरकार के सिद्धांतों का विचार किया जाता है।''

गेटेल ने राजनीतिशास्त्र की परिभाषा को बहुत विस्तृत रूप में प्रस्तुत किया है। राजनीतिशास्त्र मानव का एक राजनीतिक प्राणी के रूप में अध्ययन करता है। इसमें ऐसी मानव-जाति का जो राजनीतिक इकाई के रूप में है, अध्ययन किया जाता है। इसमें उन समुदायों, सरकारी संगठनों तथा इन सरकारों के नियम-निर्माण, कानूनी व्यवस्थाओं और अंतर्राजकीय (Inter State) कार्यों का विवरण रहता है। इसमें मानव-जाति के आपसी संबंध जो राज्य-निर्देश के अंदर आते हैं तथा व्यक्ति या समूह का संबंध स्वयं राज्य से और एक राज्य का अन्य राज्यों से संबंध के बारे में पूरी चर्चा रहती है। यह राजनीतिक सत्ता (Political authority) तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता की संतुलन-समस्या पर विचार करता है। इस शास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय राज्य (State), सरकार (Government) तथा कानून (Law) है। राजनीतिशास्त्र का विषय केवल राजनीतिक संस्थाएँ (Political institutions) ही नहीं, वरन् राजनीतिक विचार (Political ideas) भी है। इसके अंतर्गत राजनीतिक दार्शनिकों (Political philosophers) के द्वारा निर्मित सभी राज्य-संबंधी सिद्धांत आ जाते हैं, जो स्वयं जनसाधारण के राजनीतिक विचार बन गए हैं। राज्य के विकास में, राजनीतिक सिद्धांतों एवं आदर्शों का बड़ा ही प्रभावशाली हाथ रहा है, विशेषकर उस समय से जबकि मनुष्य ने राज्य का उत्थान, जो पहले अधिकांशत: अनजाने ही हो रहा था, समझ-बूझकर अच्छी तरह एक नियम के अनुसार करना शुरू किया। आज की दुनिया में राजनीतिक सिद्धांतों (Political Principles) का विशेष महत्त्व है। आज अमेरिका (U.S.A.), इंग्लैंड और फ्रांस आदि प्रजातांत्रिक परंपरा वाले देशों तथा रूस और चीन आदि साम्यवादी परंपरा वाले देशों तथा अन्य कई देशों के बीच तीव्र विचार संघर्ष है। राज्य–राज्य में और राज्य के भीतर विभिन्न राजनीतिक दलों में, राज्य और उसकी आर्थिक पद्धति के संबंध में भी गहरा सैद्धांतिक मतभेद है। राजनीतिकशास्त्र इन सभी बातों का अध्ययन करता है।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राजनीतिशास्त्र, राज्य की उत्पत्ति, राजनीतिक संस्थाओं के उत्थान एवं भूतकालीन राजनीतिक सिद्धांतों का विवेचन करता है और विकास तथा परिवर्तन के नियमों की प्रवृत्तियों तथा उनकी गतिशीलता का अर्थ स्पष्ट करता है। वर्तमान अवस्था का विवरण करने में *यह प्रस्तुत राजनीतिक संस्थाओं एवं विचारों का वर्णन,* तुलना और वर्गीकरण करने की कोशिश करता है। राजनीतिशास्त्र भविष्य की ओर भी संकेत करता है। राजनीतिक संगठन (Political organisations) एवं इनके कार्यों के परिवर्तित माप-दंड (Ethical standard) और अवस्थाओं के अनुसार समुन्नत बनाने के उद्देश्य से, राज्य की भावी रूप-रेखा की ओर भी संकेत करता है। **गेटेल** के अनुसार, *''यह भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों ही में राज्य, इसके राजनीतिक संगठन तथा राजनीतिक कार्य एवं इसकी राजनीतिक संस्थाओं और सिद्धांतों का अध्ययन करता है।''*

इस प्रकार राजनीतिशास्त्र राज्य के अतीतकालीन, आधुनिक तथा भावी स्वरूप, राजनीतिक संगठन तथा राजनीतिक कार्यक्रम, राजनीतिक संस्थाओं तथा राजनीतिक विचार-धाराओं का अध्ययन है। यह मनुष्य का राजनीतिक प्राणी के रूप में एक वृहत् अध्ययन है। इसका मुख्य विषय राज्य और सरकार है। यह राज्य के स्वरूप तथा इसकी वृद्धि एवं विकास संबंधी नियमों की स्थापना करता है और द्रुत वेग से परिवर्तित होती हुई दुनिया में, राजनीतिक संस्थाओं एवं राजनीतिक कार्यों में आवश्यक सुधार की सिफारिश करता है। अत: ठीक ही कहा जाता है, *''राजनीतिशास्त्र के विषय की व्यापकता उतनी ही है जितनी कि समय और दूरी की।''*

1.5. नामकरण का भेद (Terminolodical Distinction)

राज्य संबंधी ज्ञान को कौन-सा निश्चित नाम दिया जाए, इसके बारे में बड़ा मतभेद है। कोई इसे राजनीतिशास्त्र या राजनीति विज्ञान (Political science) के नाम से पुकारता है, तो दूसरे बहुत-से लोग कभी-कभी राजनीति-दर्शन (Political philosophy) भी नाम देते हैं। कुछ विद्वान इसे केवल राजनीति (Politics) ही कहना पसंद करते हैं। कहने का अर्थ यह है कि किसी भी एक निश्चित नाम के संबंध में एक निश्चित विचार नहीं है।

राजनीति (Politics)–प्राचीन काल में 'राजनीति' शब्द का ही प्रयोग होता था। इस नाम की उत्पत्ति अरस्तु की पुस्तक 'पॉलिटिक्स' से हुई। 'राजनीति' शब्द की उत्पत्ति यूनानी भाषा के शब्द पोलिस (Polis) से हुई।

नोट

'पोलिस' शब्द का अर्थ है 'नगर-राज्य' (City-state)। यूनान में 'राजनीति' शब्द के अंतर्गत 'नगर-राज्य' से संबंधित सारी बातें आती थीं। राजनीति के अंतर्गत राज्य, सरकार तथा अन्य राजनीतिक संगठनों तथा उनकी समस्याओं के बारे में अध्ययन किया जाता था। अरस्तु की पुस्तक 'पॉलिटिक्स' यूनान के नगर-राज्य के राजनीतिक जीवन का संपूर्ण चित्र प्रस्तुत करती है। उस पुस्तक के अंतर्गत सभी तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

आधुनिक युग में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है। आज राजनीति का अर्थ 'व्यावहारिक राजनीति' (Practical politics) के रूप में लिया जाता है।

राजनीतिक दल, राजनीतिक समूह, निर्वाचन, सरकार के कार्यों की समीक्षा तथा अन्य राजनीतिक आचरण राजनीति के विषय हैं। राज्य और सरकार से संबंधित विभिन्न प्रकार की राजनीतिक समस्याएँ आज की राजनीति के मुख्य विषय हैं। दूसरे शब्दों में, आधुनिक युग में राज्य और सरकार के व्यावहारिक पक्ष तथा क्रियात्मक रूप को ही 'राजनीति' कहा जाता है। धीरे-धीरे 'राजनीति' का क्षेत्र बढ़ता जा रहा है। आज सभी सामयिक समस्याएँ 'राजनीति' का विषय बन गई हैं। फलतः आज की 'राजनीति' न केवल राज्य और सरकार से संबंधित समस्याओं का क्रियात्मक रूप है, बल्कि आज 'राजनीति' के अंतर्गत आर्थिक तथा सामाजिक आचरणों का भी अध्ययन किया जाता है।

सर फ्रेडरिक पोलक (Sir Fredrick Pollock) ने 'राजनीति' शब्द की पूर्ण व्याख्या की है। उसने राजनीति को दो वर्गों में विभक्त किया है–सैद्धांतिक राजनीति (Theoretical politics) और व्यावहारिक राजनीति (Applied politics)। सैद्धांतिक राजनीति के अंतर्गत राज्य, सरकार तथा विधान से संबंधित मूलभूत सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है। राज्य की उत्पत्ति एवं विकास, राज्य की प्रकृति और लक्षण, राज्य के उद्देश्य, सरकार के विभिन्न अंग, सरकार के प्रकार, सरकार के उद्देश्य, व्यक्ति और राज्य के संबंध, विभिन्न राज्यों के पारस्परिक संबंध इत्यादि सैद्धांतिक राजनीति के विषय हैं। व्यावहारिक राजनीति के अंतर्गत राज्य के कार्य, कानून का स्वरूप, व्यक्ति और राज्य के पारस्परिक संबंध, सरकार की समस्याएँ आदि बातें आती हैं। फ्रेडरिक पोलक ने सैद्धांतिक और व्यावहारिक राजनीति के बीच निम्नलिखित अंतर बतलाए हैं–

सैद्धांतिक राजनीति *(Theoretical Politics)*	*व्यावहारिक या प्रयोगात्मक राजनीति* *(Applied Politics)*
1. राज्य के सिद्धांत : (क) राज्य की उत्पत्ति (ख) संविधान-वर्गीकरण (ग) सरकार : विभिन्न प्रकार (घ) संप्रभुता	**1. राज्य :** (क) सरकार का वास्तविक स्वरूप
2. सरकार के सिद्धांत : (क) संस्थाएँ : प्रकार (ख) कार्यपालक विभाग–विभिन्न सिद्धांत (ग) भावात्मक (Positive) विधि-क्षेत्र व सीमा	**2. सरकार :** (क) संवैधानिक कानून (ख) परिपाटियाँ एवं अभिसमय (ग) संसदीय प्रणाली (घ) प्रशासकीय विधान (ङ) सेना, नौसेना, पुलिस (च) मुद्रा, बजट एवं व्यापार
3. विधायन के सिद्धांत : (क) विधायन के उद्देश्य (ख) भावात्मक विधि का सामान्य स्वरूप तथा विभाजन (ग) विधियों की स्वीकृति एवं उसके ढंग (घ) व्यवस्था एवं प्रशासन	**3. कानून तथा कानून निर्माण :** (क) विधायन की प्रक्रिया (ख) न्याय-व्यवस्था (ग) न्यायाधिकरण तथा न्याय संबंधी उदाहरण
4. कृत्रिम व्यक्ति के रूप में राज्य के सिद्धांत : (क) अन्य राज्यों तथा व्यक्ति समूह के साथ संबंध (ख) अंतर्राष्ट्रीय संबंध	**4. व्यक्ति रूप में राज्य :** (क) कूटनीति (ख) शांति एवं युद्ध (ग) संधियाँ, समझौते एवं सम्मेलन

छात्र क्रियाकलाप

1. कृपया प्रश्न लिखिए

2. कृपया प्रश्न लिखिए

नोट

निस्संदेह, यह एक उपयोगी वर्गीकरण है क्योंकि राज्य के सभी विभिन्न पहलुओं का अध्ययन इसके अंतर्गत आ जाता है। किंतु आज अधिकांश लेखक 'सैद्धांतिक राजनीति' एवं 'प्रयोगात्मक अथवा क्रियात्मक राजनीति' शब्दों के प्रयोग की अपेक्षा 'राजनीति विज्ञान' शब्द का प्रयोग अधिक उत्तम समझते हैं, क्योंकि राजनीतिशास्त्र एक व्यापक शब्द है जिसके अंतर्गत सैद्धांतिक तथा प्रयोगात्मक राजनीति दोनों का समावेश हो जाता है। क्रियात्मक प्रयोग तो राजनीतिशास्त्र का केवल एक पक्ष है।

राजनीति-दर्शन (Political Philosophy)

कुछ लेखक हमारे अध्ययन-विषय को राजनीति-दर्शन के नाम से पुकारते हैं और इस शब्द के प्रयोग के समर्थन के बहुत-से कारण बतलाते हैं। कुछ अंग्रेज राजनीति-लेखक यह युक्ति प्रस्तुत करते हैं कि राज्य का अध्ययन अखिल विश्व के अध्ययन का ही एक भाग है और दर्शन मुख्यत: उसी से संबद्ध है। यह विचार इस धारणा पर आधारित है कि दर्शन सब प्रकार के ज्ञान का संयोजक है, अत: राज्य का अध्ययन भी दर्शन का अध्ययन है। इस प्रकार, राजनीतिशास्त्र दर्शनशास्त्र की शाखा है।

कुछ अन्य विद्वान यह प्रतिपादित करते हैं कि राजनीति सिद्धांत राज्य की व्याख्या प्रस्तुत नहीं करता, प्रत्युत् वह राज्य के अस्तित्व की व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसलिए राजनीति-सिद्धांत का उद्देश्य है संस्थाओं के आधारभूत सिद्धांतों का अध्ययन न कि स्वयं संस्थाओं का अध्ययन। तदनुसार इस विषय का क्षेत्र है–राज्य का उद्गम, उसकी प्रकृति, अधिकार और कर्तव्य, राजनीतिक सत्ता की प्रकृति और अन्य संबंधित समस्याएँ। यह सब ज्ञान हमें राजनीति-दर्शन से प्राप्त होता है। **सिजविक** (Sidgwick) के मतानुसार, *''राजनीति (Politics) के अध्ययन का संबंध मुख्यत: कुछ मनोवैज्ञानिक आधारों पर ऐसी संबंधित व्यवस्था का निर्माण करना है जो सभ्य मानवों में, (जैसा कि उन्हें हम जानते हैं) और शासन करने वाले व्यक्तियों के बीच और उनके प्रशासित व्यक्तियों के बीच संबंध स्थापित होना वांछनीय है।''*[1] **सिजविक** (Sidgwick) के मतानुसार राज्य के अध्ययन के अंतर्गत हमको उसका संगठन, उसकी प्रकृति और उसके उद्देश्य को भी लेना पड़ेगा। सत्य यह है कि राज्य के अध्ययन के साथ-साथ हमको यह भी देखना होगा कि क्या न्याय उचित है और क्या नहीं। इसलिए, यदि हम राजनीतिशास्त्र को राजनीति-दर्शन कहें, तो वह अधिक उचित होगा।

फिर भी, हम 'राजनीतिशास्त्र' को 'राजनीति-दर्शन' कहना पसंद नहीं करेंगे। यह सत्य है कि राजनीति-दर्शन और राजनीतिशास्त्र में बहुत कुछ समता है और दोनों को विभाजित करने वाली कोई दृढ़ रेखा नहीं खींची जा सकती है। राजनीतिशास्त्र के दो पहलू हैं–सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक। व्यावहारिक पक्ष के अंतर्गत सरकार के स्वरूप, सरकार के संचालन, विधियों तथा विधि-निर्माण और कूटनीतिक संबंध, युद्ध, अंतर्राष्ट्रीय समझौते आदि के संचालन के लिए व्यक्ति रूप में राज्य का अध्ययन किया जाता है। *राजनीति-दर्शन* इस व्यावहारिक पक्ष की विवेचना नहीं करता है। उसका संबंध सिर्फ सैद्धांतिक तथा विचारात्मक पक्ष से है। इस प्रकार राजनीति-दर्शन राजशास्त्र का अधूरा तथा संकीर्ण ज्ञान प्रस्तुत करता है। इसके अलावा 'राजनीति-दर्शन' शब्द से एक अनिश्चितता का बोध होता है और उसमें राज्य की समस्याओं पर केवल कल्पना के आधार पर विचार किया जाता है जो वास्तविकता से दूर होता है।

लेकिन राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र के अंतर्गत सैद्धांतिक तथा क्रियात्मक दोनों पहलुओं का अध्ययन किया जाता है। 'राजनीतिशास्त्र' शब्द से व्यापकता तथा सुनिश्चितता का बोध होता है, उसमें आदर्श के साथ-साथ यथार्थ पर भी ध्यान दिया जाता है, शाश्वत के साथ-साथ सामयिक परिस्थितियों का भी अध्ययन किया जाता है और सार्वभौम के साथ-साथ किसी घटना विशेष की भी विवेचना की जाती है।

अत: राज्य संबंधी विद्या को राजनीति-दर्शन का नाम देना उपयुक्त नहीं है क्योंकि यह नाम इसे अवैज्ञानिक, अधूरा तथा संकीर्ण बना देता है।

राजनीतिशास्त्र (Political Science)

राज्य संबंधी शास्त्र को आधुनिक विचारक 'राजनीतिशास्त्र' या 'राजनीति विज्ञान' के नाम से पुकारते हैं। राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र 'राजनीति' और 'राजनीति-दर्शन' से अधिक व्यापक, अधिक निश्चित और अधिक स्पष्ट एवं अर्थपूर्ण है। राजनीति-दर्शन केवल सैद्धांतिक पक्षों का अध्ययन करता है, 'राजनीति' केवल व्यावहारिक पक्षों का। इसके विपरीत राजनीति शास्त्र राज्य से संबंधित विषयों के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का अध्ययन करता है। इसीलिए राजनीतिशास्त्र का एक विज्ञान और एक कला दोनों के रूप में अध्ययन किया जाता है।

राजनीतिशास्त्र की उत्पत्ति, स्वरूप तथा उद्देश्य के साथ-साथ राजनीतिक क्रिया-कलापों, सरकार के कार्यचलन, राजनीतिक दलों तथा अन्य राजनीतिक संस्थाओं के संगठन, उनके कार्य तथा समस्याओं का अध्ययन करता है। **पॉल जेनेट** के शब्दों में *''राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र का वह अंग है जिसमें राज्य के मूलभूत आधारों तथा सरकार के सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है।''*

नोट

राजनीतिशास्त्र राज्य संबंधी विषयों के भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों स्वरूपों का अध्ययन करता है। **मैक्स वेबर** ने इसीलिए राजनीतिशास्त्र को विवरणात्मक और आदर्शमूलक दोनों शास्त्र कहा है। राज्य संबंधी विद्या एक विज्ञान है। विज्ञान का अर्थ क्रमबद्ध ज्ञान है। एक विज्ञान के रूप में इस विषय का अध्ययन किया जा रहा है। अत: इसे ऐसा नाम दिया जाना चाहिए जो इसकी वैज्ञानिकता को अभिव्यक्त करे। 'राजनीतिशास्त्र' या 'राजनीति विज्ञान' ही यह नाम हो सकता है। इसलिए इस शास्त्र का नाम राजनीति विज्ञान या राजनीतिशास्त्र ही देना ठीक होगा।

बहुत-से फ्रांसीसी विद्वान राजनीति विज्ञान (Political Science) नाम से झुँझलाते हैं। वे इस शब्द का प्रयोग बहुवचन अर्थात् 'Political Sciences' के रूप में करना चाहते हैं। उनका तर्क है कि आज राज्य के जितने पहलू (जैसे–संविधान, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, अंतर्राष्ट्रीय कानून, कूटनीति आदि) हैं, उन सबों का अध्ययन अलग-अलग स्वतंत्र विज्ञान की भाँति किया जा सकता है। इसलिए राज्य-विषयक शास्त्र का नाम 'Political Sciences' रखा जाए। लेकिन उनका यह तर्क भ्रमपूर्ण है। शायद वे भूल जाते हैं कि यदि राज्य-विषयक विज्ञान को इतने स्वतंत्र टुकड़ों में विभाजित कर दिया जाए तो इसकी पूर्णता और सुनिश्चितता समाप्त हो जाएगी और यह किसी भी रूप में विज्ञान नहीं रह जाएगा। इसलिए 'Political Sciences' के स्थान पर एकवचन में 'Political Science' का ही प्रयोग ठीक होगा।

वर्तमान युग में राज्य-विषयक शास्त्र का एकदम उपयुक्त नाम राजनीति विज्ञान या राजनीतिशास्त्र (Political Science) ही है, यह सब प्रकार से माना जा चुका है।

1.6. परंपरागत राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र (Scope of Traditional Political Science)

जिस प्रकार राजनीतिशास्त्र की परिभाषा के विषय में विद्वानों के विभिन्न मत हैं उसी प्रकार राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र या विस्तार पर भी विद्वान एकमत नहीं हैं। **गार्नर** के मतानुसार, *''राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में केवल राज्य के ही अतीत काल, वर्तमान तथा भावी स्वरूप का अध्ययन होता है।''* किंतु यह विचारधारा न्याय संगत नहीं है क्योंकि यह राज्य के महत्त्वपूर्ण तत्त्व सरकार के प्रति उदासीन है। **लीकॉक** एवं उसके समर्थकों का मत है कि *''राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र केवल सरकार के विस्तृत क्षेत्र तक ही सीमित है।''* किंतु यह विचारधारा भी एकपक्षीय होने के कारण ही न्याय संगत नहीं है।

फ्रांसीसी विचारक **पॉल जेनेट** तथा उसके समर्थकों का मत है कि *''राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र के अंतर्गत राज्य तथा सरकार दोनों का ही विस्तृत अध्ययन किया जाता है।''* किंतु इस विचारधारा को भी राजनीतिशास्त्र के विषय-क्षेत्र की न्यायसंगत विचारधारा नहीं माना जा सकता क्योंकि इस विचारधारा में मानवीय तत्त्व का कोई भी स्थान नहीं है।

राजनीतिशास्त्र में मनुष्य, राज्य तथा सरकार के पारस्परिक संबंधों का विशेष महत्त्व है। अतएव राजनीतिशास्त्र का विषय-क्षेत्र इन तीनों का ही विस्तृत अध्ययन है। इसी आधार पर राजनीतिशास्त्र की परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है–''राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें मनुष्य का एक राजनीतिक प्राणी के रूप में उसके राज्य संबंधी कार्य-कलापों का अध्ययन होता है और इसलिए इसमें राज्य और सरकार का विस्तृत अध्ययन भी मिलता है। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र मनुष्य का राजनीतिक प्राणी के रूप में तथा राज्य और सरकार का विस्तृत ज्ञान है।''

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर यह कहना अनुचित नहीं होगा कि राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में मनुष्य का अध्ययन एक राजनीतिक प्राणी के रूप में तथा राज्य और सरकार का अध्ययन सम्मिलित है। इस दृष्टिकोण से **गेटेल** का यह मत है कि *''राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र केवल राज्य तक ही सीमित है।''* न्याय संगत नहीं माना जा सकता।

उपर्युक्त परिभाषा के आधार पर हम राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र की व्याख्या करते हुए लिख सकते हैं कि राजनीतिशास्त्र में मनुष्य, राज्य तथा सरकार तीनों का विस्तृत अध्ययन किया जाता है। अब हम इन तीनों के अध्ययन का पृथक्-पृथक् विस्तृत वर्णन करेंगे।

नोट

मनुष्य का अध्ययन

मानव समूह राज्य का प्रमुख अंग है। **अरस्तु** ने ठीक ही लिखा था, *''राज्य का जन्म मानव के जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही हुआ था। राज्य मानव के जीवन की उन्नति पर निर्भर है। मानव ने ही राज्य को जन्म दिया। इस हेतु राज्य पर मानव के बहुत-से अधिकार हैं जिनके बदले राज्य मानव के प्रति अनेक कर्तव्यों का पालन करता है।''* मानव एवं राज्य के पारस्परिक संबंधों की भी एक समस्या है : राज्य के आदेशों का मानव क्यों पालन करता है? राज्य साधन है या मनुष्य? मानव के प्रति राज्य के कौन-कौन से कर्तव्य हैं और राज्य पर मानव के कौन-कौन से अधिकार हैं? इन सभी प्रश्नों का उत्तर राजनीतिशास्त्र का अध्ययन विषय है। इस प्रकार मनुष्य का अध्ययन राजनीतिशास्त्र का अध्ययन विषय है।

राज्य का अध्ययन

प्रसिद्ध विद्वान गार्नर ने राजनीतिशास्त्र के अध्ययन-विषय पर अपना मत प्रकट करते हुए राजनीति के क्षेत्र को दो भागों में बाँटा है–

(1) राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और उसका स्वरूप क्या है? इन बातों का अनुशीलन।

(2) राजनीतिक संस्थाओं के विविध रूपों के स्वरूप व इतिहास का अध्ययन और इन दोनों के अनुशीलन के आधार पर राजनीतिक उन्नति और विकास के नियमों का अध्ययन करना। गार्नर के मत का आधार लेकर राजनीतिशास्त्र के विषय-क्षेत्र में हम राज्य का अध्ययन निम्नलिखित ढंग से करते हैं–

(*i*) राज्य के अतीत का अध्ययन राजनीतिशास्त्र का विषय-क्षेत्र।

(*ii*) राज्य के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन राजनीतिशास्त्र का विषय-क्षेत्र।

(*iii*) राज्य के आदर्श अथवा भावी स्वरूप का अध्ययन राजनीतिशास्त्र का विषय-क्षेत्र।

(*i*) राज्य के अतीत का अध्ययन–राज्य का वर्तमान स्वरूप एक लंबे इतिहास का परिणाम है। राजनीतिशास्त्र राज्य के अतीत का इस रूप में अध्ययन करता है कि राज्य का प्रारंभिक रूप क्या था और राज्य ने किन-किन स्तरों से होकर अपने वर्तमान स्वरूप को ग्रहण किया। वास्तव में राज्य को अपने स्वरूप तक पहुँचने में शताब्दियाँ लगी हैं। राज्य के प्रारंभिक स्वरूप छोटे-छोटे कबीले थे जिनको जनपद कहते थे। ग्रीस के नगर-राज्य इन्हीं जनपदों के स्वरूप थे। विजय और पराजय के चक्र ने इन जनपदों को राष्ट्रीय राज्यों में परिणत कर दिया। जनपदों से राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण तक राज्य विषयक अनेक सिद्धांतों का जन्म हुआ। राज्य की उत्पत्ति और उसके कार्यों पर ही अनेक सिद्धांतों का निर्माण किया गया। इन सब विकास एवं सिद्धांतों के निर्माण का अध्ययन करके राजनीतिशास्त्र हमको राज्य के अतीत का अध्ययन कराता है।

(*ii*) राज्य के वर्तमान स्वरूप का अध्ययन–आधुनिक राज्य का क्या स्वरूप है? उसका संगठन किस प्रकार का है? उसके विभिन्न स्वरूप क्या हैं? उसके उद्देश्य क्या हैं? एक लोकप्रिय राज्य के क्या कार्य हैं? और उनके प्रमुख तत्त्व कौन-कौन से हैं? इन सभी बातों के उत्तर राजनीतिशास्त्र से मिल सकते हैं। इन प्रश्नों का उत्तर देने के अतिरिक्त राजनीतिशास्त्र मानव से संबंधित अन्य संस्थाओं का भी ध्यान रखता है। राज्य का अन्य समुदायों से क्या संबंध है? शासक और शासित में किस प्रकार का संबंध होना चाहिए? आदि प्रश्नों के उत्तर भी राजनीतिशास्त्र द्वारा ही मिल सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिक राज्य के विभिन्न पहलुओं का विस्तृत तथा व्यापक अध्ययन भी राजनीतिशास्त्र की विषय-सामग्री है।

(*iii*) राज्य के आदर्श अथवा भावी स्वरूप का अध्ययन–राजनीतिशास्त्र केवल राज्य के अतीत और वर्तमान स्वरूप का ही अध्ययन नहीं करता है, अपितु वह इस बात पर भी विचार करता है कि राज्य का भावी मार्ग क्या होगा, एक आदर्श राज्य के क्या-क्या कर्तव्य होंगे–इसी विचारधारा को लेकर विभिन्न विद्वानों ने राज्य के कार्यों पर अपने-अपने मत प्रकट कर दिए हैं।

बहुसत्तावादियों के अनुसार राज्य अन्य समुदायों की भाँति एक समुदाय है इसलिए केवल राज्य ही प्रभुत्व संपन्न नहीं हो सकता। किसी भी प्रकार का प्रभुत्व यदि है तो वह राज्य और अन्य समुदायों के बीच बँट जाना चाहिए। इसी आधार पर तो **लास्की** (Laski) ने लिखा है–*''चूँकि समाज का स्वरूप भी संघीय है इसलिए राजकीय सत्ता का स्वरूप भी संघीय होना चाहिए।''*[1] इसी प्रकार राज्य के कार्यों पर अपना मत प्रकट करते हुए **व्यक्तिवादियों** ने कहा–*''वह सरकार सबसे उत्तम है जो सबसे कम कार्य करती है।''*

इसके अतिरिक्त सभी विद्वान इस मत से सहमत हैं कि राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र में राज्य के अतीत, वर्तमान तथा भावी स्वरूप का विस्तृत अध्ययन सम्मिलित है जैसा कि **ट्रेटस्के** (Trietschke) ने लिखा है–*''प्रथम, आधुनिक*

राज्यों के विवेचन से राज्य के आधारभूत सिद्धांतों को निर्धारित करना; द्वितीय, ऐतिहासिक दृष्टि से यह देखना कि अतीत में मानव ने किन राजनीतिक संस्थाओं को अपनाया तथा जन्म दिया और उन्होंने राजनीतिक जीवन में कौन-कौन-से रचनात्मक कार्य किए और इनके क्या कारण थे; और तृतीय, इस साधन द्वारा उसका मुख्य कार्य ऐतिहासिक नियमों और नैतिक आदर्शों का निर्धारण करना है।''

नोट

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र राज्य के भावी स्वरूप का अध्ययन करना भी है जिसके आधार पर हम एक आदर्श राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं।

सरकार का अध्ययन

राज्य की इच्छा को कार्यान्वित कराने का एकमात्र यंत्र सरकार है। इसलिए सरकार को राज्य का प्रमुख अंग माना जाता है। **क्रोसे** (Croce) ने लिखा है–*''उनके लिए जो कल्पना की अपेक्षा वास्तविकता की खोज में हैं; राज्य सरकार के अतिरिक्त कुछ नहीं है तथा सरकार में ही उसे (राज्य को) पूर्ण मूर्त्तरूप प्राप्त होता है।''*

उपर्युक्त वर्णन से सिद्ध होता है कि सरकार राज्य का एक प्रमुख अंग है। सरकार के संगठन, स्वरूप और उसके कार्यों का पूर्ण वर्णन राजनीतिशास्त्र में ही मिलता है। इसलिए राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-विषय सरकार भी है।

उपर्युक्त वर्णन से विदित है कि राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र विशाल और विस्तृत है जैसा कि प्रसिद्ध लेखक **क्लेअर लाई** ने लिखा है–*''इसके (राजनीतिशास्त्र के) अंतर्गत राज्यों के संगठन एवं कार्यों का तथा राजनीतिक संगठन के आधार में निहित सिद्धांतों और आदर्शों का अध्ययन सम्मिलित है। वह राजनीतिक शक्ति तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता के समन्वय की समस्याओं, मनुष्यों के आपस के संबंधों जिन पर कि राज्य नियंत्रण रखता है तथा मनुष्यों के राज्य से संबंधों का विवेचन करता है, वह राज्य की विभिन्न कार्य-संस्थाओं के बीच शासकीय शक्ति के विभाजन तथा अंतर्राष्ट्रीय जीवन का भी अध्ययन करता है।''*

अंतर्राष्ट्रीय राजनीति के पर्यावरण में जिन नवीन सिद्धांतों का विकास हो रहा है, उनके बावजूद राजनीतिशास्त्र की परंपरागत अवधारणाओं की अवहेलना नहीं की जा सकती है। जैसा कि **फेयरली** (Fairlie) ने लिखा है, *''राजनीति विज्ञान राज्य के अंतर्गत शासन और कानून की अधीनता में संगठित मानव जीवन से संबद्ध है। इसमें राज्य के संगठन, उसके क्रिया-कलाप और राजनीतिक संगठन तथा क्रिया से संबद्ध सिद्धांतों तथा विचारों का अध्ययन किया जाता है। यह राजनीतिक सत्ता तथा व्यक्तित्व, स्वतंत्रता की सामंजस्य की समस्या, राज्य द्वारा नियंत्रित मनुष्यों के पारस्परिक संबंधों तथा मनुष्यों एवं राज्य के संबंधों पर विचार करता है। जिन अभिकरणों द्वारा राज्य के कार्यों का निर्धारण, अभिव्यंजन तथा व्यवहार होता है, उनके बीच शासन की शक्तियों के विभाजन तथा अंतर्राष्ट्रीय जीवन की समस्या का भी अध्ययन इसमें होता है।''*

इस प्रकार राजनीति विज्ञान का परंपरागत क्षेत्र समय और दूरी की तरह व्यापक और विस्तृत होता जा रहा है।

1.7. आधुनिक राजनीति विज्ञान एवं उसके क्षेत्र (Modern Political Science and its Scope)

परंपरागत राजनीति के अंतर्गत राजनीतिशास्त्र को राज्य और सरकार का अध्ययन करने वाले शास्त्र के रूप में देखा गया है, जिसके आधार पर राजनीति विज्ञान राज्य के पर्यावरण तक ही केंद्रित था। वर्तमान शताब्दी में राष्ट्रसंघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसे अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के निर्माण से राजनीति विज्ञान का स्रोत काफी व्यापक और वैज्ञानिक होता चला गया। **आर.एच. सोल्टू** के अनुसार, *''यह हर उस आदमी से संबंधित है जो उत्तरदायित्व की भावना रखता है।''* **लॉर्ड ब्राइस** ने तो यहाँ तक कहा है, *''कोई भी व्यक्ति यह दावा नहीं कर सकता कि वह राजनीति में रुचि नहीं रखता है।''* इस प्रकार 1980 में ग्राह्म वालास द्वारा लिखित Human Nature in Politics तथा अर्थर बेंटले द्वारा लिखित The Process of Government ने आधुनिक राजनीति के विकास में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया है। ग्राह्म वालास ने जहाँ मानव व्यवहार के अध्ययन पर जोर दिया है, वहीं बेंटले ने सरकार की प्रक्रिया तथा समूहों के अध्ययन पर प्रकाश डाला है। मेरियन ने तो राजनीतिक सिद्धांतों की व्याख्या के सिलसिले में मनोविज्ञान तथा सांख्यिकी को आधार मानकर नवीन दिशा देने का प्रयास किया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद आधुनिक राजनीति में कार्ल डी.एच. एप्टर, लूसियन पाई, राबर्ट ए. डाल तथा ईस्टन आदि विद्वानों ने परंपरागत

नोट

राजनीति को काफी पीछे छोड़ राजनीति के नवीन पर्यावरण में नवीन आयामों को जन्म देकर राजनीतिक विज्ञान को वैज्ञानिक विज्ञानों की कोटि में ला रखा है। आज राजनीति विज्ञान के अंतर्गत, न सिर्फ मानवीय व्यवहार के क्रिया-कलापों का अध्ययन होता है, बल्कि शक्ति, सत्ता, राजनीतिक व्यवस्था, राजनीतिक संचार, राजनीतिक अभिजन का विश्लेषण आधुनिक राजनीतिक विज्ञान में किया जा रहा है। इस प्रकार विद्वानों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से आधुनिक राजनीति को परिभाषित किया है। **राबर्ट ए. डाल** के अनुसार, ''राजनीति शक्ति की तलाश है।''

लूथर गुलिक के अनुसार, *''राजनीति एक क्रिया है।''*

फ्रेडरिक के शब्दों में, *''अपनी उद्देश्य प्राप्ति के लिए अपनाए गए राजनीतिक कार्य, साधनों एवं प्रविधियों को राजनीति कहते हैं।''*

डेविड ईस्टन के अनुसार, *''राजनीति वह प्रतिक्रिया है, जिसके द्वारा मानव आवश्यकताओं एवं इच्छाओं की पूर्ति के सीमित मानवीय, भौतिक एवं आध्यात्मिक साधनों का एक सामाजिक इकाई में (चाहे वह नगर हो, राज्य हो, राष्ट्र हो या संगठन) बँटवारा किया जाता है।''*

क्वींसी राइट के अनुसार, *''राजनीति (समूहों को) नियंत्रित छलयोजित या प्रभावित करने की कला है, ताकि दूसरों के विरुद्ध कुछ लोगों के उद्देश्यों की वृद्धि हो।''*

लासवेल के अनुसार, *''राजनीति विज्ञान एक अनुभव पर आधारित ज्ञान है, वह शक्ति के निर्धारण और वितरण का अध्ययन है और राजनीति शक्ति के दृष्टिकोण से किया गया कार्य है।''*

कैटलिन के अनुसार, *''राजनीतिशास्त्र शक्ति का विज्ञान है।''*

मैक्स वेबर के अनुसार *''राजनीति शक्ति विभाजन में हिस्सा लेने या उसे प्रभावित करने का संघर्ष है; चाहे वह शक्ति विभाजन राज्यों के बीच हो या एक राज्य के विभिन्न समुदायों के बीच।''*

एच.जे. मॉरगेंथाऊ के अनुसार *''अंतर्राष्ट्रीय राजनीति हर राजनीति की तरह, शक्ति प्राप्ति का संघर्ष है। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति का अंतिम उद्देश्य चाहे जो भी हो, शक्ति सदैव इसका निकट उद्देश्य रहती है।''*

मिचेल तथा **मिचेल** ने लिखा है कि *''राजनीति विज्ञान मुख्यत: सामूहिक निर्णय-निर्माण या संपूर्ण समाज के लिए लोकनीतियों के निर्माण से संबंधित है।''*

मोटे तौर पर आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों ने राजनीति के प्रति विभिन्न दृष्टिकोण अपनाए हैं और इस तरह, इसकी परिभाषाओं में विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

पहला दृष्टिकोण है–राजनीति को वृहत् अवधारणा से संबंधित कर उसके अंतर्गत अनेकों तरह की राजनीति गतिविधियों, क्रियाओं तथा व्यवहारों को शामिल कर लेना। उदाहरण के लिए कुछ विद्वान राजनीति से उन मानवीय गतिविधियों, क्रियाओं तथा व्यवहारों का अर्थ लगाते हैं जो सरकार एवं सरकारी संस्थाओं के व्यवहारों से संबंधित है तथा प्रतिक्रिया स्वरूप उत्पन्न होते हैं। यह राजनीति विज्ञान की पुरानी परिभाषा है। किंतु आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों ने इसका प्रयोग व्यवहारवादी दृष्टिकोण से किया है, अर्थात् उनका विश्वास है कि सरकार एवं नागरिकों के व्यवहारों का पर्यवेक्षण हो सकता है तथा उनसे आँकड़ों का संग्रह कर उनके कार्यकरण का पता लगाया जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से **चार्ल्स हायनामेन** ने राजनीति एवं राजनीति विज्ञान को परिभाषित किया है। उसने लिखा है *''(अमेरिकन) राजनीति विज्ञान के अध्ययन का केंद्रीय बिंब आज की गतिविधियों का वह अंश है जो सरकार में केंद्रित है तथा सरकार का मतलब यहाँ वह सरकार है जो कानून के माध्यम से अपने को व्यक्त करती है।''* यद्यपि हायनामेन राजनीतिक व्यवहारों की बात करता है फिर भी उसने सरकार की गतिविधियों के साथ राजनीति व्यवहारों को संबंधित कर राजनीति के अर्थ एवं दायरे को अत्यंत ही सीमित कर दिया है–दूसरे अगर सरकार की सभी गतिविधियाँ राजनीति को जन्म देती हैं तो हमें उसकी आर्थिक, वैज्ञानिक, सामाजिक सभी क्रियाओं में राजनीति की खोज करनी होगी तथा उनके प्रति जनता की प्रतिक्रियाओं का अंदाजा लगाना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में राजनीति वैज्ञानिकों को उन स्थलों का अन्वेषण करना होगा जो अन्य सामाजिक विज्ञानों के अधीन हैं। इसके लिए अतिरिक्त ज्ञान कौशल को अपनाने की भी जरूरत होगी। तीसरे उसने उस सरकार की बात भी की है जो ''कानून के माध्यम से अपने को व्यक्त करती है।'' अर्थात् वह औपचारिक सरकार की बात करता है जबकि मनुष्य केवल इसी सरकार द्वारा शासित नहीं है। मनुष्य विभिन्न संघों, समूहों तथा संस्थाओं द्वारा भी शासित होता है और इन सबों की अपनी सरकार होती है, जिन्हें व्यक्तिगत सरकार (Private Government) कहा जाता है। आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों के अनुसार इन तथाकथित व्यक्तिगत सरकारों के अधीन भी राजनीति है। यहाँ राजनीति का मतलब है–संघर्ष एवं उनके समाधान के उपाय की खोज। साथ ही साथ ये सरकारें औपचारिक रूप से संवैधानिक सरकारों की गतिविधियों को प्रभावित करती हैं। अत: इन्हें राजनीति विज्ञान के अध्ययन से पृथक् करना गलत है।

नोट

दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार विभिन्न विद्वानों की मान्यता है कि राजनीति को मनुष्य की विभिन्न गतिविधियों के रूप में देखना चाहिए। इन लोगों का विश्वास है कि राजनीति को किसी वृहत् तथा सभी गतिविधियों को शामिल कर लेने वाली अवधारणा की जरूरत नहीं है। इसे विभिन्न गतिविधियों तथा उसमें सन्नहित समस्याओं के रूप में देखना होगा। इस तरह से देखने पर जहाँ इसका दायरा अति विस्तृत नहीं हो पाता वहाँ इसके विभिन्न अर्थों में आवश्यकता पड़ने पर मेल बैठाया जा सकता है। दूसरे यह व्यवहारवादी शोध के लिए उपयुक्त है, क्योंकि विभिन्न शोधकर्ता अपने शोध की आवश्यकता के अनुसार इसके विभिन्न अर्थों का चयन कर सकते हैं। इस दृष्टिकोण से जहाँ कुछ लोगों ने राजनीति को संघर्ष एवं संघर्ष समाधान से संबंधित गतिविधि माना है, वहाँ कुछ ने इसे शक्ति एवं प्रभाव से संबंधित माना है, जहाँ कुछ लोग नेतृत्व को क्रियाओं के रूप में देखते हैं, वहीं कुछ लोगों ने इसे राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति संबंधी नीति-निर्माण प्रक्रिया के रूप में देखा है।

संघर्ष एवं समाधान की प्रक्रिया के रूप में देखने वाले विद्वानों का कहना है कि जहाँ-जहाँ हितों की टकराहट से संघर्ष होता है और उस संघर्ष के समाधान की खोज की जाती है, वहाँ-वहाँ राजनीति है। इस तरह परिवार, संघ, सरकार सभी जगह राजनीति है, क्योंकि इन सबों में हितों की टकराहट है। यहाँ पर यह ध्यान रखना होगा कि संघर्ष का मतलब युद्ध नहीं है, बल्कि हितों की टकराहट है, जो अव्यक्त हो सकती है तथा शांत वातावरण में भी व्यक्त होता है। किंतु इनका समाधान इसलिए आवश्यक है, क्योंकि वातावरण अशांत हो सकता है तथा व्यक्ति उग्र और आक्रामक हो सकता है। इसके समाधान की खोज की क्रिया केवल सरकार तक सीमित नहीं है, बल्कि सभी तरह के मानवीय संघों, संस्थाओं में इसके समाधान की क्रिया संपादित की जाती है। इसलिए राजनीति का संबंध केवल औपचारिक सरकार से ही नहीं बल्कि अन्य मानवीय समूहों से है। इस दृष्टिकोण से राजनीति एवं राजनीति विज्ञान को परिभाषित करते हुए **सेटस्नाइड** (Schattschnaid) नामक विद्वान ने लिखा है कि *''राजनीति की केंद्रीय समस्या संघर्ष का प्रबंधन करना है।''* **एडवर्ड बैनफील्ड** नामक विद्वानों ने भी लिखा है–*''राजनीति उन गतिविधियों (विचार-विमर्श, समझौता, वाद-विवाद, बल प्रयोग हृदय परिवर्तन इत्यादि) को कहते हैं जिनके द्वारा राजनीतिक मुद्दों को उत्पन्न किया जाता है तथा उनका समाधान खोजा जाता है।''* उसी तरह **वरनन वान डाईक** का कहना है कि *''राजनीति से उन कर्ताओं के संघर्ष का बोध होता है जो राजनीतिक मुद्दों में परस्पर विरोधी इच्छाओं का अनुसरण करते हैं।''*

इसी तरह के दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति एक प्रक्रिया है जो समस्याओं से आरंभ होती है तथा उसके समाधान में खत्म हो जाती है। समस्या के आरंभ एवं उनके समाधान में खत्म होने के बीच विभिन्न कर्ताओं द्वारा निर्णय लिया जाना मुख्य बात है। क्योंकि समस्याओं की पहचान कर उनके लिए समाधान खोजने तक में निर्णय की प्रक्रिया चलती है। निर्णय लेने का मतलब है समाधान खोजा जाना। मोटे तौर पर इस दृष्टिकोण से राजनीति वस्तुतः निर्णय लेने की प्रक्रिया का नाम है। इस आधार पर राजनीति के अध्ययन का मतलब है कि निर्णय लेने वाले कर्ताओं की पहचान करना, उस समस्या की पहचान करना जो उन्हें निर्णय लेने के लिए प्रेरित करता है, उस वैधानिक तथा संस्थानिक पर्यावरण की पहचान करना, जिसके अंतर्गत कर्ता निर्णय लेता है तथा अंत में उन कार्य-पद्धतियों तथा प्रक्रिया का विश्लेषण करना, जिनके संदर्भ में तथा जिनकी सहायता से कर्ता ने निर्णय लिया है। इस प्रकार राजनीति का अध्ययन पूर्णतः वैज्ञानिक प्रणाली के प्रयोग की माँग करता है।

इसी दृष्टिकोण का समर्थन करने वालों में एक समूह है जो निर्णय-निर्माण प्रक्रिया के साथ ही साथ नेतृत्व के अध्ययन पर बल देता है। इन लोगों का मत है कि निर्णय-निर्माण विशिष्ट व्यक्तित्व क्षमता तथा अंतर्दृष्टि की माँग करता है। यह गुण सभी लोगों में नहीं होता है बल्कि उन लोगों में होता है जो समाज के शीर्षस्थ स्थानों में वर्तमान है तथा संपूर्ण समाज की भलाई के लिए तथा उसे सुव्यवस्थित ढंग से शासित करने के लिए लेते हैं। ये लोग नेता होते हैं। राजनीति विज्ञान इन्हीं नेताओं का तथा उनके गुणों का–नेतृत्व के गुणों का अध्ययन करता है।

इसी से मिलता-जुलता किंतु इससे ज्यादा विस्तृत दृष्टिकोण विद्वानों का एक दूसरा समूह अपनाता है। इन विद्वानों ने बतलाया है कि समाज के संचालन में विभिन्न तरह के लोगों का योगदान होता है। इनमें कुछ शीर्षस्थ नेता होते हैं; कुछ मध्यस्तरीय नेता होते हैं तथा बाकी सामान्य नागरिक होते हैं। इनके संबंधों का निर्धारण आज्ञा जारी करने तथा आज्ञा पालन के रूप में होता है। यह नेता तथा अनुयायी का संबंध है या शासक और शासित का संबंध है। जो प्रत्येक समाज में व्याप्त है। किंतु यह संबंध स्थिर नहीं, बल्कि गतिमान है। प्राचीन काल में राजतंत्र के जमाने में यह संबंध स्थिर था, क्योंकि शासक या नेता आनुवांशिक होते थे। वर्तमान काल में विशेषकर जनतांत्रिक देशों में यह संबंध वर्तमान है। जो आज नेता है, कल शासित हो सकता है, जो शासित है (नागरिकों के बीच से) उनमें नेताओं का अभ्युदय हो सकता है। जनतंत्र में नेतृत्व प्राप्त करने या राजनीतिक शक्ति को प्राप्त करने की प्रतियोगिता होती है जिसके परिणामस्वरूप शासकों (राजनीति शक्तिधारियों) एवं शासितों का संबंध कहलाता रहता

है। राजनीति विज्ञान इसी शक्ति संबंध (Power Relations) का अध्ययन करता है **हेराल्ड लासवेल** नामक विद्वान का कहना है कि *राजनीति विज्ञान इस बात का अध्ययन करता है कि समाज में शक्ति-संबंध के दौरान ''कौन क्या, कब और कैसे पाता है।''* आगे उसने लिखा है, *''राजनीति विज्ञान प्रभाव एवं प्रभावशालियों का अध्ययन करता है।''*

नोट

ऊपर हमने दो दृष्टिकोणों पर आधारित राजनीति विज्ञान की परिभाषाओं को देखा। पहले दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान का संबंध सरकार की गतिविधियों से है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार राजनीति विज्ञान विभिन्न तरह की गतिविधियों एवं क्रियाओं से संबंधित है, जैसे–संघर्ष एवं संघर्ष समाधान, निर्णय-निर्माण, शक्ति संबंध इत्यादि। जहाँ तक विभिन्न गतिविधियों के साथ राजनीति और राजनीति विज्ञान को संबंधित करने का प्रश्न है। इसका एक सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसने राजनीति विज्ञान को सरकार की गतिविधियों से संबंधित किया है, जिनका समाज में विशेष महत्त्व है। यह दृष्टिकोण वस्तुतः राजनीति विज्ञान के अध्ययन-क्षेत्र को काफी विस्तृत कर देता है। किंतु इसका सबसे बड़ा दोष यह है कि यह सरकार के कार्यों के महत्त्व को गौण कर देता। यह सही है कि राजनीति का अर्थ व्यापक है तथा इसमें उन सभी सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं के कार्य शामिल हैं, जिनका उद्देश्य हितों की टकराहट से उत्पन्न संघर्षों का समाधान खोजना है। किंतु सर्वप्रथम, सरकार के द्वारा जो समाधान खोजा जाता है, वह ज्यादा कारगर एवं निश्चित होता है। दूसरे सरकार के कुछ ऐसे भी नियम हैं जो संघर्ष या विवाद से परे होते हैं। क्या इन्हें राजनीति की परिधि से बाहर कर दिया जाना चाहिए? उदाहरण के लिए भारत के राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी का चुनाव सर्वसम्मति से हुआ और इसमें सभी राजनीतिक दलों की सहमति थी इनमें कोई विरोध नहीं हुआ। क्या संजीव रेड्डी के इस निर्वाचन को गैर राजनीतिक कहा जाएगा? क्या के.एस. हेगड़े का लोकसभा का सर्वसम्मति से अध्यक्ष चुना जाना राजनीतिक नहीं है। स्पष्ट है कि राजनीति को मात्र संघर्ष एवं उसके समाधान के रूप में नहीं देखा जा सकता है। यह सहमति का भी बोध कराती है।

उसी तरह राजनीति को निर्णय-निर्माण प्रक्रिया या शक्ति संबंध के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, किंतु इसके आधार पर यह दावा नहीं किया जा सकता है कि राजनीति को इस तरह परिभाषित कर किसी अपवाद को छोड़ा गया है। वस्तुतः ये सभी परिभाषाएँ राजनीति के विभिन्न पहलुओं को प्रकाशित करती हैं। राजनीति से सरकारी तथा गैर सरकारी संस्थाओं के अंतर्गत संघर्ष सहमति, संघर्ष-समाधान तथा उसमें निहित निर्णय-निर्माण के प्रयास इत्यादि सभी से संबंधित क्रियाओं के अलावा शक्ति संबंध का बोध होता है। इसी दृष्टिकोण से एक विद्वान ने उपर्युक्त सभी अवधारणाओं को एक साथ ही रखकर राजनीति की परिभाषा की है तथा बतलाया है कि *''राजनीति से व्यक्ति एवं समूहों के उन संघर्षों का बोध होता है, जिनकी उत्पत्ति आधिकारिक निर्णय लेने वाली संस्थाओं को प्रभावित करने के परस्पर प्रतियोगी प्रयासों के कारण होती है।''* एक दृष्टिकोण से यह परिभाषा अन्य परिभाषाओं से ज्यादा विस्तृत और अर्थपूर्ण है, फिर यह संघर्ष एवं संघर्ष समाधान पर ज्यादा बल देती है। राजनीति विज्ञान को एक ऐसी परिभाषा की जरूरत है जो राजनीति के विभिन्न आयामों, संघर्ष, सहमति, निर्णय, शक्ति-संबंध को प्रकाशित करने के साथ ही उन संस्थाओं तथा उनके पर्यावरण को भी प्रकाशित करता है, जिनके अंतर्गत राजनीति अपनी विभिन्न आशाओं के साथ व्यक्त होती है।

इस दृष्टिकोण से वर्तमानकाल में राजनीति वैज्ञानिकों की बहुसंख्या डेविड ईस्टन (David Easton) की परिभाषा को सर्वोत्तम परिभाषा के रूप में स्वीकार करते हैं। **डेविड** ने लिखा है *''राजनीति वह प्रक्रिया है जिसके अनुसार समाज में मूल्यों का आधिकारिक विनियोजन या वितरण होता है।''*[8] ईस्टन की यह परिभाषा काफी स्पष्ट नहीं है और साथ-ही-साथ बहुत विस्तृत है किंतु उच्च कक्षाओं के विद्यार्थी जब ईस्टन के सिद्धांत का अध्ययन करेंगे, तो इसका महत्त्व स्पष्ट होगा। यहाँ पर हम ईस्टन की मान्यता का संक्षेप में वर्णन कर सकते हैं। ईस्टन की मान्यता है कि राजनीति एक प्रक्रिया है जिसकी उत्पत्ति तब होती है, जब समाज के मूल्यों का ''आधिकारिक विनियोजना'' राजनीतिक पद्धति करती है। **ईस्टन** के अनुसार, *''राजनीतिक पद्धति संपूर्ण समाज के लिए मूल्यों के विनियोजन हेतु आधिकारिक निर्णय लेती है और ऐसे निर्णय को लेने में वह अपने पर्यावरण से प्रभावित होती है। इसका अर्थ हुआ कि राजनीतिक पद्धतियों में तनाव पैदा होता है जो माँग और समर्थन रूपी निवेशन में व्यक्त होता है। राजनीतिक पद्धति माँग और समर्थन रूपी तनाव का सामना करने के लिए अर्थात् समाज की माँगों को संतुष्ट करने तथा उसका समर्थन प्राप्त करने हेतु ''आधिकारिक निर्णय'' लेती है तथा इस प्रकार वह तनाव का सामना करती है।''* वस्तुतः ईस्टन की इस अवधारणा में इतनी लोचशीलता है कि इसका वृहत् एवं संकीर्ण दायरे में प्रयोग किया जा सकता है। आधुनिक राजनीति विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र में ईस्टन की परिभाषा मूल्यवान सिद्ध हुई है।

नोट

आधुनिक राजनीतिक विज्ञान में राजनीतिक पद्धति

आधुनिक राजनीति विज्ञान में राजनीतिक पद्धति की अवधारणा का वही स्थान है जो पारंपरिक राजनीति विज्ञान में राज्य का। पिछले पृष्ठों में हमने इस बात पर बल दिया था कि राजनीति का संबंध केवल सरकार तथा राजकीय संस्थाओं तक सीमित नहीं है। राजनीति की जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनसे स्पष्ट होता है कि राजनीति से संबंधित क्रियाओं का संपादन परिवार, मानवीय समूहों, राजनीतिक संस्थाओं, विभिन्न स्तरों पर आधारित सरकारों (स्थानीय सरकारों, प्रांतीय सरकारों तथा केंद्रीय सरकारों) इत्यादि स्थलों पर होता है। इस तरह राजनीति विज्ञान चूँकि राजनीति का अध्ययन करता है, इसलिए इसके अध्ययन का विस्तार सरकार तक सीमित न होकर संपूर्ण समाज के अध्ययन तक विस्तृत हो जाता है। किंतु इन्हें एकाग्र रूप में समझने की जरूरत है। यहीं पर आधुनिक राजनीति वैज्ञानिकों को ऐसी वैचारिक संचार की जरूरत हुई जो उन्हें राजनीति के विभिन्न स्थलों का समग्र ज्ञान दे सके। इसके लिए इन विद्वानों ने 'पद्धति' की अवधारणा का प्रयोग किया है।

पद्धति वस्तुतः विश्व को देखने तथा समझने का एक आधार प्रस्तुत करती है। इसके माध्यम से संपूर्ण विश्व या किसी समाज या किसी संगठन या समूह के विभिन्न भागों के अंतः संबंध को समझा जाता है। पद्धति की अवधारणा में यह विश्वास अंतर्निहित है कि विश्व के विभिन्न भागों, इसकी विभिन्न घटनाओं तथा संरचनाओं में आपसी संबंध है। शोधकर्ता की विशेषता इस बात में निहित है कि वह इस अंतर्संबंध का किस प्रकार स्पष्टीकरण करता है।

आधुनिक राजनीति वैज्ञानिक समाज के विभिन्न भागों–अर्थव्यवस्था, संस्कृति, धर्म, न्यायव्यवस्था तथा राजनीतिक व्यवस्था के संबंधों की खोज करते हैं तथा इस संबंध के भीतर अपने मूल प्रतिपाद्य विषय, राजनीतिक पद्धति की प्रकृति, प्रभाव एवं कार्य का अध्ययन करते हैं। इस दृष्टिकोण से राजनीतिक पद्धति उन सभी संस्थाओं की प्रक्रियाओं तथा व्यवहारों का अंतर्संबंधित ढाँचा है जिनके द्वारा राजनीति का व्यक्तिकरण होता है।

सामान्यतः पद्धति की परिभाषा करते हुए बतलाया गया है कि *''पद्धति से उस व्यवस्था का बोध होता है जो विभिन्न वस्तुओं से बना हुआ है तथा जिसके भीतर उन वस्तुओं एवं उन वस्तुओं की विशेषताओं में अंतर्संबंध स्थापित रहता है।''* इसका मतलब है कि पद्धति कई तरह के भागों से युक्त एक वृहत् इकाई है। ये भाग आपस में अंतर्संबंधित हैं जिसके कारण एक इकाई के रूप में पद्धति स्पष्ट होती है। इसके साथ-ही-साथ पद्धति में केवल उसके विभिन्न भागों के संबंधों का ही महत्त्व नहीं है बल्कि प्रत्येक भाग की विशेषता से दूसरा भाग प्रभावित होता है। अर्थात् विभिन्न भागों में जो संबंध स्थापित होता है उनमें वे एक दूसरे को अपनी विशिष्टता द्वारा प्रभावित करते हैं। इसका यह भी अर्थ है कि पद्धति का प्रत्येक भाग अपनी खास विशेषता के कारण अपने आप में स्वतंत्र है किंतु एक-दूसरे पर प्रभाव डालने तथा स्वयं प्रभावित होने के कारण आपस में अंतर्संबंधित है। इस अंतर्संबंध से पद्धति एक इकाई के रूप में स्पष्ट होती है। पद्धति के विभिन्न भागों को उपपद्धति (Subsystem) कहा जाता है।

एक दूसरी परिभाषा के अनुसार कहा गया है कि ''पद्धति एक या एक से अधिक वस्तुओं (या घटनाओं) का वह योग है जो एक लंबे अर्से तक संबंधित रहते हैं। यह परिभाषा पहली परिभाषा का ही दूसरा रूप है किंतु इसमें एक विशेष बात को जोड़ा गया है–वह यह कि पद्धति के विभिन्न भाग एक लंबे अर्से तक अंतर्संबंधित रहते हैं और इसी दीर्घ अंतर्संबंध के कारण इसकी रूपरेखा स्पष्ट होती है।

परंपरागत राजनीतिशास्त्र की विशेषताएँ

आमतौर पर व्यवहारवादी क्रांति अथवा द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के पूर्व के राजनैतिक सिद्धांतों एवं दृष्टिकोणों को परंपरागत कहा जाता है। शास्त्रीय युग के सभी विद्वान जैसे प्लेटो, हॉब्स, रूसो, ग्रीन आदि इसी क्रम में आते हैं। इसकी विशेषताओं का संक्षेप में उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है–

(*i*) संस्थात्मक दृष्टिकोण–यह राज्य एवं उसकी संरचनाओं, इकाइयों आदि संस्थात्मक दृष्टिकोण से अध्ययन करता है। उसकी जाँच के मुख्य विषय राज्य, सरकार, राजनीतिक संस्थाएँ, राज्य के लक्ष्य (न्याय, सुरक्षा, स्वतंत्रता, समानता, नैतिकता आदि) रहे हैं।

(*ii*) विचार के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण का प्रभाव–परंपरागत राजनीति विज्ञान की यह विशेषता रही है कि उसके सिद्धांत अपने प्रतिपादक के व्यक्तित्व एवं दृष्टिकोण से प्रभावित रहे हैं जो तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं का स्थाई समाधान खोजने की कोशिश करते हैं। अधिकांश विचारक आचारशास्त्र या दर्शनशास्त्र से प्रभावित रहे हैं। उन्होंने मानव-जीवन और समाज के लक्ष्यों और मूल्यों की ओर ध्यान दिया है। यूनानी विचारकों द्वारा नैतिक जीवन की उपलब्धि का विचार, मध्ययुग के क्रिश्चियन राजनीतिज्ञों का ईश्वरीय राज्य स्थापित करने

नोट

का विचार और आदर्शवादियों के विवेक से साक्षात्कार का विचार इसके प्रमाण हैं। उनकी विचारधाराओं को परानुभववादी माना गया है। उनके विचार व्यक्तिपरक और चिंतन-प्रणाली निगमनात्मक है। वे वैज्ञानिक पद्धति को नहीं अपनाते हैं। उनके विचारों का आधार व्यक्तिगत दृष्टिकोण और चिंतन कल्पना एवं अध्यात्मवाद है।

***(iii)* अधि-अनुशासनात्मक**—परंपरागत राजनीतिशास्त्र की एक विशेषता यह है कि इसके विचारों का चिंतन-क्षेत्र अधि-अनुशासनात्मक था; अर्थात् उनके विचारों का संबंध कई सामाजिक शास्त्रों से संबंधित रहता था। केवल राजनीति से नहीं। इसलिए, प्लेटो, अरस्तु, रूसो, मार्क्स आदि विचारक लगभग सभी सामाजिक शास्त्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण किए हुए हैं। इसका नतीजा यह हुआ कि राजनीतिशास्त्र के विषय-क्षेत्र में काफी अस्पष्टता बनी रही।

***(iv)* बौद्धिक**—परंपरागत राजनीति सिद्धांत प्राय: बौद्धिक है और यथार्थ एवं व्यवहार से परे है।

***(v)* तर्क पर आधारित**—परंपरावादियों के निष्कर्ष तर्क पर आधारित हैं न कि आधुनिक राजनीतिशास्त्र की भाँति गणितीय परिणाम तथ्य-संग्रह और सर्वेक्षण जैसी वैज्ञानिक पद्धतियों पर।

***(vi)* कानूनी दृष्टिकोण**—परंपरावादियों के बीच कुछ अनुभववादी विचारक भी देखने को मिलते हैं, लेकिन उनका अनुभववाद या यथार्थवाद राजनीतिक संस्थाओं के संबंध में अकारगर, कानूनी और संस्थागत रहा है। इस दृष्टि से वे राजनीति को न्यायशास्त्रीय या कानूनी पहलुओं से देख पाए हैं।

***(vii)* विधियाँ**—परंपरावादियों के अनुसंधान तथा विश्लेषण की प्रमुख विधियाँ ऐतिहासिक एवं विवरणात्मक रही हैं। इसका अधिकांश साहित्य राजनीति के खुले बाजार के बजाय पुस्तकालयों में बैठकर लिखा गया है।

***(viii)* समरूपता का अभाव**—आधुनिक राजनीति शास्त्रियों के विपरीत परंपरावादी विचारक सामान्य राजनीतिक सिद्धांत ढूँढ़ने की चेष्टा नहीं करते हैं। चूँकि उनके विचार व्यक्तिपरक और भावात्मक होते हैं। इसलिए उनके विचारों में समरूपता नहीं पाई जाती है।

***(ix)* अंतर-अनुशासनिक नहीं**—परंपरावादियों में अन्य अनुशासनों तथा विषयों के विशेषत: विकसित सामाजिक शास्त्रों से अध्ययन की तकनीकी और निष्कर्षों को ग्रहण करने का झुकाव नहीं पाया जाता है। इसलिए परंपरागत राजनीतिशास्त्र अंतर-अनुशासनिक नहीं बन पाया है।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र की विशेषताएँ

आधुनिक राजनीतिशास्त्र जिसे नवीन राजनीतिशास्त्र भी कहते हैं, का उदय मुख्यत: व्यवहारवादी क्रांति के साथ द्वितीय महायुद्ध के बाद हुआ। परंपरागत राजनीतिशास्त्र से उसकी भिन्नता को बतलाने के पहले हम इसकी विशेषताओं को बताएँगे। आधुनिक राजनीतिशास्त्र की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

***(i)* व्यवहारवादी**—परंपरागत राजनीतिशास्त्र संस्थावादी था जबकि आधुनिक राजनीतिशास्त्र व्यवहारवादी है। यह शासन के ढाँचे और उसकी संस्थाओं से भिन्न मानव के समस्त राजनीतिक व्यवहार का अध्ययन करता है। फलत: आज राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का मुख्य विषय राज्य के बदले मनुष्य का व्यवहार हो गया है। यह राज्य से परे की राजनीति पर जोर देता है।

***(ii)* वैज्ञानिकता**—आधुनिक राजनीतिशास्त्र अपने विषय को वैज्ञानिक और सटीक बनाना चाहते हैं। वे राजनीति घटनाओं एवं तथ्यों को वैज्ञानिकता की कसौटी पर कसकर उनकी जाँच और विश्लेषण करते हैं। इसके लिए वे प्राकृतिक विज्ञानों तथा सामाजिक शास्त्र से अध्ययन की नई-नई तकनीक को लेकर राजनीति विज्ञान में उनका प्रयोग करते हैं।

***(iii)* भविष्य-कथन**—आधुनिक राजनीतिशास्त्री अपने विषय को अधिक-से-अधिक भविष्यवाणी करने के योग्य बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं। विषय को उपयोगी और संगत बनाने के दृष्टिकोण से ऐसा किया जा रहा है।

***(iv)* सिद्धांत-निर्माण का लक्ष्य**—आधुनिक राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य राजनीति के सैद्धांतिक संचारों को विकसित करना है। इसके आधार पर वे राजनीति-घटनाओं एवं तथ्यों की खोज करते हैं और उनका विश्लेषण करते हैं। इस विश्लेषण के द्वारा सामान्यीकरण करते हैं और सामान्यीकरण के आधार पर अंत में सिद्धांत का निर्माण करते हैं। थोड़े शब्दों में आधुनिक राजनीतिशास्त्र का अंतिम लक्ष्य सिद्धांत-निर्माण है।

***(v)* मूल्यविहीन**—आधुनिक राजनीतिशास्त्र को लगभग मूल्यविहीन बताया जाता है। चूँकि इसका जोर एक वैज्ञानिक और सटीक विषय पर है, इसलिए राजनीतिक विश्लेषण में यह मानवीय मूल्यों जैसे नैतिकता, स्वतंत्रता आदि को अपने अध्ययन का विषय बनाता है, जिन्हें देखा गया है या देखा जा सकता है।

***(vi)* सत्यापन**–आधुनिक राजनीतिशास्त्री राजनीति की सैद्धांतिक बातों को आँख बंद कर स्वीकार नहीं करते हैं, वे उनका अधिक सटीक विश्लेषण तथा तथ्यात्मक प्रमाणों द्वारा सत्यापित करने पर बल देते हैं। थोड़े शब्दों में वे केवल उन्हीं राजनीतिक सिद्धांतों एवं निष्कर्षों को स्वीकार करने के लिए तैयार हैं, जिन्हें ठीक-ठीक सत्यापित किया जा सके।

***(vii)* वस्तुनिष्ठता**–वस्तुनिष्ठता आधुनिक राजनीतिशास्त्र की सबसे बड़ी कसौटी है। आज के राजनीतिशास्त्री अपने विषय को कल्पना और चिंतन से हटाकर वास्तविकता का रूप देना चाहते हैं। वस्तुनिष्ठता की प्राप्ति के लिए वे प्राकृतिक एवं सामाजिक विज्ञान में प्रयुक्त तरह-तरह की तकनीकों के प्रयोग पर जोर देते हैं।

***(viii)* अंतर-अनुशासनिक**–आधुनिक राजनीतिशास्त्र अंतर-अनुशासनिक है। यह मानव जीवन एवं क्रियाओं को संपूर्ण रूप से देखता है। जिसका राजनीतिक जीवन एक पक्ष मात्र है। राजनीतिक जीवन और व्यवहार पर मानव जीवन के अन्य पक्षों, क्रियाओं और व्यवहारों का प्रभाव पड़ता है। फलतः आधुनिक राजनीतिशास्त्री अन्य सामाजिक शास्त्री से घनिष्ट संबंध स्थापित करते हैं और उनके विषयों, अध्ययन की प्रणालियों और तकनीक का बड़ी मात्रा में इस्तेमाल करते हैं।

परंपरागत एवं आधुनिक राजनीतिशास्त्र में अंतर

***(i)* विषय-वस्तु के दृष्टिकोण से**–परंपरागत दृष्टिकोण के अंतर्गत राजनीतिशास्त्र मूल्यों एवं लक्ष्यों को प्रमुख स्थान देता था। उसके विषय राज्य एवं सरकार की उत्पत्ति, विकास संगठन, प्रकार, राजनीतिक दल, राजनीतिक विचारधाराएँ, प्रमुख सरकार एवं संविधानों का अध्ययन, अंतर्राष्ट्रीय संबंध, लोक प्रशासन आदि थे। थोड़े शब्दों में परंपरागत राजनीति विज्ञान का केंद्र-बिंदु 'राज्य' था।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र 'राज्य के बिना राजनीति का अध्ययन करता है। इसके अनुसार, राजनीति का कई गुना अधिक प्रभाव और प्रसार राज्य और उसकी संस्थाओं से बाहर रहता है। राज्यविहीन समाज और संगठनों में तथा राज्य के अतिरिक्त अन्य औपचारिक संगठनों में भी राजनीति का निवास है जिसका अध्ययन किया जाना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक राजनीतिशास्त्रों ने अपने विषय को राज्य और राजनीतिक संस्थाओं के सीमित दृष्टिकोण से मुक्ति दिलाना चाहते हैं।

***(ii)* क्षेत्र की व्यापकता के दृष्टिकोण से**–आधुनिक विचार के अनुसार राजनीति का क्षेत्र काफी व्यापक हो गया है। इसे वैज्ञानिकता प्रदान करने के लिए रूढ़िवादी विषयों जैसे राज्य का लक्ष्य, सर्वश्रेष्ठ सरकार, औपचारिक संस्थाओं का अध्ययन ऐतिहासिक पद्धति आदि को इससे अलग कर दिया गया है। मूल्यों, राज्य एवं उसकी संस्थाओं के बदले अन्य विषयों का अध्ययन राजनीतिशास्त्र के अंतर्गत किया जाने लगा है। नवीन राजनीतिक सिद्धांत के अंतर्गत शक्ति, नियंत्रण एवं प्रभाव, अभिजन, विनिश्चय-प्रक्रिया तथा कृत्य जैसी इकाइयों का अध्ययन किया जाता है। स्वतंत्रता, समानता, प्रजातंत्र जैसी राजनीतिक अवधारणाओं की नए ढंग से व्याख्या की जाती है। आधुनिक राजनीतिशास्त्र अब नई-नई अवधारणाओं का अध्ययन करता है, जैसे राजनीतिक सामाजीकरण, राजनीतिक संस्कृति, राजनीतिक विकास संचार आदि।

***(iii)* राजनीति के अर्थ के दृष्टिकोण से**–परंपरागत दृष्टिकोण से राज्य और उसकी संरचनाओं से संबंधित विषय और समस्या को 'राजनीतिक' अथवा राजनीति विज्ञान का विषय माना जाता है। इसके विपरीत, आधुनिक राजनीति विज्ञान के अनुसार राजनीति की प्रकृति विशिष्ट है और राजनीतिक तथ्यों, घटनाओं, प्रक्रियाओं, प्रतिनिधियों का किसी-न-किसी रूप में शक्ति, शासन का सत्ता से संबंध रहता है। नवीन राजनीति विज्ञान इन्हीं से संबंधित व्यवहार का अध्ययन करता है, जिसे 'राजनीतिक व्यवहार' कहते हैं।

***(iv)* राजनीतिक विश्लेषण के उद्देश्य के दृष्टिकोण से**–आधुनिक राजनीति का उद्देश्य उत्तम जीवन की प्राप्ति नहीं है, बल्कि राजनीतिक घटनाओं को यथार्थ रूप से समझना और वर्णन करना है। इससे भी आगे इसका उद्देश्य भविष्यवाणी करना है। इसका मूल उद्देश्य 'सिद्धांत-निर्माण' है। परंपरावादी विचार कल्पना द्वारा आदर्श राज्य के बारे में सिद्धांत का निर्माण करते थे जबकि आधुनिक राजनीतिशास्त्रों, वैज्ञानिक पद्धतियों और तकनीकों के द्वारा राजनीतिक घटनाओं की व्याख्या करते हैं।

***(v)* अध्ययन-पद्धति के दृष्टिकोण से**–आधुनिक दृष्टिकोण और परंपरावादी दृष्टिकोण में प्रमुख अंतर उसकी अध्ययन-पद्धति के बारे में है। परंपरागत राजनीतिशास्त्र में अध्ययन की प्रमुख पद्धतियाँ दार्शनिक, ऐतिहासिक और वर्णनात्मक थीं। शोध के स्रोत चिंतन, कल्पना और पुस्तकालय थे। वैज्ञानिक पद्धतियों और तकनीकों का सर्वथा अभाव था।

नोट

इसके विपरीत आधुनिक राजनीति में अन्वेषण की अनुभववादी पद्धतियों का उपयोग किया जाता है। व्यवहारवादी राजनीतिक विश्लेषण, वैज्ञानिक प्रणालियों, विशुद्ध निष्कर्षों, संचयी शोध और वृहत् सामान्यीकरणों पर जोर देता है। वह तरह-तरह की प्रणालियों और तकनीकों का इस्तेमाल करता है। जैसे साक्षात्कार विषय-वस्तु विश्लेषण आदि। समान प्रकार के अन्वेषण द्वारा सामान्यीकरण की खोज की जाती है और इसके बीच संबंध स्थापित कर 'सिद्धांत' का विकास किया जाता है।

(*vi*) सामान्य सिद्धांत की खोज के दृष्टिकोण से–आधुनिक राजनीति का लक्ष्य केवल छुट-फुट सिद्धांतों की खोज करना नहीं, बल्कि सामान्य सिद्धांतों का निर्माण करना है। उदाहरण के लिए मतदान के संबंध में अध्ययन कर नियमों का पता लगाया जा सकता है और उनके आधार पर मतदान व्यवहार के संबंध में प्रतिमान तैयार किया जाता है।

परंपरागत राजनीति में आदर्श की कल्पना की जाती है, सामान्य सिद्धांत का निर्माण नहीं। चूँकि अध्ययन की विधियाँ ऐतिहासिक और दार्शनिक हैं इसलिए इस आधार पर आम सिद्धांत की खोज संभव भी नहीं है।

(*vii*) अवधारणात्मक विषय-परिधि के दृष्टिकोण से–व्यवहारवादी राजनीति से अवधारणाओं और प्रतिमानों के अतिरिक्त अवधारणात्मक विषय-परिधि का उल्लेख मिलता है। ईस्टन ने इसी संदर्भ में अवधारणात्मक विचारबंध के रूप में सिद्धांत का महत्त्व बताया है जो एक छलनी के रूप में पर्यवेक्षित तथ्यों के चयन के छेटेया (Choice of rejection) के लिए उपयोगी होती है।

(*viii*) अंतः अनुशासनिक दृष्टिकोण से–आधुनिक राजनीतिशास्त्र की एक उल्लेखनीय विशेषता उसकी अंतः अनुशासनिक प्रकृति है। इस दृष्टिकोण से राजनीतिशास्त्र पर मनोविज्ञान, अर्थशास्त्र, सांख्यिकी, सूक्ष्म समाजशास्त्र, सामाजिक एवं प्राकृतिक विज्ञानों का काफी असर पड़ा है। **लिपसेट** ने लिखा है कि *''राजनीति विज्ञान का अध्ययन अनेक अध्ययन के विषयों का मिलन स्थल है।''*

पुराने राजनीति विचारक अपने विषय को स्वतंत्र रखते हुए अन्य विषयों से कुछ ग्रहण नहीं करते थे बल्कि अन्य विषयों से उनका विचार इतना घुला-मिला रहता था कि राजनीतिशास्त्र का पृथक् अस्तित्व ही नहीं उभर पाया। थोड़े में, परंपरागत राजनीति अंतः अनुशासनिक नहीं थी।

(*ix*) मूल्यों के दृष्टिकोण से–आधुनिक राजनीतिशास्त्र की एक प्रमुख विशेषता उसकी मूल्य-निरपेक्षता है। परंपरावादी राजनीतिशास्त्र के विषय का आधार नैतिक मूल्य थे जबकि नवीन राजनीतिशास्त्र को कठोर विज्ञान का दर्जा देने के लिए उसमें मूल्यों को कोई स्थान नहीं दिया जाता। आधुनिक राजनीतिशास्त्री अब मूल्यों को उचित स्थान देकर राजनीति विज्ञान को संगत और उपयोगी बनाने का प्रयास करने लगे हैं।

राजनीतिशास्त्र का समग्र दृष्टिकोण

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि परंपरावादी राजनीतिशास्त्र और आधुनिक राजनीतिशास्त्र में कुछ मौलिक अंतर हैं लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि वे एक-दूसरे से विलग हो गए हैं या एक का स्थान दूसरे ने ले लिया है। वस्तुतः ये दोनों दृष्टिकोण एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों में अन्योन्याश्रित संबंध है। वस्तुतः, दोनों को मिलाकर राजनीतिशास्त्र का एक समग्र दृष्टिकोण प्रस्तुत किया जा सकता है।

परंपरावादी राजनीति के साहित्य को आधारशिला पर आधुनिक राजनीतिशास्त्र के शोधों और खोजों को परिष्कृत और अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। वस्तुतः, किसी भी पुराने विषय के अध्ययन-क्षेत्र या तकनीक में जब परिवर्तन होता है तब वह पीछे की उपलब्धियों से एकदम नाता तोड़ नहीं लेता, बल्कि भूतकालीन उपलब्धियों पर अपने-आपको स्थापित करता है। नवीन राजनीतिशास्त्र के बारे में भी यही कहा जा सकता है। पारंपरिक राजनीतिशास्त्र के सिद्धांतों तथा विषयों को बिना समझे और प्रयुक्त किए आधुनिक राजनीतिशास्त्र तुच्छ तथा फलहीन हो जाएगा।

पारंपरिक तथा आधुनिक राजनीतिशास्त्र की एकता की चर्चा **रॉबर्ट डैल** ने इन शब्दों में की है, *''यह सोचने का पूरा आधार है कि एकता (पारंपरिक तथा आधुनिक राजनीतिशास्त्र में) को फिर से स्थापित किया जा सकता है।''* सुकरात, अरस्तु, मैकियावेली, हॉब्स तथा डी टॉकविले जैसे राजनीतिशास्त्रियों की जब हम चर्चा करते हैं तो हमें इसका स्मरण हो उठता है कि समय-समय पर राजनीतिशास्त्र का अध्ययन बदलता रहा है। यह परिवर्तन समय-समय पर होने वाले अनुभवादी अन्वेषणों के कारण अर्थात् वैज्ञानिक दृष्टिकोण के कारण ही संभव होता रहा है।

संक्षेप में आधुनिक राजनीतिशास्त्र पारंपरिक राजनीतिशास्त्र का ही एक परिष्कृत रूप है, दोनों एक ही विषय के ऐतिहासिक विकास के दो चरण हैं, एक को दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता है। दोनों दृष्टिकोणों को मिलाकर राजनीतिशास्त्र का संपूर्ण और प्रौढ़ चित्र प्रस्तुत किया जा सकता है।

राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-पद्धतियाँ

नोट

राजनीतिशास्त्र के वैज्ञानिक अध्ययन में अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं, क्योंकि रसायन-शास्त्र तथा भौतिक-शास्त्र की भाँति इसमें प्रयोगशालाएँ नहीं हैं। दूसरे, राजनीतिशास्त्र का संबंध मनुष्य तथा उसके द्वारा बनाए गए संविधान, कानून तथा राजनीतिक संस्थाओं से है। मानव का स्वभाव परिवर्तनशील होने के कारण इसके द्वारा बनाए हुए संविधान, कानून तथा राजनीतिक संस्थाओं में भी अस्थिरता देखने को मिलती है। इसके विपरीत प्राकृतिक विज्ञान यथा भौतिक-शास्त्र का संबंध जड़ पदार्थों से है जो कि स्थिर हैं। तीसरे, मानवीय प्रवृत्तियाँ राजनीतिक और सामाजिक जीवन को प्रभावित करती हैं और उनको रासायनिक पदार्थों की भाँति हम किसी यंत्र द्वारा नाप-तौल कर उससे प्रयोग नहीं कर सकते। चौथे, रासायनिक पदार्थों से हम निष्पक्ष होकर प्रयोग करते हैं, परंतु राजनीतिक प्रयोगों को हम इतनी निष्पक्षता से नहीं कर सकते हैं, क्योंकि किसी कारण से हमारा दृष्टिकोण प्रभावित होता है। इसलिए यह परमावश्यक है कि हम राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में बहुत सावधानी से काम लें।

अगस्त काम्टे के अनुसार राजनीतिक विज्ञान के अध्ययन की तीन मुख्य पद्धतियाँ हैं–

(*i*) पर्यवेक्षण (Observation)

(*ii*) प्रयोग (Experiment)

(*iii*) तुलना (Comparision)।

ब्लुंशली का मत है कि सही पद्धतियाँ दो हैं–दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method) तथा ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) ब्लुंशली ने इन दोनों पद्धतियों की तुलना क्रमशः आदर्शवादी एवं अनुभूति मूलक पद्धतियों से की है, लेकिन इन दोनों को मिथ्या तथा एकांगी (One-sided) बताया है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए सामान्यतः दो पद्धतियों को अपनाया है–

(*i*) व्याप्ति-मूलक (Inductive)

(*ii*) निगमनात्मक (Deductive)।

व्याप्ति-मूलक पद्धति में विशिष्ट तथ्यों से सामान्य तथ्यों की ओर बढ़ा जाता है। इस पद्धति के तहत तुलनात्मक अध्ययन प्रणाली का प्रयोग किया जाता है।

दूसरी पद्धति निगमनात्मक (Deductive) है। इस पद्धति में कुछ स्वयं-सिद्ध सिद्धांतों को स्वीकार कर लिया जाता है। इन्हीं सिद्धांतों के आधार पर विशिष्ट परिस्थितियों का अध्ययन किया जाता है और निष्कर्ष निकाला जाता है। इस पद्धति में सामान्य तथ्यों से विशिष्ट तथ्यों की ओर बढ़ा जाता है।

कुछ लेखकों ने राजनीति विज्ञान की तुलना समाजशास्त्र, जीवविज्ञान, न्यायशास्त्र, मनोविज्ञान आदि से की है और उनके साथ एक सोद्देश्य स्थापित करने का प्रयत्न किया है। जैसे–किसी विचारक ने राज्य की उपमा शरीर के अंगों से की है तो किसी ने इसे एक सामाजिक अवयव माना है। इन पद्धतियों को सोद्देश्यात्मक पद्धति कह सकते हैं।

इस प्रकार राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए निम्न पद्धतियाँ अपनाई गई हैं–

1. प्रयोगात्मक पद्धति (Experimental Method)–मानव का स्वभाव परिवर्तनशील होने के कारण मानव- विज्ञान में प्राकृतिक विज्ञान की भाँति कोई अंतिम निष्कर्ष नहीं दिया जा सकता है। इस संदर्भ में **लार्ड ब्राइस** का कहना है कि *''एक रसायन-शास्त्री जिन वस्तुओं पर परीक्षण करता है वे सदैव समान होती हैं उनका माप और वजन हो सकता है, परंतु मानव-अवस्थाओं और स्थितियों का मात्र वर्णन हो सकता है।''* हम ताप और शीत को माप सकते हैं, लेकिन जन-समूह के मनोभावों और प्रेरणाओं को कभी नहीं तौल सकते। इसके अलावा राजनीति विज्ञान के प्रयोग में वातावरण तथा प्रयोगकर्त्ता के व्यक्तित्व का भी प्रभाव पड़ता है। प्रयोगकर्त्ता प्रयोग के समय अपने पक्षपातपूर्ण या सरस व्यक्तित्व से अपने को अलग नहीं कर सकता।

इन सभी कठिनाइयों के बावजूद राज्य-विज्ञान के अंदर व्यवहारिक परीक्षण नित्य-प्रति होते रहते हैं तथा राजनीति का विद्यार्थी उन्हें गौर से देखता रहता है और अंत में अपना एक निष्कर्ष निकालता है। **प्रो. गार्नर** ने लिखा

है कि *''प्रत्येक नए नियम का निर्माण, प्रत्येक नूतन संस्था की प्रतिष्ठा, प्रत्येक नवीन नीति की घोषणा–ये सब परीक्षण ही हैं।''*

प्रयोगात्मक पद्धति के तहत कार्य करते हुए प्रयोगकर्त्ता को अपने व्यक्तिगत दृष्टिकोण तथा पक्षपात से बचते हुए परिवेशगत तत्त्वों के प्रति भी सचेत रहना चाहिए।

नोट

2. पर्यवेक्षणात्मक पद्धति (Observational Method)–पर्यवेक्षण पद्धति के अंतर्गत राजनीति विज्ञान वेत्ता स्वयं प्रत्यक्ष रूप से घटनाओं तथा संख्याओं का अध्ययन करता है। इस पद्धति के तहत राजनीति विज्ञान वेत्ता घटित हो रही घटनाओं का प्रत्यक्ष अनुभव कर कुछ निश्चित निष्कर्ष को प्राप्त करता है। **लावेल** (Lowell) का कथन है कि *''राजनीति पर्यवेक्षण का विज्ञान है–प्रयोग या परीक्षण का नहीं। राजनीतिक संस्थाओं की वास्तविक प्रक्रिया की मुख्य प्रयोगशाला पुस्तकालय नहीं, बल्कि राजनीतिक जीवन संबंधी बाह्य जगत है।''*

इस पद्धति का प्रयोग कर **प्लेटो, अरस्तु** तथा **मांटेस्क्यू** ने राजनीति विज्ञान में अपने-अपने विचार प्रतिपादित किए। आधुनिक समय में राजनीति विज्ञान के प्रसिद्ध विचारक ब्राइस ने इस पद्धति का अनुसरण करते हुए कुछ निश्चित सिद्धांतों का प्रतिपादन अपनी दो पुस्तकों 1. अमेरिकी प्रजातंत्र (American Common wealth) 2. आधुनिक प्रजातंत्र (Modern Democracies) में किया।

इस पद्धति की बहुत सारी विशेषताएँ होने के साथ कुछ कमियाँ भी हैं, जिनके कारण निष्पक्ष पर्यवेक्षण हो पाना कठिन है–

(*i*) एक सामान्य पर्यवेक्षक के द्वारा विभिन्न राष्ट्रों का भ्रमण कर पाना एक कठिन कार्य है।

(*ii*) मानवीय कमजोरी के कारण एक पर्यवेक्षणकर्त्ता से बिल्कुल निष्पक्ष पर्यवेक्षण की अपेक्षा करना गलत है।

(*iii*) पर्यवेक्षण क्षणिक न होकर दीर्घावधि का होना चाहिए, जिसके तहत एक पर्यवेक्षणकर्त्ता को काफी धैर्य की आवश्यकता है।

निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि इस पद्धति के तहत एक पर्यवेक्षणकर्त्ता को काफी धैर्य, जागरूक तथा पारिस्थितिकीय तत्त्वों की जानकारी होना अत्यंत आवश्यक है।

3. ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method)–इस पद्धति के मुख्य समर्थक सीले तथा फ्रीमेन हैं। इतिहास के द्वारा ही हमें **अतीत** की राजनीतिक संस्था की उत्पत्ति तथा विकास का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। राज्य रूपी संस्था की उत्पत्ति, विकास तथा वर्तमान स्वरूप के विषय में जानकारी हमें इतिहास का अध्ययन करने से होती है। इतिहास की महत्ता को देखते हुए **लास्की** कहते हैं कि *''राजनीतिशास्त्र का अध्ययन राज्यों के इतिहास में अनुभवों के परिणामों को इकट्ठा करके लिखने का प्रयास ही होना चाहिए।''*

इस पद्धति का प्रयोग बहुत सावधानी से किया जाना चाहिए, क्योंकि कई बार पूर्व कल्पित धारणाएँ, विश्वास तथा ऐतिहासिक समानताएँ हमें गलत परिणामों पर ले जाती हैं। इस पद्धति का प्रयोग हमें निष्पक्ष भाव से करना चाहिए।

4. आनुभाविक पद्धति (Empirical Approach)–वर्तमान राजनीति के परिवेश में राजनीतिशास्त्र के अध्ययन का आधुनिक दृष्टिकोण मूलत: वैज्ञानिक है। परंपरागत उपागमों से अलग यह व्यवहारवादियों के अनुसार आनुभाविक उपागम के नाम से जाना जाता है। वास्तव में इसका संबंध 'क्या होना चाहिए से नहीं' बल्कि 'क्या है' से है।

यह पद्धति परंपरावादी विचारक अरस्तु के समय से ही चली आ रही है। अनुभववादी विचारक **बेंथम** और **जे.एस. मिल** ने इस पद्धति का सहारा लेकर राजनीति विज्ञान की बहुत-सी समस्याओं का समाधान करने का प्रयास किया था।

5. तुलनात्मक पद्धति (Comparative Method)–राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए तुलनात्मक पद्धति का प्रयोग सर्वप्रथम अरस्तु ने किया। अरस्तु के बाद इस सिद्धांत का प्रयोग मांटेस्क्यू डि टाकवेल तथा लॉर्ड ब्राइस ने किया। इस पद्धति के अनुसार अध्ययनकर्त्ता तथा अन्वेषक विभिन्न राज्यों की शासन-व्यवस्थाओं, उनकी नीतियों, उनकी विविध गतिविधियों तथा उनके संविधानों एवं विधियों तथा उनके अंतर्गत स्थित विभिन्न प्रकार की संस्थाओं का तुलनात्मक अध्ययन करता है तथा उनके आधार पर निष्कर्ष निकालता है। इसी पद्धति के आधार पर अरस्तु तथा लॉर्ड ब्राइस ने क्रमश: क्रांति तथा प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं के संबंध में विचार प्रदान किया।

नोट

इस सिद्धांत की अपनी कुछ कमजोरियाँ भी हैं। इस पद्धति के अंतर्गत अध्ययनकर्त्ता को भ्रमित होने की ज्यादा संभावना रहती है। इस पद्धति का प्रयोग करते समय कुछ सावधानियाँ बरती जानी चाहिए।

(*i*) तुलनात्मक अध्ययन केवल बाहरी समानताओं के आधार पर नहीं होना चाहिए। समानताओं के साथ-साथ असमानताओं पर पूरा ध्यान दिया जाना चाहिए।

(*ii*) इस पद्धति का प्रयोग करते समय स्थान और काल का ध्यान रखा जाना चाहिए। उदाहरणस्वरूप भारत तथा इंग्लैंड दोनों देशों में संसदीय शासन-प्रणाली के अपनाए जाने के बावजूद दोनों देशों की शासन-व्यवस्थाओं के कार्यरूप में अंतर पाया जाता है।

(*iii*) तुलनात्मक अध्ययन करते समय देश की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्थितियों पर भी पूरा ध्यान रखना चाहिए।

6. दार्शनिक पद्धति (Philosophical Method)—दार्शनिक पद्धति एक निगमनात्मक (Deductive) पद्धति है। इस पद्धति में सर्वप्रथम मनुष्य की मूल प्रकृति का स्वरूप निश्चित किया जाता है। उसको आधार मानकर राज्य के स्वरूपों, आदर्शों तथा उद्देश्यों की कल्पना की जाती है। इस पद्धति के तहत विचारक सर्वप्रथम यह कल्पना करता है कि राज्य का आदर्श स्वरूप क्या होना चाहिए। यह निश्चित करने के उपरांत विचारक कल्पना किए गए साध्य की प्राप्ति के लिए साधन की खोज करता है। इस दरम्यान विचारक अपने काल्पनिक आदर्श को वास्तविक जगत की ऐतिहासिक घटनाओं में ढूँढ़कर उनमें सामंजस्य और सान्निध्य स्थापित करने की चेष्टा करता है। इस दार्शनिक पद्धति का विकास प्लेटो से ही शुरू हो जाता है। उन्होंने अपने महान ग्रंथ 'रिपब्लिक' (Republic) में एक आदर्श राज्य (Ideal State) की कल्पना की है और उसी के आधार पर वस्तुगत राज्य के निर्माण का आग्रह किया है। टॉमस मूर की उटोपिया (Utopia) भी इसका एक उदाहरण है।

इस प्रणाली की सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि काल्पनिक विचार काल्पनिक ही रह जाते हैं और ऐतिहासिक घटनाओं की कसौटी पर खरे नहीं उतरते। इस पद्धति को ज्यादा उपयोगी बनाने के लिए इसका ऐतिहासिक पद्धति के साथ सामंजस्य बैठाया जाना चाहिए।

7. परिमाणात्मक पद्धति (Quantitative Method)—राजनीतिशास्त्र के क्षेत्र के अंतर्गत इस पद्धति का विकास बीसवीं शताब्दी में हुआ है। 1908 ईसवी में **ग्राहम वालास** (Graham Wallas) ने 'Human Nature in Politics' नामक एक पुस्तक लिखी और उसी में उन्होंने राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए इस पद्धति की अनिवार्यता पर विशेष जोर दिया। ग्राहम वालास ने कहा कि राजनीतिशास्त्र की अस्पष्टता को ध्यान में रखते हुए यह आवश्यक है कि राजनीतिक विषयों के अध्ययन के लिए अर्थशास्त्र तथा अन्य कई विज्ञानों द्वारा अपनाई गई परिमाणात्मक पद्धति को ही अपनाया जाए।

इस पद्धति के तहत किसी भी राजनीतिक परिघटना या विषय के अध्ययन के लिए उससे संबंधित सभी प्रकार के तथ्य और आँकड़े एकत्रित किए जाते हैं, उनका वर्गीकरण किया जाता है और तब विभिन्न तथ्यों तथा आँकड़ों के बीच एक तारतम्य स्थापित करते हुए कुछ निश्चित निष्कर्षों पर पहुँचा जाता है। चूँकि यह पद्धति तथ्यों और आँकड़ों पर आधारित है इसलिए इसमें किसी भी विषय की वास्तविकता और सत्यता पर काफी प्रकाश पड़ता है। इसके द्वारा पुराने निष्कर्षों की सत्यता की जाँच करते हुए भविष्य के लिए नए-नए नियमों का भी अन्वेषण हो सकता है।

इस पद्धति की सबसे बड़ी कमी यह है कि सभी देशों में समान प्रश्नों पर समान तथ्य या आँकड़े नहीं मिल सकते जिससे कोई सर्वमान्य निष्कर्ष निकाला जा सके। फिर इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि यह पद्धति राजनीतिशास्त्र को निश्चितता प्रदान करने में बहुत उपयोगी है।

8. सादृश्यात्मक पद्धति (Arological Method)—उपर्युक्त पद्धतियों के अतिरिक्त राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की कुछ और पद्धतियाँ हैं, जिन्हें सामूहिक रूप से सादृश्यात्मक पद्धति के नाम से जाना जाता है। इस श्रेणी में समाजशास्त्रीय (Sociological Method), जीवविज्ञानीय (Biological Method), मनोवैज्ञानिक (Psychologist), न्याय-मूलक (Juristic) आदि पद्धतियाँ शामिल हैं। वास्तव में ये पद्धतियाँ नहीं बल्कि राज्य के अध्ययन के विशिष्ट दृष्टिकोण हैं। इनमें से प्रत्येक पद्धति राज्य का तुलनात्मक अध्ययन करती है। इसके लिए वह अपने प्रतिपाद्य विषय तथा राज्य के बीच एक सादृश्य उपस्थित करती है और तब एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचती है।

इस पद्धति की अपनी कुछ कमियाँ हैं। इस पद्धति के अंतर्गत राज्य की तुलना जिस वस्तु से की जाती है, राज्य को भी वही वस्तु समझ लिया जाता है, जैसा कि स्पेंसर ने किया। उसने राज्य की तुलना अवयव से करते

हुए राज्य को स्वयं एक अवयव मान लिया और बाद में चलकर यह भी स्वीकार कर लिया कि राज्य अवयव नहीं है। निष्कर्षत: यह पद्धति राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में कोई ठोस योगदान नहीं देती।

9. व्यवहारवादी पद्धति (Behavioural Method)–यह एक आधुनिक पद्धति है। इस पद्धति का बीज ग्राहम वालास तथा आर्थर वेंटले ने डाला था। इस पद्धति के प्रमुख प्रवर्तक *कर्कपैट्रिक, ऑस्टिन, रेने, रॉबर्ट डहल* आदि हैं।

नोट

व्यवहारवादी पद्धति के अनुसार राजनीतिक व्यवस्था संपूर्ण सामाजिक व्यवस्था का एक मुख्य भाग है। राजनीति मानव-संबंधों का वह भाग है जिसके द्वारा शक्ति, प्रभाव तथा प्राधिकार का प्रदर्शन किया जाता है। इस पद्धति के अंतर्गत राजनीतिशास्त्री व्यवहारिक शोध (Empirical Research) के आधार पर ही राजनीतिक निष्कर्षों और परिणामों का निर्धारण करते हैं। इस पद्धति के अंतर्गत व्यक्ति के आचरण, बर्ताव का अध्ययन करने के साथ राजनीतिक दलों तथा राजनीतिक समूहों का भी अध्ययन करते हैं। इस पद्धति में अधिक-से-अधिक आँकड़ों तथा तथ्यों को व्यवहारिक शोध के द्वारा इकट्ठा किया जाता है और उन्हीं के आधार पर राजनीतिक निष्कर्ष स्थापित किए जाते हैं। इस पद्धति के समर्थकों के मतानुसार राजनीतिशास्त्र में सही और निश्चित निष्कर्ष प्राप्त करने के लिए पूर्व कल्पित धारणाओं तथा परिकल्पनाओं को व्यवहारिक शोध के माध्यम से जाँचना होगा।

उपर्युक्त पद्धतियों के अध्ययन से यह सुस्पष्ट होता है कि राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए कोई एक पद्धति परिपूर्ण और व्यापक नहीं है। अत: एक राजनीतिकशास्त्री को परिस्थिति तथा तथ्यों के आधार पर एक से अधिक पद्धति को उपयोग में लाना श्रेयकर होगा।

1.8. राजनीतिशास्त्र के अन्य सामाजिकशास्त्रों से संबंध (Relationship Between Political Science and other Social Sciences)

राजनीतिशास्त्र एक अंत:अनुशासनिक विषय है। अत: अन्य सामाजिक शास्त्रों से उसका घनिष्ठ संबंध है। खासकर इतिहास, अर्थशास्त्र और इसका अत्यंत निकट का संबंध है और इन सभी सामाजिक शास्त्रों को एक-दूसरे का पूरक माना जाता है।

राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र (Political Science and Sociology)

समाजशास्त्र को अन्य सामाजिक विज्ञानों की जननी कहा जाता है। यह मनुष्य के सामाजिक जीवन का विज्ञान है। यह समाज की उत्पत्ति, विकास, संगठन और उसके लक्ष्यों का वर्णन करता है। **गेटेल** के अनुसार, *''समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक शास्त्र है। यह सामाजिक समुदायों पर विचार करता है और संपूर्ण सामाजिक जीवन संबंधी नियमों और तथ्यों की खोज करने की कोशिश करता है।''* समाजशास्त्र में मनुष्य की राजनीतिक, धार्मिक और आर्थिक प्रगति का विवरण होता है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य की राजनीतिक उन्नति से मुख्यतया संबंधित है। चूँकि राजनीतिशास्त्र राजनीतिक तथ्यों का केवल एक भाग है अत: समाजशास्त्र की अपेक्षा इसका विषय संकुचित है। दूसरे शब्दों में, हम कह सकते हैं कि समाजशास्त्र सब सामाजिक शास्त्रों की जननी है और राजनीतिशास्त्र केवल उसकी एक शाखा मात्र है।

समाजशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में भिन्नता

हालाँकि समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में घनिष्ट संबंध है फिर भी दोनों का क्षेत्र एक-दूसरे से पृथक् है। इसलिए **गिडिंग्स** ने कहा है कि *''आधुनिक काल में राजनीतिशास्त्र ने जो सबसे महत्त्वपूर्ण कदम उठाया है, वह यह है कि उसने मालूम कर लिया है कि उसके अध्ययन के क्षेत्र की सीमा वह नहीं है जो समाज के अध्ययन के क्षेत्र की है और दोनों के क्षेत्र अलग किए जा सकते हैं। समाजशास्त्र मुख्यतया समाज के अध्ययन और राजनीतिशास्त्र राज्य की उत्पत्ति, विकास तथा आधुनिक रूप से संबंधित है।''* **गार्नर** के अनुसार, *''राज्य की स्थापना से पूर्व मानव-समाज की संस्थाओं और उसके जीवन का अध्ययन इतिहास एवं समाजशास्त्र का विषय है। राजनीतिशास्त्र का उससे कोई संबंध नहीं। राजनीतिशास्त्र का सामाजिक संगठन के केवल एक रूप से संबंध है और वह है राज्य। समाजशास्त्र मानव की सब संस्थाओं से संपर्क रखता है। राजनीतिशास्त्र मानव को एक राजनीतिक प्राणी मानकर अपना कार्य आरंभ करता है, वह समाजशास्त्र की तरह इस बात की व्याख्या नहीं करता कि वह क्यों और कैसे राजनीतिक प्राणी बन गया।''* राजनीतिशास्त्र राज्य और सरकार से मुख्यतया संबंधित है।

यह राज्य के बनने से पूर्व समाज की स्थिति का अध्ययन नहीं करता। **गिलक्राइस्ट** के अनुसार, *''समाजशास्त्र समाज की आधारभूत घटनाओं का अध्ययन करता है। आधुनिक सामाजिक संगठन का विश्लेषण करके भविष्य के आदर्श सामाजिक जीवन की कल्पना भी इसी के अंदर शामिल है।''*

नोट

समाजशास्त्र मानव जीवन का आरंभ से लेकर अंत तक अध्ययन करता है। यह राज्य के बनने से पहले मनुष्य की हालत का अध्ययन करता है और राज्य के बनने के पश्चात् भी मनुष्य की दशा का अध्ययन इसके अंतर्गत आ जाता है, परंतु राजनीतिशास्त्र राज्य के बनने से पूर्व मानव-समाज से संबंधित नहीं है। राजनीतिशास्त्र का अध्ययन राज्य बनने के पश्चात् आरंभ होता है। दूसरे शब्दों में, हम यह कह सकते हैं कि समाजशास्त्र मानव जाति के संगठित तथा असंगठित दोनों युगों का अध्ययन करता है, परंतु राजनीतिशास्त्र केवल संगठित युग का ही अध्ययन करता है जो राज्य के बनने के बाद आरंभ होता है।

समाजशास्त्र वर्णनात्मक है और राजनीतिशास्त्र वर्णनात्मक न होकर आदर्शवादी है। यह शास्त्र समाज की उत्पत्ति, विकास तथा आधुनिक रूप के विषय में विस्तृत वर्णन हमारे सामने पेश करता है। परंतु उससे कोई परिणाम नहीं निकलता। इस प्रकार, समाजशास्त्र सामाजिक घटनाओं का वर्णन करता है। परंतु अच्छी और बुरी घटनाओं पर पहचान नहीं करता। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह शास्त्र शिक्षाप्रद नहीं है। इसके विरुद्ध राजनीतिशास्त्र घटनाओं का वर्णन केवल कुछ शिक्षा देने के लिए ही करता है, क्योंकि राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य एक आदर्श नागरिक का निर्माण करना है।

एक-दूसरे के पूरक—यद्यपि दोनों शास्त्रों के क्षेत्र भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। समाजशास्त्र राजनीतिशास्त्र से राज्य के संगठन, कार्यों और आधुनिक स्वरूप के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करता है और राजनीतिशास्त्र समाजशास्त्र से समाज की उत्पत्ति, विकास तथा सामाजिक नियमों के विषय में कुछ ज्ञान प्राप्त करता है। इसलिए **प्रो. गिडिंग्स** का कथन है कि *''समाजशास्त्र के प्राथमिक सिद्धांतों से अनभिज्ञ लोगों को राज्य के सिद्धांत पढ़ना वैसा ही निरर्थक है, जैसा न्यूटन द्वारा बताए हुए गति के नियमों को न जानने वाले व्यक्ति का ज्योतिष पढ़ना।''* इसलिए एक राजनीतिज्ञ को समाजशास्त्र और एक समाजशास्त्री को राजनीतिशास्त्र का उत्तम ज्ञान होना चाहिए।

राजनीतिशास्त्र और इतिहास (Political Science and History)

राजनीतिशास्त्र इतिहास का ऋणी है—यद्यपि सीले ने इस संबंध को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर कहा है, फिर भी इसमें यह सच्चाई अवश्य है कि राजनीतिक संस्थाओं के आरंभ और विकास की जानकारी प्राप्त करने के लिए हमें इतिहास की सहायता लेनी पड़ती है, क्योंकि राजनीतिक संस्थाओं की जड़ें इतिहास में छुपी रहती हैं। जैसे—यदि हम इंग्लैंड की संसद तथा राजतंत्र के वर्तमान रूप का ज्ञान प्राप्त करना चाहें तो हमें वहाँ के इतिहास का गहरा अध्ययन करना पड़ेगा। **जेलिनेक** ने कहा है कि *राजनीति तथा अन्य प्रकार की संस्थाओं के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक अध्ययन का आधार आवश्यक है।*

इतिहास राजनीतिशास्त्र का ऋणी है—जिस तरह राजनीति की निर्भरता इतिहास पर है, उसी तरह इतिहास की भी निर्भरता राजनीति पर है। वास्तव में, वे एक-दूसरे के पूरक हैं। **प्रो. सीले** ने ठीक ही कहा है कि *''राजनीति के उदार प्रभाव से वंचित होकर और राजनीतिशास्त्र से अलग होकर इतिहास केवल कोरा साहित्य रह जाता है।''* **बर्गेस** ने दोनों शास्त्रों का घनिष्ठ संबंध दिखाते हुए कहा है कि *''यदि राजनीतिशास्त्र और इतिहास को एक-दूसरे से बिल्कुल अलग कर दिया जाए तो उनमें से एक मुर्दा नहीं तो कम-से-कम लंगड़ा, लूला अवश्य हो जाएगा और दूसरा आकाश में उड़ने वाले फूल की तरह हो जाएगा।''* हमारा इतिहास का ज्ञान अधूरा रह जाएगा। यदि हम राजनीतिक घटनाओं की उपेक्षा कर दें। जैसे—उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोप का इतिहास राष्ट्रवाद, साम्राज्यवाद, व्यक्तिवाद, लोकतंत्र, समाजवाद तथा साम्यवाद जैसी महान विचारधाराओं के गहरे अध्ययन के बिना अधूरा रहेगा। फ्रांस की 1789 ई. की क्रांति एक राजनैतिक घटना थी, परंतु इसने फ्रांस के इतिहास पर एक विशेष प्रभाव डाला। बीसवीं शताब्दी में इटली में फासिज्म तथा जर्मनी में नाजीवाद का उदय महान राजनीतिक घटनाएँ हैं। उनका न केवल इटली और जर्मनी के इतिहास पर ही बल्कि संपूर्ण विश्व के इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ा क्योंकि उनके कारण दूसरा विश्व युद्ध छिड़ गया। इस प्रकार, भारत में स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए क्रांतिकारियों ने जो राजनीतिक आंदोलन चलाया उनकी भारतीय इतिहास पर अमिट छाप पड़ी। महात्मा गाँधी के राष्ट्रीय आंदोलन, 1945 ई. का शिमला कॉन्फ्रेंस, मंत्रिमंडल मिशन योजना, अंतरीम सरकार की स्थापना तथा 1947 ई. में भारत का बँटवारा, कश्मीर पर पाकिस्तान का आक्रमण आदि तथ्यों की जानकारी के बिना भारतीय इतिहास महत्त्वहीन हो जाएगा। अत: हम कह सकते हैं कि ''राजनीतिशास्त्र और इतिहास का आपस में गहरा संबंध है।'' यही कारण है

नोट

कि लॉर्ड एक्टन ने कहा कि ''राजनीति इतिहास की धारा में उसी प्रकार इकट्ठा हो जाती है जैसे नदी की रेत में सोने के कण।''

इतिहास राजनीतिशास्त्र की प्रयोगशाला के रूप में–इतिहास राजनीतिशास्त्र के लिए एक प्रयोगशाला का काम भी करता है। जैसे–औरंगजेब और अकबर की धार्मिक नीति की तुलना करके राजनीतिशास्त्र इस परिणाम पर पहुँचता है कि राज्य को लोगों के धार्मिक विश्वासों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। इसी कारण आधुनिक भारत के संविधान में धर्म-निरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। **सीले** के अनुसार *''राजनीति विज्ञान के बिना इतिहास का कोई फल नहीं, इतिहास के बिना राजनीति विज्ञान का कोई मूल नहीं।''*

राजनीतिशास्त्र और इतिहास में अंतर

यद्यपि राजनीतिशास्त्र और इतिहास के बीच अति घनिष्ठ संबंध है, फिर भी दोनों में अंतर है।

(1) इतिहास का क्षेत्र बहुत विस्तृत और व्यापक होता है। इसके अंतर्गत युद्ध, क्रांतियों, आर्थिक परिवर्तनों, धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों का अध्ययन किया जाता है। लेकिन राजनीतिशास्त्र केवल उन बातों से संपर्क रखता है जिसका संबंध राज्य या अन्य राजनैतिक संस्थाओं तथा उन पर प्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालने वाले तथ्यों से है।

(2) दोनों शास्त्रों के उद्देश्य में भी भिन्नता है। इतिहास वर्णनात्मक है। वह केवल घटनाओं का वर्णन करता है। इसके विपरीत, राजनीतिशास्त्र काल्पनिक तथा नैतिक है। यह क्या है और क्या होना चाहिए, दोनों पर विचार करता है। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र एक आदर्शात्मक शास्त्र है जबकि इतिहास वर्णनात्मक।

(3) अध्ययन-विधी के दृष्टिकोण से भी दोनों विषयों में अंतर है। इतिहास घटनाओं का वर्णन कर उनका क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत, राजनीतिशास्त्र विचारात्मक तथा पर्यवेक्षणात्मक विधियों से अध्ययन करता है और सामान्यीकरणों के आधार पर निष्कर्ष पर पहुँचता है।

राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र (Political Science and Economics)

राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र का घनिष्ठ संबंध जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि दोनों से हमारा क्या अभिप्राय है? राजनीतिशास्त्र वास्तव में राज्य और सरकार का विज्ञान है। जहाँ तक अर्थशास्त्र का संबंध है हम कह सकते हैं कि यह संपत्ति का शास्त्र है। इसका संबंध उत्पादन, वितरण, उपभोग तथा विनिमय से है। हमें यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य के आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं में बहुत घनिष्ठ संबंध है। दोनों शास्त्रों का उद्देश्य मनुष्य की भलाई है। सरकार व राज्य के बिना समाज में अशांति फैल जाएगी। चूँकि अराजकता में कोई आर्थिक व्यवस्था नहीं टिक सकती इसलिए प्राचीन राजनीतिज्ञों ने दोनों शास्त्रों को अभिन्न बताया है। प्राचीन यूनानी लेखकों ने दोनों शास्त्रों को एक माना और उन्होंने अर्थशास्त्र को 'राजनीतिक अर्थव्यवस्था' का नाम दिया, जिसकी परिभाषा करते हुए उन्होंने लिखा है कि ''यह राज्य के लिए राजस्व जुटाने की एक कला है।''

कुछ प्रारंभिक अर्थशास्त्रियों ने भी अर्थशास्त्र को राजनीतिक अर्थव्यवस्था की एक शाखा माना है। अठारहवीं शताब्दी तक राजनीतिक अर्थव्यवस्था को राजनीति की एक शाखा माना जाता रहा है और उस समय के कई अर्थशास्त्रियों ने इसमें संपत्ति के बारे में कुछ लिखा है। अठारहवीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों का अनुसरण करते हुए लिखा है कि ''राजनीतिक अर्थव्यवस्था में आचार, शास्त्र, सरकार, दीवानी और फौजदारी कानून के सब सिद्धांतों का अध्ययन शामिल है।'' इसलिए इसे धन का विज्ञान (Science of wealth) कहा गया है।

अर्थशास्त्र एक स्वतंत्र सामाजिक विज्ञान के रूप में–उन्नीसवीं शताब्दी में ऐडम स्मिथ ने आर्थिक क्षेत्र में राज्य के हस्तक्षेप या नियम को अनुचित बताया और उसने अर्थशास्त्र के क्षेत्र को राजनीति से अलग किया। बीसवीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों ने अर्थशास्त्र को राजनीति से अलग सामाजिक शास्त्र सिद्ध करने का यत्न किया। उदाहरण के लिए–महान अर्थशास्त्री **मार्शल** ने कहा है, *''अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यापार में मनुष्य का अध्ययन है। वह व्यक्तिगत एवं सामाजिक व्यापार के उस भाग का परीक्षण करता है, जिसकी समृद्धि हेतु भौतिक आवश्यकताओं की प्राप्ति तथा उनके प्रयोग के साथ अत्यंत घनिष्ठ संबंध है।''* **एडम स्मिथ** के अनुसार, *''अर्थशास्त्र वह सामाजिक शास्त्र है, जिसके द्वारा राष्ट्र की संपत्ति की प्रकृति तथा कारण का अध्ययन किया जाता है।''*

अर्थशास्त्र का राजनीतिशास्त्र पर प्रभाव–यद्यपि बीसवीं शताब्दी में अर्थशास्त्र को राजनीतिशास्त्र से स्वतंत्र विज्ञान मान लिया गया है परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों में कोई संबंध ही नहीं है। वास्तव में देखा जाए तो

बीसवीं शताब्दी में कल्याणकारी राज्य के उदय ने दोनों शास्त्रों की परस्पर निर्भरता को जितना स्पष्ट किया है, उतना किसी और धारणा ने नहीं किया। **स्टीवार्ट** ने कहा है, *''जो स्थान परिवार में अल्पव्ययता का है, वही स्थान राज्य में राजनीतिक अर्थशास्त्र का है।''*

आधुनिक राज्य की मुख्य समस्याएँ आर्थिक ही हैं। यदि हम प्राचीन इतिहास का भी अध्ययन करें तो हमें पता चलेगा कि आर्थिक स्थितियों ने किस प्रकार मनुष्य की राजनीतिक दशाओं को प्रभावित किया।

नोट

राजनीति का अर्थशास्त्र पर प्रभाव–जहाँ आर्थिक दशाओं का राजनीति पर प्रभाव पड़ता है, वहाँ सरकार की नीतियों का भी देश की आर्थिक व्यवस्था पर विशेष प्रभाव पड़ता है। सरकार की कर पद्धति, आयात-निर्यात नीति, बैंकिग पद्धति, टेलीफोन और डाक की सुविधाएँ, परमिट तथा राशन पद्धति, माल को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाने की सुविधाएँ, सीमा शुल्क इत्यादि का भी अर्थव्यवस्था पर विशेष प्रभाव पड़ता है। सरकार का उत्पादन, वितरण, खपत, वित्त, इत्यादि पर पूर्ण नियंत्रण रहता है। सरकार अपने उद्योगों को संरक्षण देती है और बाहर के माल पर अधिक सीमा शुल्क लगाती है ताकि अपना माल देश में सस्ता बिके, उसकी खपत बढ़े, देश का धन विदेशों को अधिक न जाए। सरकार का मुद्रा तथा नोट, माप-तौल और लेन-देन पर नियंत्रण रहता है। सरकार को मजदूरों तथा पूँजीपतियों के झगड़ों का निर्णय करना पड़ता है। यदि किसी देश में समाजवादी सरकार हो तो उसकी निजी संपत्ति और पूँजी की तरफ अलग नीति होगी और यदि पूँजीवादी सरकार हो तो उसकी नीति अलग होगी अर्थात् दोनों प्रकार की सरकारों की भिन्न-भिन्न नीतियाँ होंगी। सरकार की राष्ट्रीयकरण की नीति का भी अर्थव्यवस्था पर काफी प्रभाव पड़ता है। भारत सरकार ने 1947 ई. के बँटवारे के बाद उत्पादन को बढ़ाने के लिए योजनाएँ बनाई और बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम उठाए। हमारी सरकार ने कृषि की उन्नति के लिए अनेक बाँध बनवाए। नहरें निकालीं, ट्यूबवेल लगवाए तथा ऋण दिए, जमींदारी प्रथा को समाप्त किया और सहकारिता को बढ़ावा दिया। औद्योगिक उत्पादन को बढ़ाने के लिए असंख्य कारखाने खोले गए।

दोनों शास्त्रों में अंतर

यद्यपि राजनीतिशास्त्र तथा अर्थशास्त्र एक-दूसरे पर बहुत अधिक निर्भर हैं, फिर भी वे दोनों पृथक् सामाजिक विज्ञान हैं। राजनीतिशास्त्र में हम केवल सरकार और राज्य का अध्ययन करते हैं और उत्पादन, वितरण, खपत तथा विनिमय का अध्ययन नहीं करते जोकि अर्थशास्त्र के विषय हैं। इसी प्रकार, अर्थशास्त्र में हम सरकार और राज्य का अध्ययन नहीं करते। इसलिए, दोनों के अध्ययन के विषय अलग-अलग हैं।

राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र (Political Science and Ethics)

राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र में गहरा संबंध है–राजनीतिशास्त्र का जिस तरह समाजशास्त्र, इतिहास तथा अर्थशास्त्र से गहरा संबंध है उसी तरह इसका नीतिशास्त्र अथवा आचार शास्त्र से भी काफी घनिष्ठ संबंध है। यह पहले ही बताया जा चुका है कि राजनीतिशास्त्र का विषय सरकार अथवा राज्य है। नीतिशास्त्र से हमारा अभिप्राय उस शास्त्र से है, जिसके द्वारा धर्म, अधर्म, कर्तव्य, अकर्तव्य, शुभ-अशुभ, सत-असत् और पाप-पुण्य में भेद किया जाता है। नीतिशास्त्र मनुष्य के अच्छे और बुरे, उचित तथा अनुचित आचरण का मापदंड निर्धारित करता है। इसके द्वारा हम यह तय करते हैं कि व्यक्ति का कौन-सा कार्य बुरा है और कौन-सा अच्छा। नीतिशास्त्र हमें बुरे कार्यों से बचने और अच्छे मार्ग पर चलने की शिक्षा देता है। तभी नागरिक एक आदर्श नागरिक बन सकता है। राज्य का लक्ष्य भी अधिक-से-अधिक आदर्श नागरिक तैयार करना है। वही देश सबसे अधिक उन्नति कर सकता है, जिसके नागरिक आदर्श जीवन व्यतीत करते हों। अत: नीतिशास्त्र और राजनीतिशास्त्र में गहरा संबंध है। **लॉर्ड एक्टन** के शब्दों में, *''नीतिशास्त्र के अध्ययन के बिना राजनीतिशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ है।''* **गेटेल** ने भी इसी तरह का विचार व्यक्त किया है, *''जब नैतिक विचार स्थायी और प्रचलित हो जाते हैं, तो वे कानून का रूप ले लेते हैं।''*

यही कारण है कि राजनीति के कई प्राचीन लेखकों ने राज्य को एक नैतिक संस्था माना, जिसका उद्देश्य मनुष्य का अधिक से अधिक कल्याण करना है। प्लेटो तथा अरस्तु राज्य को सर्वोच्च नैतिक संगठन मानते थे क्योंकि उनके मत के अनुसार, राज्य द्वारा ही मनुष्यों का पूर्ण नैतिक विकास संभव है। प्लेटो की प्रसिद्ध पुस्तक 'रिपब्लिक' में राजनीति ही नहीं बल्कि नैतिक दर्शन भी भरा हुआ है। प्लेटो तथा अरस्तू दोनों यह मानते थे कि श्रेष्ठ नागरिक श्रेष्ठ राज्य में ही उत्पन्न हो सकते हैं और घटिया राज्य में निकृष्ट नागरिक ही उत्पन्न होंगे। **प्लेटो** ने राजनीतिशास्त्र को नीतिशास्त्र की एक शाखा ही माना है और कहा है कि *''राज्य का सबसे बड़ा उद्देश्य नागरिकों*

को सदाचारी तथा सच्चरित्र बनाना है।'' अरस्तु ने कहा है कि ''राज्य जीवन को संभव बनाने के लिए उत्पन्न हुआ, परंतु अब यह जीवन को अच्छा बनाने के लिए विद्यमान है।'' इसका अर्थ यह हुआ कि राज्य का लक्ष्य मनुष्य के नैतिक जीवन का उत्थान है। इससे स्पष्ट है कि यद्यपि अरस्तु राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र को अलग-अलग विज्ञान मानता था। फिर भी दोनों में घनिष्ठ संबंध की बात कहा है।

नोट

आधुनिक लेखक राजनीतिशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में गहरा संबंध मानते हैं। हमारे देश में महात्मा गाँधी दोनों को अभिन्न मानते थे। वे कहते थे कि धर्म रहित राजनीति व्यर्थ है और इस बात पर बल देते थे कि राजनीति का संचालन सत्य और अहिंसा के अनुसार होना चाहिए और उसमें व्यर्थ, छल तथा कपट की मिलावट नहीं होनी चाहिए। **प्रो. आइवर ब्राऊन** ने तो यहाँ तक कहा है कि *''राजनीति नैतिकता का ही विकसित रूप है।''*

राजनीतिशास्त्र और नीतिशास्त्र में अंतर

अत्यधिक घनिष्टता के बावजूद दोनों शास्त्रों में निम्नांकित अंतर हैं–

(1) राजनीतिशास्त्र मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है जबकि नीतिशास्त्र उसके आध्यात्मिक और नैतिक पक्ष का।

(2) राजनीतिशास्त्र एक वर्णनात्मक तथा व्यवहारिक विज्ञान है जबकि नीतिशास्त्र आदर्शात्मक और सैद्धांतिक।

(3) राजनीतिशास्त्र का संबंध सरकार से है जो मूर्त्त और प्रत्यक्ष है जबकि आचार शास्त्र का संबंध केवल निराकार, अमूर्त्त और अप्रत्यक्ष बातों से है।

राजनीतिशास्त्र और मनोविज्ञान (Political Science and Psychology)

राजनीतिशास्त्र का मनोविज्ञान से गहरा संबंध है। विभिन्न लेखकों ने मनोविज्ञान की भिन्न-भिन्न परिभाषाएँ दी हैं। उदाहरणस्वरूप, **वाटसन** के अनुसार, *''मनोविज्ञान व्यवहार का सकारात्मक अध्ययन है।''* इसका अभिप्राय यह है कि मनोविज्ञान निश्चित रूप से मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन करता है। **वार्ड** के अनुसार, *''मनोविज्ञान व्यक्ति के अनुभव का विज्ञान है।''* **मिस्टर बुडवर्थ** के अनुसार, *''मनोविज्ञान व्यक्ति की परिस्थितियों से संबंधित क्रियाओं का विज्ञान है।''* इसका अर्थ है कि मनोविज्ञान राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थिति से संबंधित मनुष्य के कार्यों को प्रभावित करता है और मनोवैज्ञानिक उनका अध्ययन करता है। ऊपर की परिभाषाओं से हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि मनोविज्ञान मनुष्य के अंदरूनी विचार, भावनाओं, बाहरी व्यवहार और कार्यों से संबंधित है।

मनुष्यों के सभी राजनीतिक कार्यों को समझने के लिए उनके मन को समझना अत्यंत आवश्यक है। सरकार जब कभी कोई उग्र सुधारवादी कानून बनाती है तो उसे लोगों के मन की प्रतिक्रिया को देखना पड़ता है। कोई भी सरकार लोकमत की अवहेलना नहीं कर सकती, वरन् इससे क्रांति का भय बना रहेगा। 1789 ई. में फ्रांसीसी क्रांति, 1917 ई. की रूसी क्रांति और 1949 ई. की चीनी क्रांति का मुख्य कारण यही था कि वहाँ की सरकारें लोकमत की उपेक्षा करती थीं। कुछ वर्ष हुए जब अमेरिका की सरकार ने मदिरापान करने की मनाही कर दी तो वहाँ जनता द्वारा इतना शोर मचा कि सरकार को उस कानून को रद्द करना पड़ा। इससे पता चलता है कि सरकार को अपने कानूनों की सफलता के लिए पहले जनता को तैयार करना पड़ता है। वरन् कानूनों की सफलता संदिग्ध हो जाती है। जैसे–भारत सरकार ने 1921-22 में शारदा एक्ट पास किया। जिसके अनुसार बाल-विवाह प्रथा का निषेध किया गया। परंतु इस हेतु जनता को तैयार नहीं किया गया था, फलतः उस कानून को सफलता नहीं मिली। भारत सरकार ने कुछ वर्ष पूर्व मदिरा-निषेध, स्वर्ण-नियंत्रण तथा अनिवार्य बचत योजना इत्यादि के संबंध में कानून बनाए। यद्यपि ये कानून देश के हित में हैं, परंतु इनकी सफलता तभी हो सकती है जबकि जनता को इस हेतु तैयार किया जाए। हम अनेक राजनीतिक समस्याओं को पूर्ण रूप से तभी समझ सकते हैं जबकि हमें जनता के विचारों का भलीभाँति ज्ञान प्राप्त हो।

इसलिए **प्रो. वार्कर** ने उचित कहा है कि *''मनुष्य के कार्यों को मनोवैज्ञानिक आधार पर सुलझाना एक फैशन बन गया है। यदि हमारे पूर्वज प्राणी शास्त्रीय ढंग से सोचते थे तो हम मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करते हैं।''* होल्टजन फोर्ट ने मनोविज्ञान को राजनीति की एक शाखा माना। बेजहॉट ने अपनी पुस्तक भौतिक शास्त्र तथा राजनीति में ब्रिटिश संविधान की कार्य विधि को अधिकतर मनोवैज्ञानिक आधार पर समझने की कोशिश की। **ब्राइस** ने तो यहाँ तक कहा है कि, *''राजनीति की जड़ मनोविज्ञान में छुपी हुई है।''*

छात्र क्रियाकलाप

1. आधुनिक राजनीति विज्ञान में राजनीतिक पद्धति की अवधारणा का क्या स्थान है?

2. राजनीतिशास्त्र के अध्ययन में तुलनात्मक पद्धति पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

नोट

राजनीतिशास्त्र तथा भूगोल (Political Science and Geography)

भूगोल वह विज्ञान है, जिसका संबंध भूमि, जलवायु, वर्षा, खनिज पदार्थ, कृषि, समुद्र, नदी, पहाड़ इत्यादि से होता है। इसमें संदेह नहीं कि किसी देश की भौगोलिक स्थिति का उसकी राजनीति तथा इतिहास पर गहरा प्रभाव पड़ता है। प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के सभी लेखकों ने उस सत्य को एकमत से स्वीकार किया है। अरस्तु ने सबसे पहले इस बात को माना कि जलवायु, भूमि, समुद्री तट का होना या न होना, पहाड़, मैदान, नदियों तथा खाड़ियों की लोगों के रहन-सहन, खान-पान, राजनैतिक इतिहास, सभ्यता और संस्कृति पर अमिट छाप पड़ती है।

अरस्तु के बाद वोडिंग ने 1576 ई. में इस तथ्य का काफी विस्तार किया। **रूसो** ने अठारहवीं शताब्दी में जलवायु तथा सरकार के रूप में घनिष्ठ संबंध स्थापित किया और कहा कि *''गरम जलवायु निरंकुश शासन के लिए, बहुत अधिक ठंडी जलवायु बर्बरता के लिए और मध्यम प्रकाश की जलवायु सुशासन या लोकतंत्र के लिए सहायक होती है।''*

बक्ल ने अपने ग्रंथ 'सभ्यता का इतिहास' में यहाँ तक लिखा है कि *''भौगोलिक प्रभावों का लोगों के चरित्र तथा संस्थाओं की बनावट पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ता है। उसने मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा तथा भाग्यवाद के सिद्धांत को कोई महत्त्व नहीं दिया और कहा कि लोगों के व्यक्तिगत कार्य और सामाजिक कार्य उनकी इच्छा से निर्धारित नहीं किए जाते बल्कि भौगोलिक वातावरण और खासकर जलवायु, खाद्य पदार्थ, मिट्टी तथा प्रकृति की अन्य बातों के प्रभाव से निर्धारित होते हैं। इसलिए, उसने एक तरफ नार्वे, स्वीडेन तथा दूसरी तरफ स्पेन और पुर्तगाल की संस्थाओं और लोगों के चरित्र में अंतर का कारण भौतिक वातावरण तथा भौगोलिक स्थितियों को माना। इसी तरह से उसने प्राचीन मिस्र की सभ्यता का कारण उसकी उपजाऊ भूमि को माना है।''* **रिप्ले** ने बक्ल की आलोचना की है और लिखा है कि *''व्यक्ति और राष्ट्र के चरित्र पर जलवायु, भोजन और भूमि के प्रभावों को बक्ल ने बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बयान किया है।''*

दूसरी तरफ, राबर्टसन, थॉम्स, मेरियम, बर्न्स तथा रेट्जल इत्यादि लेखकों ने बक्ल का समर्थन किया। यह प्राय: माना जाता है कि ''प्राचीन काल में यूनान की भौगोलिक अनेकता ने वहाँ की राजनीतिक एकता के मार्ग में बाधा उत्पन्न की।'' इसी तरह, यह भी स्वीकार किया जाता है कि स्विट्जरलैंड की संस्थाओं और राजनीतिक इतिहास पर वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का विशेष प्रभाव पड़ा है। ट्रॉटस्की का यह विचार है कि स्विट्जरलैंड का संघीय संविधान वहाँ की विशेष भौगोलिक आकृति का ही फल है। **शेलर** ने भी लिखा है कि *स्विट्जरलैंड ऊँचे-ऊँचे पहाड़ों से सुरक्षित रहने के कारण बाहरी आक्रमणों से प्राय: मुक्त रहा है और अपनी स्थानीय स्वतंत्रता और परंपराओं का हजारों वर्षों से अवांछित उपभोग करता रहा है।* **केल्टि** का विचार है कि *नीदरलैंड के राजनीतिक इतिहास को भी वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों ने कम प्रभावित नहीं किया।* इंग्लैंड चूँकि द्वीप है, इसलिए उसके लिए एक समुद्री शक्ति बनना और विदेशों से संधियाँ करना आवश्यक हो गया, वरन् वह विदेशी आक्रमणों से अपनी और अपने विशाल साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सकता था। **शेलर** ने तो स्पष्ट कहा है कि *इंग्लैंड की रक्षा के लिए ब्रिटिश खाड़ी विशेष रूप से सहायक सिद्ध होती रही है।* फिलिप, नेपोलियन और हिटलर इंग्लैंड को जीतने में असमर्थ रहे क्योंकि ब्रिटिश खाड़ी उनके मार्ग में बाधा बनकर खड़ी हो गई।

1.9. सारांश (Summary)

राजनीति क्या है–विश्व राजनीति के परिवेश में यह कहा जाता है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। राजनीति अंग्रेजी शब्द **'पोलिटिक्स'** (Politics) का हिंदी रूपांतर है। पोलिटिक्स शब्द यूनानी भाषा के पॉलिस (Polis) शब्द से निकला है। प्राचीन यूनान में पॉलिस शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता था–(*i*) नगर-राज्य (City-State) तथा (*ii*) छोटा समुदाय (Small Community)।

''राज्य विज्ञान वह विज्ञान है जिसका राज्य से संबंध है, जो राज्य की आधारभूत स्थितियों, उसकी प्रकृति तथा विविध स्वरूपों एवं विकास को समझने का प्रयत्न करता है।''

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से राजनीतिशास्त्र, राज्य की उत्पत्ति, राजनीतिक संस्थाओं के उत्थान एवं भूतकालीन राजनीतिक सिद्धांतों का विवेचन करता है और विकास तथा परिवर्तन के नियमों की प्रवृत्तियों तथा उनकी गतिशीलता का अर्थ स्पष्ट करता है।

आधुनिक युग में 'राजनीति' शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में किया जाता है। आज राजनीति का अर्थ 'व्यावहारिक राजनीति' (Practical politics) के रूप में लिया जाता है।

राज्य संबंधी शास्त्र को आधुनिक विचारक 'राजनीतिशास्त्र' या 'राजनीति विज्ञान' के नाम से पुकारते हैं। राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र 'राजनीति' और 'राजनीति-दर्शन' से अधिक व्यापक, अधिक निश्चित और अधिक स्पष्ट एवं अर्थपूर्ण है। राजनीति-दर्शन केवल सैद्धांतिक पक्षों का अध्ययन करता है, 'राजनीति' केवल व्यावहारिक पक्षों का। इसके विपरीत राजनीति शास्त्र राज्य से संबंधित विषयों के सैद्धांतिक और व्यावहारिक दोनों पक्षों का अध्ययन करता है। इसीलिए राजनीतिशास्त्र का एक विज्ञान और एक कला दोनों के रूप में अध्ययन किया जाता है।

नोट

''राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें मनुष्य का एक राजनीतिक प्राणी के रूप में उसके राज्य संबंधी कार्य-कलापों का अध्ययन होता है और इसलिए इसमें राज्य और सरकार का विस्तृत अध्ययन भी मिलता है। इस प्रकार राजनीतिशास्त्र मनुष्य का राजनीतिक प्राणी के रूप में तथा राज्य और सरकार का विस्तृत ज्ञान है।''

आधुनिक राजनीति विज्ञान में राजनीतिक पद्धति की अवधारणा का वही स्थान है जो पारंपरिक राजनीति विज्ञान में राज्य का।

आधुनिक राजनीतिशास्त्र जिसे नवीन राजनीतिशास्त्र भी कहते हैं, का उदय मुख्यत: व्यवहारवादी क्रांति के साथ द्वितीय महायुद्ध के बाद हुआ।

राजनीतिशास्त्र के विद्वानों ने राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के लिए सामान्यत: दो पद्धतियों को अपनाया है–

(*i*) व्याप्ति-मूलक (Inductive)

(*ii*) निगमनात्मक (Deductive)।

1.10 अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीति क्या है? उसके अध्ययन के मुख्य तत्त्वों का वर्णन करें।
2. परंपरागत राजनीतिशास्त्र की प्रकृति एवं क्षेत्र का वर्णन करें।
3. आधुनिक राजनीतिशास्त्र क्या है? उसके क्षेत्र का वर्णन करें।
4. ''राजनीतिशास्त्र शक्ति का विज्ञान है'' व्याख्या करें।
5. राजनीतिशास्त्र के अध्ययन की विभिन्न प्रणालियों का अध्ययन करें।
6. आधुनिक राजनीतिशास्त्र की विशेषताओं का वर्णन करें।
7. ''राजनीतिशास्त्र का प्रारंभ और अंत राज्य से होता है'' इस कथन की समीक्षा करें।
8. राजनीतिशास्त्र के अध्ययन के परंपरागत एवं आधुनिक दृष्टिकोण का वर्णन करें।
9. आधुनिक राजनीतिशास्त्र की मुख्य विशेषताओं का वर्णन करें।
10. राजनीतिक सिद्धांत का अध्ययन हमारे लिए किन रूपों में उपयोगी है? ऐसे चार तरीकों की पहचान करें जिनमें राजनीतिक सिद्धांत हमारे लिए उपयोगी हो।

❑❑❑

नोट

इकाई–2

अध्याय–2

लोकतंत्र
(Democracy)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

2.1. उद्देश्य (Objectives)
2.2. परिचय (Introduction)
2.3. अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions)
2.4. लोकतंत्र के भेद (Types of Democracy)
2.5. लोकतंत्र के गुण (Merits of Democracy)
2.6. भारत में लोकतंत्र की संभावनाएँ (Possibilities of Democracy in India)
2.7. लोकतंत्र से संबंधित विभिन्न दृष्टिकोण
2.8. सारांश (Summary)
2.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

2.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आपको लोकतंत्र के अर्थ, परिभाषा, भेद, गुण आदि के विषय में अध्ययन कराया जाएगा।

- लोकतंत्र का अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन कराया जाएगा।
- लोकतंत्र के भेदों के बारे में जानेंगे।
- लोकतंत्र के गुणों से अवगत होंगे।
- भारत में लोकतंत्र की संभावनाओं का अध्ययन करेंगे।

लोकतंत्र का अभिप्राय

2.2. परिचय (Introduction)

लोकतंत्र, प्रजातंत्र अथवा जनतंत्र का अभिप्राय जनता के शासन से है। यह वह शासन है जिसमें प्रत्येक नागरिक राजशक्ति के प्रयोग में हाथ बँटाता है। इसका अंग्रेजी पर्याय Democracy है जो दो यूनानी शब्दों से मिलकर बना है–Demos जनता और Cracy शासन। यूनानी विचारकों के मत से लोकतंत्र का अभिप्राय ऐसे शासन से था जो राजतंत्र अथवा कुलीनतंत्र के विपरीत हो। राजतंत्र में राज्य की सत्ता एक व्यक्ति तथा कुलीनतंत्र में कुछ व्यक्तियों के हाथों में केंद्रित रहती है।

2.3. अर्थ एवं परिभाषाएँ (Meaning and Definitions)

नोट

लोकतंत्र में राज्य की सत्ता एक व्यक्ति अथवा कुछ व्यक्तियों के हाथों में नहीं, प्रत्युत् जनसाधारण के हाथों में केंद्रित मानी जाती है। इस प्रकार, **हेरीडोट्स** ने लोकतंत्र की परिभाषा उस शासन के रूप में की है जिसमें राज्य की सर्वोच्च शक्ति संपूर्ण समाज के हाथों में रहती है। **डायसी** के अनुसार, ''लोकतंत्र वह शासन-पद्धति है, जिसमें शासन करने वाला समुदाय संपूर्ण जनसंख्या का एक बड़ा भाग होता है।'' **सीली** के मत से, ''लोकतंत्र वह शासन-पद्धति है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग होता है।'' लार्ड ब्राइस ने लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए कहा है कि ''यह वह शासन-प्रणाली है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग होता है।'' **लार्ड ब्राइस** ने लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए कहा है कि, ''यह वह शासन-प्रणाली है जिसमें शासन-शक्ति पर किसी एक व्यक्ति अथवा वर्ग का अधिकार नहीं होता, अपितु समाज के सभी सदस्यों का उस पर समान अधिकार होता है।'' इस प्रकार लोकतंत्र वह शासन-प्रणाली है जिसमें संपूर्ण जनता का ही परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रीति से कुछ-न-कुछ भाग रहता है इसी आशय को दृष्टि में रखते हुए **लिंकन** ने लोकतंत्र की परिभाषा ''जनता का, जनता के लिए, जनता द्वारा शासन'' शब्दों में की है।

लोकतंत्र का राजनीतिक पक्ष—लोकतंत्र की उक्त परिभाषाओं से उसके केवल एक ही पहलू पर प्रकाश पड़ता है और वह पहलू है राजनीतिक संगठन अथवा शासन के रूप में लोकतंत्र। लोकतंत्र के राजनीतिक पहलू में राजनीतिक समानता के आदर्श को स्वीकार किया जाता है और राजनीतिक शक्ति पर किसी एक वर्ग विशेष का एकाधिकार नहीं माना जाता है। इसमें शासन का संचालन बहुमत के सिद्धांत के अनुसार हेाता है और केवल वे विधियाँ ही लागू की जाती हैं जिन्हें बहुसंख्यक जनता का समर्थन प्राप्त रहता है।

लोकतंत्र का सामाजिक आदर्श—परंतु लोकतंत्र केवल एक शासन-प्रणाली ही नहीं हैं वह एक सामाजिक आदर्श भी है। एक सामाजिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र सब मनुष्यों और स्त्रियों की समानता का प्रतिपादन करता है। जिस समाज का संगठन लोकतंत्रात्मक है, उसमें न तो कोई सुविधासंपन्न वर्ग-विशेष ही हो सकता है और न जाति, धर्म, वर्ण, वंश, धन और लिंग आदि के आधार पर व्यक्ति, व्यक्ति के बीच भेदभाव की दीवारें खड़ी की जाती है। फलतः हम ऐसे किसी समाज को, जिसमें कि छुआछूत हो, स्त्रियों को घर की चारदीवारी में कैद रखा जाए, अर्थात् सब लोगों को अपने विकास के लिए समान अवसर न मिल सकें, लोकतंत्रात्मक समाज नहीं कह सकते। लोकतंत्र के लिए दैनिक व्यवहार में कतिपय सामाजिक और सांस्कृतिक मूल्यों की आवश्यकता हुआ करती है। जब तक समाज में इन मूल्यों का विकास नहीं होता, वह लोकतंत्र के आदर्श से कोसों दूर रहता है।

लोकतंत्र एक मानसिक दृष्टिकोण के रूप में—एक राजनीतिक आदर्श और सामाजिक संगठन होने के साथ-साथ लोकतंत्र एक नैतिक आदर्श एवं मानसिक दृष्टिकोण भी है। लोकतंत्र इस बात को स्वीकार करता है कि औसतन प्रत्येक ईमानदार नागरिक में यह योग्यता होती है कि वह शासन कार्यों में भाग ले सके। शासन का आधार यह विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति में अपना शासन आप करने की और औसत नागरिक में समाज के हित की दृष्टि से शासन करने वाले शासकों को चुनने की योग्यता रहती है। लोकतंत्र जन-साधारण की महिमा और गरिमा पर भरोसा रखता है वह मान-व्यक्तित्व का मान के रूप में आदर करने की माँग करता है। दार्शनिक **काँट** के इस कथन में इस आदर्श का सार आ जाता है, इस प्रकार काम करो कि मानवता के साथ प्रत्येक मामले में, चाहे तुम्हारे व्यक्तित्व की बात हो या दूसरे के व्यक्तित्व की, इस प्रकार व्यवहार हो कि वह एक साध्य है, एक ध्येय है उसे साधन मानकर कभी व्यवहार मत करो। **बेंथम** के निम्नलिखित सूत्र में भी यही विचार निहित है ''प्रत्येक व्यक्ति को एक गिनना चाहिए और किसी को एक से अधिक नहीं गिनना चाहिए।''

लोकतंत्र का आर्थिक आधार—लोकतंत्र के उक्त पहलुओं के साथ हमें उसका आर्थिक पक्ष भी नहीं भूलना चाहिए। लोकतंत्र के आर्थिक पक्ष का अभिप्राय यह है कि सार्वभौम मताधिकार के प्रचलन से ही लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो जाती। लोकतंत्र की वास्तविक स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि समाज में आर्थिक शक्ति का ऐसा समतायुक्त वितरण हो जिससे प्रत्येक व्यक्ति का जीवन सुखी व समृद्ध हो सके और वह आत्म-विकास के लिए पर्याप्त अवसर पा सके।

नोट

लोकतंत्र जीवन का एक समग्र दर्शन है–उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि लोकतंत्र जीवन का एक समग्र दर्शन है और हम उसे थोड़े से शब्दों की परिभाषाओं द्वारा व्यक्त नहीं कर सकते। लोकतंत्र की व्यापक परिधि में मानव-जीवन के सभी पहलू आ जाते हैं। अपनी इसी व्यापकता के कारण 'लोकतंत्र इतना अधिक प्रचलित शब्द हो गया है और वह कभी-कभी इतने भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होता है कि सामान्य पाठक मत-विभ्रम में पड़ जाता है।

लोकतंत्र की आधारभूत धारणाएँ–ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम लोकतंत्र की कुछ आधारभूत धारणाओं को समझ लें। लोकतंत्र की प्रमुख आधारभूत धारणाएँ पाँच हैं। 1 स्वतंत्रता, 2 समानता, 3 भ्रातृता, 4 व्यक्ति की महत्ता, और 5 सहिष्णुता अपने मनोनुकूल जीवन-निर्वाह की छूट होनी चाहिए। लेकिन स्वतंत्रता का अभिप्राय उच्छृंखलता कदापि नहीं है। एक व्यक्ति स्वतंत्रता का उपभोग उसी सीमा तक कर सकता है जिस सीमा तक कि वह समाज के अन्य सदस्यों की स्वतंत्रता में कोई अवरोध पैदा नहीं करता । समानता का अभिप्राय यह है कि धर्म, जाति, लिंग, जन्म या वंश आदि के आधार पर समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए और सभी नागरिकों को आत्म-विकास के समान अवसर उपलब्ध होने चाहिए।

2.4. लोकतंत्र के भेद (Types of Democracy)

लोकतंत्र के दो भेद हैं–1 प्रत्यक्ष या विशुद्ध, और 2 परोक्ष या प्रतिनिधिक लोकतंत्र।

प्रत्यक्ष लोकतंत्र में समस्त नागरिक स्वयं ही राज्य-कार्यों में भाग लेते हैं और वे अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों पर निर्भर नहीं रहते।

1. प्रत्यक्ष या सहभागी लोकतंत्र–प्रत्यक्ष लोकतंत्र में निर्वाचित विधान-सभाएँ नहीं होती जहाँ जन-प्रतिनिधि शासन की नीति का निर्धारण या विविध विधियों का निर्माण करते हों। इस प्रकार की व्यवस्था के अंतर्गत राज्य के समस्त नागरिक एक स्थान पर एकत्रित होकर शासन संबंधी समस्त कार्यों को निबटाते हैं और सार्वजनिक पदाधिकारियों को चुनते हैं। प्रत्यक्ष लोकतंत्र की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि यह वह शासन-व्यवस्था है ''जिसमें राज्य की इच्छा का निर्माण या अभिव्यक्ति प्रत्यक्षतः, प्रमुखतः अथवा तुरंत ही एक जनसभा में जनता के चुने हुए प्रतिनिधियों द्वारा नहीं अपितु स्वयं जनता द्वारा होता है।''

प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की प्रणाली के अनुसार शासन होता था। एथेन्स में यह अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। यूनान के नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतंत्र की सफलता के कुछ स्पष्ट कारण थे। क्षेत्रफल की दृष्टि से ये राज्य बहुत छोटे-छोटे थे। इनकी जनसंख्या भी बहुत थोड़ी थी। यूनान के नगर-राज्यों में मुख्य विशेषता यह थी कि सारा शारीरिक श्रम दासों को करना पड़ता था और नागरिकों के पास राजनीतिक कार्यों में भाग लेने के लिए पर्याप्त अवकाश रहता था। आजकल प्रत्यक्ष लोकतंत्र केवल स्विट्जरलैंड के कुछ कैण्टनों और अमरीका के कुछ छोटे नगरों में ही प्रचलित है। इसका कारण यह है कि आधुनिक राष्ट्रीय राज्य क्षेत्रफल और जनसंख्या दोनों की दृष्टि से बहुत बड़े हैं और उनमें प्रत्यक्ष लोकतंत्र के अनुसार शासन चलाना असंभव है।

2. परोक्ष या प्रतिनिधि लोकतंत्र–आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों में प्रत्यक्ष अथवा शुद्ध लोकतंत्र की अव्यावहारिकता के कारण परोक्ष अथवा प्रतिनिधिक लोकतंत्र के अनुसार शासन होता है। इस व्यवस्था के अंतर्गत जनता समय-समय पर अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है और ये प्रतिनिधि विधानसभाओं में जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार विधियों का निर्माण और शासन का संचालन प्रत्यक्षतः जनता द्वारा नहीं प्रत्युत् परोक्षतः जनता के प्रतिनिधियों द्वारा होता है। प्रतिनिधिक लोकतंत्र इस विचार पर आधारित है कि ''जनता के सभी सदस्य राजधानी में स्वयं उपस्थित नहीं हो सकते किंतु वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा उपस्थित माने जाते हैं।'' **जॉन स्टुअर्ट मिल** के शब्दों में, ''प्रतिनिधिक लोकतंत्र वह शासन है जिसमें, ''संपूर्ण जनता या फिर उसका बहुसंख्यक भाग शासन-सत्ता का अपने नियत काल पर निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा प्रयोग करता है।''

यद्यपि आजकल प्रत्यक्ष लोकतंत्र प्रायः बिलकुल समाप्त हो गया है और लोकतंत्र का अभिप्राय ही परोक्ष या प्रतिनिधिक लोकतंत्र माना जाता है, फिर भी इसे संतोषजनक स्वीकार करने में कई विद्वानों को आपत्ति

है। इसका कारण यह है कि चुनाव के समय अपने मतदान के अतिरिक्त जनता शासन-प्रबंध में कोई सीधा भाग नहीं लेती। **रूसो** जो प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का पक्षपाती था, कहा करता था कि, ''अंग्रेज तो केवल चुनाव के समय ही स्वतंत्र होते हैं।'' परोक्ष लोकतंत्र की त्रुटियों को दूर करने के लिए जनमतसंग्रह और प्रत्यावर्तन आदि उपायों का प्रयोग किया जाता है। इन उपायों द्वारा कतिपय मामलों पर जनता प्रत्यक्षतः अपने मत की अभिव्यक्ति करती रहती है और उसका चुनावों के पश्चात् भी अपने प्रतिनिधियों पर नियंत्रण बना रहता है। जनमत-संग्रह का आशय यह है कि कुछ विधियों पर विशेषकर संविधान से संबंध रखने वाली विधियों पर जनता की सम्मति अवश्य ली जानी चाहिए। उपक्रम का अभिप्राय यह है कि यदि जनता कुछ नई विधियाँ बनवाना चाहे और मतदाताओं की एक निश्चित जनसंख्या से हस्ताक्षर करवा कर अपना आवेदन-पत्र विधान-सभा के पास भेज दे, तो विधान-सभा उस विधि को अवश्य बना देगी। प्रत्यावर्तन का तात्पर्य यह है कि ''यदि कोई प्रतिनिधि अपने निर्वाचकों की इच्छाओं के विपरीत आचरण करता है, तो जनता को उसे वापिस बुला लेने या हटा देने का अधिकार होता है। व्यक्ति को शेष समाज की इच्छानुसार जीवन-यापन करने के लिए बाध्य करता है, तो इसमें उसकी ही हानि है।''

नोट

2.5. लोकतंत्र के गुण (Merits of Democracy)

संतुलित मूल्यांकन की आवश्यकता—लोकतंत्र का सही-सही मूल्यांकन करना भी एक दुरूह समस्या है। एक ओर तो विचारकों का ऐसा वर्ग है जो लोकतंत्र को सर्वथा निर्दोष और पूर्ण शासन-प्रणाली मानता है और उसकी श्रेष्ठता में धार्मिक अंध-विश्वास जैसी भावना रखता है। दूसरी ओर ऐसे विचारकों का भी कोई अभाव नहीं है जिन्हें लोकतंत्र में निरी त्रुटियाँ दिखाई देती हैं और जो यह समझते हैं कि लोकतंत्र मृत्यु का और कुलीनतंत्र जीवन का वाहक है। ऐसी स्थिति में लोकतंत्र के गुण-दोषों का विवेचन करते समय हमें काफी सावधानी और संतुलित दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता है। संक्षेपतः लोकतंत्र के पक्ष में अधोलिखित युक्तियाँ उपस्थित की जा सकती हैं।

1. **जनसाधारण की हित साधना**—लोकतंत्र की शायद सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह समानता के सिद्धांत पर आधारित है। वह इस विचार का खंडन करता है कि कुछ लोग तो आदेश देने के लिए और कुछ लोग आदेश पालन के लिए जन्म लेते हैं। प्रजातंत्र वर्ग-विशेष को सुविधाएँ देने का निषेध करता है। वह जनसाधारण के महत्त्व का प्रतिपादक है। लोकतंत्र में किसी भी नागरिक को जाति, वंश, धन या वर्ग के आधार पर उसके स्वाभाविक अधिकारों से वंचित नहीं किया जा सकता। वह राज्य की सर्वोच्च शक्ति जनसाधारण के हाथों में समर्पित कर देता है और इस प्रकार सभी व्यक्तियों को राजनीतिक अधिकारों की समानता प्रदान करता है। लोकतंत्र में इस बात का विश्वास रहता है कि जनसमुदाय की इच्छानुसार कार्य किया जाएगा और शासन-कार्यों में किसी व्यक्ति की उपेक्षा न की जाएगी। **प्रो. हॉकिंग** (Prof. Hocking) का यह कहना बिलकुल सही है कि, "लोकतंत्र राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति में तंतुबंधन के समान पारस्परिक संबंध स्थापित कर देता है। लोकतंत्र के अतिरिक्त अन्य चाहे कोई सी शासन प्रणाली हो, चाहे वह राजतंत्र हो, चाहे कुलीनतंत्र उसमें जनसाधारण का माथा सदैव झुका ही रहता है। लोकतंत्र ही एक मात्र वह शासन प्रणाली है जिसमें जनसाधारण अपना मस्तक गर्व से ऊँचा कर सकता है और जिसमें छोटे-से-छोटे व्यक्ति भी यह नहीं कह सकता कि मेरी नहीं सुनी गई।

2. **स्वतंत्रता का प्रसार**—लोकतंत्र का एक अन्य बड़ा गुण यह है कि वह नागरिक समुदाय के बीच स्वतंत्रता की भावना का प्रसार करता है। चूँकि लोकतंत्र में लोग अपना शासन अपने आप करते हैं, अतः वे दास नहीं हो सकते। इस व्यवस्था के अंतर्गत जनता को शास्वत विचार और विश्वास की पूर्ण स्वतंत्रता रहती है और जनता के ऊपर राज्य की ओर से कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जाता। यदि शासन जनता के मनोनुकूल नहीं है, तो जनता उसकी आलोचना कर सकती है और यदि चाहे तो शांतिपूर्ण एवं वैधानिक उपायों द्वारा उसे बदल भी सकती है। लोकतंत्रात्मक देशों में नागरिक अधिनायकवादी देशों की तुलना में कहीं अधिक वैयक्तिक स्वाधीनता का उपभोग करते हैं। अधिनायकवादी देशों में तो गुप्त पुलिस और समाहार शिविरों की प्रधानता रहती है तथा जनसाधारण की वैयक्तिक स्वतंत्रताओं को बुरी तरह दबा दिया जाता है। मानव जाति के लिए स्वतंत्रता का क्या महत्त्व है यह **मिल** के इस कथन से स्पष्ट है कि, "जिस समाज में इन स्वतंत्रताओं (नागरिक स्वतंत्रताओं) का आदर नहीं होता। वह आजाद नहीं होता, चाहे उसकी कुछ भी शासन प्रणाली हो ·····।

नोट

एक मात्र वांछनीय स्वतंत्रता यह है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से उस समय तक अपना हित साधन करने में स्वतंत्र हो जब तक कि वह दूसरों को उनकी हित साधना से वंचित न करे .....। यदि मनुष्य जाति प्रत्येक व्यक्ति को अपने ढंग से जीवन यापन की स्वतंत्रता देती है, तो उसे विशेष लाभ होता है। यदि वह प्रत्येक व्यक्ति को शेष समाज की इच्छानुसार जीवन-यापन करने के लिए बाध्य करता है, तो इसमें उसकी ही हानि है।''

3. मनोवैज्ञानिक आधार—लोकतंत्र के पक्ष में मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ भी उपस्थित की जा सकती हैं। लोकतंत्र जनता की सहमति का शासन है। इसके अंतर्गत स्वतंत्र निर्वाचन होते हैं और जनता अपने प्रतिनिधियों को अपने आप चुनती है। ये प्रतिनिधि जिन विधियों का निर्माण करते हैं, वे जनता की इच्छाओं के अनुसार होती हैं और उन्हें जनता का समर्थन प्राप्त रहता है। "लोकप्रिय शासन का मूल्य यह है कि वह उन साधनों को प्रदान करता है जिनके द्वारा जनता की इच्छाओं का ज्ञान और अनुभव प्राप्त किया जा सकता है और इस प्रकार राज्य के व्यवहार को तदनुकूल बनाया जा सकता है।" लोकतंत्रात्मक शासन में जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को अपने प्रत्येक कदम पर इस बात का ध्यान रहता है कि उसकी जनता के ऊपर क्या सम्भाव्य प्रतिक्रिया होगी। फलतः, वे अपनी नीति पर्याप्त सोच-विचार के उपरांत और जनता की नस-नाड़ी पर हाथ रखकर बनाते हैं।

4. व्यावहारिक लाभ—तथापि, लोकतंत्र की वास्तविक शक्ति उसकी सैद्धांतिक श्रेष्ठता में नहीं, प्रत्युत् उसकी व्यावहारिक उपयोगिता में निहित है। वृक्ष का ज्ञान उसके फलों से होता है। लोकतंत्र इस कसौटी पर बिलकुल खरा उतरता है। लोकतंत्रात्मक देशों में देशभक्ति की भावना अन्यान्य शासन-प्रणालियों की तुलना में काफी अधिक रहती है। चूँकि लोकतंत्र में शासन जनता की कृति होता है। अतः उसके प्रति जनता में निष्ठा भी होती है। इस प्रकार, लोकतंत्र हिंसात्मक क्रांतियों की संभावनाओं को कम कर देता है।

5. नैतिक गुण—लोकतंत्र का नैतिक पक्ष भी बहुत शक्तिशाली है। लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली में प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह कितना हीन क्यों न हो, पवित्र माना जाता है और उसके आत्म-सुधार का प्रयास किया जाता है। लोकतंत्र मनुष्यों में उच्चतम नैतिक गुणों का विकास करता है और उन्हें आत्म-निर्भरता, उपक्रम, उत्तरदायित्व तथा सहिष्णुता का पाठ पढ़ाता है।

6. नागरिक शिक्षा की प्रयोगशाला—लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली जनसाधारण को नागरिकता की शिक्षा प्रदान करती है। उसे एक प्रकार से नागरिक शिक्षा की सर्वश्रेष्ठ प्रयोगशाला माना जा सकता है। लोकतंत्र जनता की बैद्धिक और आध्यात्मिक शक्तियों का विकास करता है। चूँकि लोकतंत्र में जनता समय-समय पर निर्वाचनों में भाग लेती है और उसे चाहे परोक्ष रीति से ही सही शासन में योगदान देना पड़ता है, अतः वह समय की सामाजिक और राजनीतिक समस्याओं को अच्छी तरह से समझने लगती है। स्वशासन और सार्वजनिक कार्यों में योगदान देने से व्यक्ति के अंदर आत्मविश्वास का भाव जाग्रत होता है और वह स्वार्थ की संकुचित सीमाओं से बाहर निकलता है। नागरिक यह समझता है कि वह संपूर्ण समाज का एक अंग है और वह अपनी संपूर्ण शक्तियों और योग्यताओं द्वारा समग्र समाज के कल्याण का प्रयास करता है।

2.6. भारत में लोकतंत्र की संभावनाएँ (Possibilities of Democracy in India)

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न—भारत में लोकतंत्र का क्या भविष्य है, यह एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। प्रत्येक विचारवान् भारतीय का यह कर्तव्य है कि वह इस प्रश्न पर गंभीरता पूर्वक चिंतन करे, सोचे कि क्या भारत में लोकतंत्र के सफल होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं? यदि नहीं तो उसकी सफलता के मार्ग में क्या बाधाएँ हैं और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है?

भारत में लोकतंत्र की परम्परा—सिद्धांत और व्यवहार दोनों की दृष्टि से भारत के लिए लोकतंत्र का आदर्श नूतन नहीं है। यह ठीक है कि आज भारत में लोकतंत्र जिस व्यापक स्तर पर है, प्राचीन काल में कभी नहीं रहा। फिर भी इतिहास साक्षी है कि हमारे यहाँ लोकतंत्र की परम्परा शताब्दियों पुरानी है प्राचीन भारतीय चिंतन परम्परा में लोकतंत्र की भावना सदैव विद्यमान रहती थी। तत्कालीन जनता की जागरूकता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि यदि शासक अपने दायित्वों का निर्वहन निष्ठापूर्वक नहीं कर पाता था, तो जनता उसका वध तक करने में नहीं हिचकी थी। हिंदू राजशास्त्रियों के अनुसार कर राजा का वेतन हैं। शासन जनता की सेवा करता है और जनता इसके बदले में उसे कर प्रदान करती है। **शुक्र** के शब्दों में राजा

छात्र क्रियाकलाप

1. लोकतंत्र के भेदों का वर्णन कीजिए।

2. लोकतंत्र के गुणों का उल्लेख कीजिए।

नोट

जनता की अनवरत रक्षा तथा उन्नति करने के उपलक्ष्य में अपने जीवन-निर्वाह के लिए करों के रूप में अपना पारिश्रमिक पाता है। **करारोप** के इस सिद्धांत का एक महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता था कि यदि राजा जनता की उन्नति तथा रक्षा करने में असफल सिद्ध होता, तो प्रजा को यह अधिकार रहता था कि वह उसे करों सें वंचित कर दे। बौद्ध ग्रंथों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे प्राचीन भारत में जनसत्तात्मक शासन की परंपरा अचूक रूप से पुष्ट होती है। बौद्ध संघों के संगठन का आधार विशुद्ध रूप से लोकतंत्रात्मक था। यूनानी यात्रियों और इतिहासकारों के विवरणों से पता चलता है कि जिस समय सिकंदर ने भारत पर आक्रमण किया था भारत की पश्चिमोत्तर सीमा पर सौभूति, यौधेय, क्षुद्रक, मालव्य और मुचकर्ण आदि शक्तिशाली गणराज्य स्थापित थे। इन गणराज्यों की शासन-व्यवस्था लोकतंत्र पर आधारित थी। कालान्तर में कतिपय सामाजिक और शासनिक दुर्बलताओं, आपसी लाग-डाट और चक्रवर्ती शासकों की राज्यलिप्सा के फलस्वरूप इन गणराज्यों का अंत हो गया। प्राचीन भारत में मानव-जीवन का विकास विभिन्न स्थानीय संस्थाओं के आधार पर हुआ था और इन स्थानीय संस्थाओं के फलस्वरूप जनता को लोकतंत्रात्मक शासन की कठिन कला की शिक्षा मिलती थी। कुटुम्ब, ग्राम, निगम, श्रेणी, गण और संघ आदि संस्थाएँ प्राचीन भारत में लोकतंत्र की आधारशिलाओं का कार्य करती हैं। यद्यपि भारत में बड़े-बड़े साम्राज्यों का उत्थान-पतन हुआ, लेकिन यहाँ ग्राम-पंचायतों की परम्परा ब्रिटिश शासन की स्थापना होने तक अविच्छिन्न रूप से चली आ रही थी इन ग्राम-पंचायतों के माध्यम से ग्रामीण जनता अपने स्थानीय मामलों का स्वतंत्रतापूर्वक निदान करती थी।

स्वतंत्रता के पश्चात्–इसलिए, जब स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् भारत के नए संविधान ने सार्वभौम वयस्क मताधिकार के प्रवर्तन द्वारा देश में लोकतंत्र की स्थापना कर दी तो यह कोई जल्दबाजी या विचारहीनता का कार्य नहीं था। भारत के संविधान ने देश में लोकतंत्र की स्थापना के सभी आवश्यक उपकरण प्रदान किए हैं।

भारत का संविधान पूरी तरह लोकतंत्रात्मक हैं संविधान की उद्देशिका में भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने का संकल्प व्यक्त किया गया है और उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार-अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, समता, प्रतिष्ठा और समान अवसर को प्राप्त कराने का वचन दिया गया है। संविधान ने व्यक्ति की गरिमा, राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित करने वाली बंधुता बढ़ाने का भी आश्वासन दिया है। संविधान की उद्देशिका में निहित राष्ट्रीय आदर्श, स्वतंत्र भारत के नए राष्ट्रीय जीवन मूल्य हैं। संविधान गत छह दशकों से इन जीवन-मूल्यों को चरितार्थ करने का प्रयत्न करता रहा है।

भारतीय संविधान ने नागरिकों को व्यापक मूल अधिकार दिए हैं। ये अधिकार निम्न 6 वर्गों में विभाजित हैं–1. समता अधिकार, 2. स्वातंत्र्य अधिकार, 3. शोषण के विरुद्ध का अधिकार, 4. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार, 5. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार और 6. संविधानिक उपचारों का अधिकार ।

भारतीय संविधान ने नागरिकों के मूल अधिकारों की गणना के साथ नागरिकों के कुछ मूल कर्त्तव्य भी गिनाए हैं। ये कर्त्तव्य अनुच्छेद 51 क में दिए गऐ हैं। और इस प्रकार हैं–

''भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य होगा कि वह–

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, संविधान, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे।

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में सँजोए रखे और उनका पालन करे।

(ग) भारत की प्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण रखे।

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे।

(ड) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो स्त्रियों के सम्मान के विरुद्ध हैं।

(च) हमारी सामाजिक संस्कृति की गौरवशाली परम्परा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे।

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत, वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दया भाव रखे।

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे।

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे।

(ङ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाईयों को छू ले।''

नोट

संविधान के भाग 4 में राज्य नीति के निर्देशक तत्वों का उल्लेख है ये तत्व किसी न्यायालय द्वारा प्रवर्तनीय नहीं हैं लेकिन देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि बनाने में इन तत्वों को लागू करना राज्य का कर्त्तव्य है। इन तत्वों में कहा गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था को, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओं को अनुप्राणित करे, भरसक प्रभावी रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोककल्याण की अभिवृद्धि का प्रयास करेगा। राज्य द्वारा अनुसरणीय कुछ नीति तत्व है–

(क) पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो।

(ख) समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार बँटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो।

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन साधनों का अहितकारी संकेंद्रण न हो।

(घ) पुरुषों और स्त्रियों दोनों को समान कार्य के लिए समान वेतन हो।

(ङ) पुरुषों और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो और आर्थिक विवशता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु और शक्ति के अनुकूल न हो।

(च) बालकों को स्वतंत्र और गरिमामय वातावरण में स्वस्थ विकास के अवसर और सुविधाएँ दी जाएँ और बालकों और अल्पवयस्क व्यक्तियों की शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से रक्षा की जाए।

भारतीय संघ की कार्यपालिका के अंतर्गत राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मंत्रिपरिषद्, महान्यायवादी तथा सिविल सेवाओं का विवेचन है।

राष्ट्रपति का निर्वाचन ऐसे निर्वाचकगण के सदस्य करते हैं जिसमें संसद के दोनों सदनों के निर्वाचित सदस्य और राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्य करते हैं। जहाँ तक साध्य हो, राष्ट्रपति के निर्वाचन में भिन्न-भिन्न राज्यों के प्रतिनिधित्व के मापमान में एकरूपता रखी जाती है।

राष्ट्रपति का कार्यकाल पाँच वर्ष है वह दुबारा निर्वाचित हो सकता है। भारत का एक उपराष्ट्रपति है। वह राज्यसभा का पदेन सभापति होता है। उसका निर्वाचन संसद के दोनों सदनों के सदस्यों से मिलकर बनने वाले निर्वाचकगण के सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा होता है।

संविधान ने राष्ट्रपति को सहायता और सलाह देने के लिए मंत्रिपरिषद् का प्रावधान किया है मंत्रिपरिषद् का प्रधान प्रधानमंत्री होता है। राष्ट्रपति मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करता है।

राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए अहर्हित किसी व्यक्ति को भारत का महान्यायवादी नियुक्त करता है। महान्यायवादी का यह कर्तव्य है कि वह भारत सरकार को विधि संबंधी ऐसे विषयों पर सलाह दे और विधिक स्वरूप में ऐसे अन्य कर्त्तव्यों का पालन करे जो राष्ट्रपति उसको समय-समय पर निर्देशित करे या सौंपे और उन कर्त्तव्यों का निर्वहन करे जो उसको संविधान अथवा तत्समय प्रवृत्त किसी अन्य विधि द्वारा या उसके अधीन प्रदान किए गए हों।

भारत सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्रवाई राष्ट्रपति के नाम से की जाती है।

प्रधानमंत्री का यह कर्तव्य है कि वह संघ के कार्यकलाप के प्रशासन-संबंधी और विधान-विषयक प्रस्थापनाओं-संबंधी मंत्रिपरिषद् के सभी विनिश्चय राष्ट्रपति को संसूचित करे।

नोट

संघ के लिए एक संसद है जो राष्ट्रपति तथा राज्य सभा और लोकसभा नामक दो सदनों से मिलकर बनती है। राज्य सभा राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित बारह सदस्यों और राज्यों के और संघ राज्यक्षेत्रों के 238 से अनधिक प्रतिनिधियों से मिलकर बनती है। राष्ट्रपति उन 12 व्यक्तियों के नाम-निर्देशित करता है जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला और समाज-सेवा विषयों के संबंध में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हैं। राज्य सभा में प्रत्येक राज्य के प्रतिनिधियों का निर्वाचन उस राज्य की विधानसभा के विनिर्वाचित सदस्यों द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व पद्धति के अनुसार एकल संक्रमणीय मत द्वारा किया जाता है।

लोकसभा राज्यों में प्रादेशिक निर्वाचन क्षेत्रों से प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा चुने हुए पाँच सौ तीस से अनधिक सदस्यों और संघ राज्यक्षेत्रों के 20 से अनधिक सदस्यों से मिलकर बनती है।

राज्यसभा का विघटन नहीं होता लेकिन उसके सदस्यों में से एक-तिहाई सदस्य प्रत्येक द्वितीय वर्ष की समाप्ति पर सेवानिवृत्त हो जाते हैं।

राष्ट्रपति समय-समय पर संसद के प्रत्येक सदन को अधिवेशन के लिए आहूत करता है। वह सदनों का या किसी सदन का सत्रावसान कर सकता है और लोकसभा का विघटन कर सकता है।

लोकसभा के सदस्यों द्वारा निर्वाचित अध्यक्ष लोकसभा की कार्यवाही का संचालन करता है।

संसद के दोनों सदनों ने अपने कार्य-संचालन और प्रक्रिया संबंधी नियमों का निर्माण कर लिया है। संसद ने धन विधेयकों और वित्तीय विधेयकों के बारे में भी प्रक्रिया निश्चित कर दी है। संसद के सदस्यों को सदन अथवा उसकी समितियों की बैठकों में अपने विचार व्यक्त करने की पूरी स्वतंत्रता है। मंत्रिपरिषद् लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है। संसद प्रश्नों तथा विविध प्रकार की चर्चाओं द्वारा सरकार पर नियंत्रण रखती है। संसद की समितियाँ लघु संसदों के रूप में कार्य करती हैं और उसके बहुत से काम को निपटाती हैं।

अमरीका जैसी अन्य संघात्मक प्रणालियों की भाँति भारत में संघ तथा राज्यों के न्यायालयों के अलग-अलग अधिक्रम नही है। भारत के समूचे गणराज्य के लिए एकीकृत न्यायिक प्रणाली है। सर्वोच्च तथा चोटी के न्यायालय के रूप में उच्चतम न्यायालय है। यह संघ तथा राज्यों के बीच के तथा राज्यों के आपसी संबंधों के मामलों के निपटारे के लिए एकमात्र मध्यस्थ है संविधान के किसी उपबंध का क्या अर्थ है इस विषय में भी अंतिम निर्णायक है।

भारत के संविधान में न केवल संघ का संविधान है, उसमें राज्यों का संविधान भी है। राज्यों के लिए उपबन्ध प्रायः संघ-शैली का अनुसरण करते है।

भारत में संघ लोक सेवा आयोग और राज्य सेवा आयोग संघ और राज्यों के अधीन सेवाओं का नियमन करते हैं। भारत का सेवातंत्र विश्व के सबसे प्रसिद्ध सेवातंत्रों में है।

संविधान के भाग 15, अनुच्छेद 324–329 में निर्वाचनों की व्यवस्था है गत 60 वर्षों में लोकसभा के लिए 14 आम चुनाव तथा विभिन्न राज्यों के लिए अनेक आम चुनाव हो चुके हैं और कुछ कमियों के बावजूद यह पाया गया है कि चुनाव निष्पक्ष, स्वतंत्र और सफल रहे हैं।

स्वतंत्र भारत का संविधान 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ। संविधान के कार्यकरण को 57 वर्ष हो चुके हैं। संविधान के अंतर्गत विधिवत् प्रथम निर्वाचन 1951–52 में हुए। प्रथम लोकसभा का गठन 17 अप्रैल, 1952 को हुआ। उसकी पहली बैठक 13 मई, 1952 को हुई।

2.7. लोकतंत्र से संबंधित विभिन्न दृष्टिकोण (Democracy)

अब हम लोकतंत्र से संबधित उन दृष्टिकोण का परीक्षण करेंगे जो इसे एक आदर्श के रूप में तो मानते हैं, लेकिन इसकी कार्यप्रणाली या व्यावहारिक रूप की आलोचना करते हैं। आधुनिक दौर में उदारवादी–लोकतंत्र लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली का प्रभुत्वशाली स्वरूप रहा है। इसलिए, जो आलोचक लोकतंत्र को ज़्यादा गहराई और मज़बूती देना चाहते हैं, वे सबसे पहले उदारवादी–लोकतंत्र का मूल्यांकन करते हैं और इसके बाद इसका विकल्प पेश करते हैं।

समाजवादी दृष्टिकोण

अभिजनवादी दृष्टिकोण की तरह समाजवादी भी यह मानते हैं कि एक लोकतंत्र में राजनीतिक शक्ति का प्रयोग किसी ख़ास समूह के हितों की सुरक्षा करने और उसे आगे बढ़ाने के लिए किया जा सकता है।

नोट

अभिजनवादी यह मानते हैं कि अभिजन मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और आर्थिक रूप से आम लोगों से ज़्यादा मज़बूत स्थिति में होते हैं लेकिन समाजवादी यह मानते हैं कि अल्पसंख्यक समूह की शक्ति उनके वर्ग की आर्थिक स्थिति के कारण होती है। अर्थात उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण होने के कारण उनकी स्थिति बहुत मज़बूत होती है। इस तरह, समाजवादी यह मानते हैं कि असमानता 'स्वाभाविक' नहीं है। दरअसल, कुछ ख़ास सामाजिक और आर्थिक व्यावस्थाओं के कारण ही असमानताएँ पैदा होती हैं। पूँजीवादी बाज़ार–व्यवस्था के कारण व्यवस्थित रूप से असमानता उत्पन्न होती है। समाजवाद की हर धारा में यह विचार पाया जाता है कि लोकतंत्र और पूँजीवाद एक–दूसरे से असंगत हैं। लोकतंत्र राजनीतिक समानता पर आधारित होता है और पूँजीवादी निजी संपत्ति और बाज़ार–अर्थव्यवस्था पर आधारित होता है। बाज़ार–अर्थव्यवस्था में आर्थिक संसाधनों तक लोगों की असमान पहुँच होती है। इसी कारण, ज्ञान और सूचना तक भी लोगों की असमान पहुँच होती है। इसलिए, निजी संपत्ति के अस्तित्व और संपत्ति के असमान वितरण के कारण समाज में सामाजिक–आर्थिक असमानता होती है। इस असमानता के कारण अधिकांश लोग अपनी राजनीतिक स्वतंत्रताओं का प्रभावशाली तरीके से प्रयोग नहीं कर पाते हैं। एक बाज़ार अर्थव्यवस्था में अधिकांश लोगों के पास राजनीति में भागीदारी करने के लिए समय या संसाधन नहीं होते हैं।

मार्क्सवादी इस उदारवादी संकल्पना को चुनौती देते हैं कि राज्य एक तटस्थ संस्था है। चूँकि राज्य निजी संपत्ति की सुरक्षा करने के लिए वचनबद्ध होता है, इसलिए यह गहरे रूप से नागरिक समाज से जुड़ा होता है। मार्क्स और एंजेल्स के लेखन में राजनीतिक शक्ति के बारे में दो तरह के विचार मिलते हैं। पहले स्तर पर राज्य और उसकी एजेंसियों को प्रभुत्वशाली वर्ग के हितों को पूरा करने या उनकी सुरक्षा करने का साधन माना जाता है। मार्क्स ने द कम्युनिस्ट मैनिपफेस्टो (1848) में यह उद्घोषणा की कि 'आधुनिक राज्य की कार्यप्रणाली पूरे बुर्जुआ के सामान्य मामलों का प्रबंधन करने वाली समिति है।' दूसरे स्तर पर, मार्क्स और एंजेल्स प्रभुत्वशाली वर्ग से राज्य की सापेक्षिक स्वायत्तता'(relative autonomy of the state) की बात करते हैं। चुनावों की मज़बूरी और संसदीय लोकतंत्र के काम करने के तरीक़े के कारण सरकारें, श्रमिक–वर्ग के बहुमत की कुछ माँगों को पूरा होने वाले कोशिश करती हैं। बहुत से उदारवादी–लोकतंत्रों में ऐसी नीतियाँ अपनाई जाती हैं, जिनसे बाज़ार के कारण पैदा होने वाले असमान नतीजों के प्रभावों को कम किया जा सके। मसलन, संपत्ति पर टैक्स लगाना और नए रोज़गार के ज्यादा–से–ज्यादा अवसर पैदा करना आदि इसी तरह की नीतियों के उदाहरण हैं। लेकिन मार्क्सवादी इसे अल्पकालिक उपाय के रूप में ही मानते हैं, क्योंकि राज्य पूँजी के दीर्घकालिक (long term) हितों के खिलाफ़ काम नहीं कर सकता। इसलिए, मार्क्सवादियों का यह मानना है कि व्यवस्था को बदलने के लिए वोट का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। इसका कारण यह है कि कल्याणकारी नीतियों से बाज़ार के कुछ ग़लत प्रभावों को थोड़ा–बहुत दूर किया जा सकता है, लेकिन इससे असमानता के संरचानात्मक कारणों को दूर नहीं किया जा सकता। साथ ही, सरकारों द्वारा कल्याणकारी नीतियों को अपनाने पर संविधान द्वारा कई तरह की सीमाएँ भी लगाई जाती हैं।

मार्क्सवादी यह मानते हैं कि उदारवाद में मुक्तिकारी संभावना (emancipatory potential) है क्योंकि यह हर तरह के पदसोपान को ख़ारिज करता है और व्यक्तियों की नैतिक समानता को स्वीकार करता है। लेकिन उदारवादी, राज्य और नागरिक समाज या सार्वजनिक और निजी क्षेत्र में अंतर करते हैं। इस कारण, ये अर्थव्यवस्था को निजी क्षेत्र की आज़ादी वाले दायरे में डाल देते हैं। इस तरह, यह राजनीतिक निर्णय–निर्माण के दायरे से बाहर हो जाता है। नागरिक समाज में उत्पन्न होने वाले सामाजिक–आर्थिक विभाजन , राज्य द्वारा दी गई राजनीतिक समानता की गारंटी को प्रभावहीन कर देते हैं। वर्ग–शक्ति की असमानता का सामना करने में असमर्थ लोकतंत्र को अपर्याप्त ही माना जा सकता है। कई बार ऐसा लोकतंत्र दिखावा बनकर रह जाता है। टॉकविल जैसे विचारकों को यह डर था कि लोकतंत्र के कारण आम लोगों की तानाशाही क़ायम हो सकती है। इसके विपरीत, मार्क्सवादियों को यह डर है कि ऐसा नहीं होगा। बुर्जुआ मूल्यों के विचारधारात्मक और सांस्कृतिक प्राधान्य (या हेजिमनी) के कारण श्रमिक वर्ग की सहमति हासिल कर जाती है। इसमें ग़रीब लोगों को यह बताया जाता है कि उनकी ग़रीबी का कारण यह है कि वे बहुत ज्यादा मेहनत नहीं करते हैं (हेजिमनी की संकल्पना को समझने के लिए शक्ति से संबंधित अध्याय 9 देखें)। दरअसल, उदारवादी–लोकतंत्र और संस्थाएँ समानता का सैद्धांतिक या वैचारिक दिखावा करती हैं। इस तरह, ये पूँजीवाद को वैधता देने का काम करती हैं। लोकतंत्र 'समाजवाद की ओर ले जाने वाला मार्ग, उपलब्ध कराता है, जो पूँजीवादी के बिल्कुल उलट है।

नोट

उदारवादी–लोकतंत्र में व्यक्तिवादी अधिकारों को बहुत महत्वपूर्ण माना जाता है। लेकिन मार्क्सवादी का और समाजवादी इन व्यक्तिवादी अधिकारों की प्रकृति की आलोचना करते हैं। मार्क्स इन अधिकारों को अहंवादी आदमी के अधिकारों की संज्ञा देते हैं। ये अधिकार आदमी को उसके समुदाय से अलग करते हैं और इनके कारण आदमी ही किसी को प्रतियोगी और ख़तरे के रूप में देखता हैं समाजवादी ऐसी स्थिति हासिल करना चाहते हैं, जहाँ एक व्यक्ति का स्वतंत्र विकास सभी लोगों के स्वतंत्र विकास से सुसंगत हो। इसलिए वे ज्यादा सहभागी लोकतंत्र को अपनाते हैं। यह लोकतंत्र सभी सामूहिक मामलों का प्रबंधन करता है। अर्थात् इसमें यह बात भी शामिल है कि काम के स्थान पर भी लोकतंत्र होना चाहिए। समाजवादी एक ऐसे आर्थिक लोकतंत्र की संकल्पना पेश करते हैं, जहाँ ऐसा कोऑपरेटिव हो, जिसमें किसी एक वर्ग के पास मालिकाना हक़ न हो और जहाँ वेतन–श्रम (Wagelabour) संबंध का अस्तित्व न हो।

कम्युनिस्ट या साम्यवादी देश क्रांति द्वारा समाजवादी लक्ष्य हासिल करना चाहते हैं। इन देशों ने एक ऐसे जन–लोकतंत्र (People's democracy) की वकालत की है, जिसमें एक पार्टी अर्थात् कम्युनिस्ट पार्टी के हाथों में नेतृत्व रहता है। यह पार्टी ही समाजवाद की ओर संक्रमण (Transition) में देश का मार्गदर्शन करती है। दूसरी ओर, सामाजिक लोकतंत्र (Social democracy) समाजवादी लक्ष्यों और उदारवादी–लोकतांत्रिक संस्थाओं में सामजस्य कायम करना चाहता है। यह समाजवाद की स्थापना को एक ऐसी लंबी प्रक्रिया के रूप में देखता है, जिसे धीरे–धीरे हासिल किया जा सकता है। इस पूरी प्रक्रिया में पूँजीवाद के अन्यायों को दूर करने के लिए चुनावी लोकतंत्र का उपयोग किया जा सकता है। इसके लिए अर्थव्यवस्था के व्यापक नियमन, नए रोज़गार और शैक्षिक अवसर उत्पन्न करने जैसे क़दम उठाने होंगे। इसके अलावा, इस संदर्भ में सकारात्मक कार्रवाई (Affirmative action) और सामाजिक सुरक्षा के दूसरे उपाय भी अपनाने होंगे। अगले भाग में हम सामाजिक लोकतंत्र पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

आमतौर पर, मार्क्सवादियों ने कम्युनिस्ट पार्टी और राज्य में मौजूद शक्ति के केंद्रीकरण की अनदेखी की है। एकदलीय कम्युनिस्ट राज्यों के अनुभव, पूर्वी–यूरोप में कम्युनिस्ट ब्लॉक के बुरे अनुभव और सोवियत संघ के पतन के कारण मार्क्सवादी चिंतन में लोकतंत्र पर फिर से विचार किया जाने लगा है। सामान्यतः मार्क्सवादी चिंतन में इस बात पर वाद–विवाद था कि राजनीतिक और आर्थिक आज़ादी में किसे प्राथमिकता दी जाए। दूसरी ओर, वामपंथ से जुड़े समकालीन विचारक यह मानते हैं कि समाजवाद और आर्थिक समानता को हासिल करने के लिए उदारवादी–लोकतंत्र के फ़ायदों को छोड़ने की ज़रूरत नहीं है। इस संदर्भ में वे उदारवादी–लोकतंत्र में लोगों को मिले व्यक्तिगत अधिकारों को बहुत महत्त्व देते है। ये इस बात पर ज़ोर देते है कि लोकतंत्र को ज्यादा गहराई देने की ज़रूरत है। इसके द्वारा असमानता को दूर किया जा सकता है और लोगों की भागीदारी भी बढ़ाई जा सकती है। इन विचारकों ने इस बात पर भी ध्यान दिया है कि कॉरपोरेट शक्ति बहुत बढ़ गई है और विश्व की अर्थव्यवस्था में अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय संगठनों का प्रभुत्व क़ायम हो गया है। ये मानते हैं कि वर्तमान समय में नव–उदारवादी वैश्वीकरण लोकतंत्र के लिए सबसे बड़ा ख़तरा है।

लोकतंत्र के संबंध में भारतीय वाद–विवाद

भारत और तीसरी दुनिया के बाकी कई देशों में लोकतांत्रिक विचारों का उभार उपनिवेश–विरोधी संघर्ष के दौरान ही हुआ। इन संघर्षो में यह दावा किया गया कि औपनिवेशिक शासन आत्म–निर्णय (Self-determination) के सिद्धांत का उल्लंघन है और लोगों को स्वशासन का लोकतांत्रिक अधिकार हासिल है। इन आंदोलनों ने यह दावा भी किया कि औपनिवेशिक शोषण के कारण ही उनका देश पिछड़ा हुआ है। इन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि औपनिवेशिक शासन ने उपनिवेशों के संसाधनों का उपयोग अपने देश के लोगों को फ़ायदा पहुँचाने के लिए किया। आज़ादी मिलने के बाद तीसरी दुनिया के सभी देशों के सामने यह चुनौती थी कि वे तेज़ी से आर्थिक विकास और सामाजिक परिवर्तन के कार्यक्रमों को लागू करें। इस संदर्भ में लोकतंत्र की संभावना और ज़रूरत के साथ–साथ लोकतांत्रिक शासन की प्रकृति पर भी वाद–विवाद किया गया। भारत का स्वतंत्रता आंदोलन समाजवादी विचारों सें प्रेरित था और इसके कई नेता सोवियत संघ की सफलताओं से प्रभावित थे। इस भाग में हम दो विचारकों, अर्थात् जवाहरलाल नेहरू और राममनोहर लोहिया के विचारों का परीक्षण करेंगे। इन दोनों ने भारतीय संदर्भ में समाजवाद को अपनाने की कोशिश की। साथ ही, हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि इन दोनों विचारकों के समाजवादी रूझानों ने लोकतंत्र संबंधी उनके विचार को किस प्रकार प्रभावित किया।

नोट

भारत की मज़बूत संवैधानिक और लोकतांत्रिक संस्थाओं की परंपरा का श्रेय जवाहरलाल नेहरू को दिया जाता है। नेहरू 19वीं सदी की उदारवादी–लोकतांत्रिक परंपरा और 20वीं सदी की शुरुआत में उभरकर सामने आए फेबियन समाजवाद–दोनों से ही प्रभावित थे। इसके अलावा, वे सोवियत–संघ में तेज़ी से हुए आर्थिक बदलावों की भी तारीफ़ करते थे। लोकतंत्र के उनके नज़रिए में इन सबका प्रभाव दिखता है।

नेहरू मानते थे कि लोकतंत्र एक ऐसी शांतिपूर्ण रास्ता है, जिस पर चलकर व्यक्तिगत आज़ादी और सामाजिक न्याय के लक्ष्यों को पाया जा सकता है। नेहरू व्यक्ति की भलाई को सबसे महत्त्वपूर्ण मूल्य मानते थे। उनके अनुसार, यह समाज तथा राज्य का सबसे ऊँचा लक्ष्य है। उनके विचारों से यह बात स्पष्ट रूप से सामने आती है कि वे व्यक्ति की आज़ादी और गरिमा को बहुत सम्मान देते थे। साथ ही, वे मानते थे कि सभी व्यक्तियों को अपनी क्षमता के अनुसार विकास करने का मौका मिलना चाहिए। उनका विश्वास था कि वाद–विवाद और विचार–विमर्श के द्वारा सच को समझा जा सकता है। वे मानते थे कि ताकिर्क रूप से विचार करते हुए लोगों को इस बात के लिए तैयार किया जा सकता है कि वे सामान्य हित को ध्यान में रखें। इसके लिए यह ज़रूरी है कि स्वतंत्र रूप से सार्वजनिक वाद–विवाद हो, तथा विरोधी नज़रिया रखने वाले लोगों के लिए सहिष्णुता की भावना हो। उन्होंने इस बात की वकालत की कि भारत में उदारवादी लोकतंत्र की संस्थात्मक रूपरेखा को लागू किया जाए और व्यक्तियों को मूल राजनीतिक और नागरिक अधिकार मिलने चाहिए। साथ ही, उन्होंने प्रेस की आज़ादी, राज्य और धर्म के बीच अलगाव के अर्थ में सेकुलरवाद, कानून के शासन, संसदीय सरकार और स्वतंत्र न्यायपालिका की भी ज़ोरदार तरफ़दारी की।

नेहरू ने समाजवादी विचारकों द्वारा की गई पूँजीवाद की समीक्षा का समर्थन किया। उन्होंने समानता को केवल राजनीतिक समानता के संदर्भ में ही परिभाषित नहीं किया। दरअसल उन्होंने इस बात पर भी ज़ोर दिया कि सभी लोगों को समान अवसर मिलना चाहिए और प्रगतिशील आर्थिक समानता होनी चाहिए। वे यह मानते थे कि आर्थिक असमानता होने पर शासक–वर्ग लोकतांत्रिक व्यवस्था को अपने कब्ज़े में कर सकता है। उनके अनुसार, कानून के सामने समानता करोड़पति और ग़रीब व्यक्ति को समान नहीं बनाती है तथा सामाजिक–आर्थिक समानता होने पर ही लोकतंत्र सुचारू रूप से काम कर सकता है। इसलिए, राजनीतिक लोकतंत्र को तभी मूल्यवान माना जा सकता है जब इसका उपयोग आर्थिक लोकतंत्र हासिल करने के लिए किया जाए। इसका अर्थ यह है कि अर्थव्यवस्था के मामले में राज्य को सक्रिय रूप से भाग लेना चाहिए। उन्होंने योजना के माध्यम से राज्य के नेतृत्व में आर्थिक विकास कार्यक्रम चलाने की वकालत की और भूमि–सुधार जैसे पुनर्वितरण के कार्यक्रमों का भी समर्थन किया। वे सोवियत संघ की संपन्नता और वहाँ संपत्ति के समान पुनर्वितरण की प्रशंसा करते थे। लेकिन वे साम्यवाद की आलोचना भी करते थे, क्योंकि वे मानते थे कि इसमें तानाशाही शासन, हिंसा और राजनीतिक असहमति का दमन करने की प्रवृत्ति होती है। वे यह मानते थे कि राजनीतिक स्वतंत्रता होने पर संवृद्धि (Growth) की दर धीमी होती है और तुलनात्मक रूप से कम पुनर्वितरण होता है। लेकिन उन्होंने राजनीतिक स्वतंत्राओं की कुर्बानी देने की जगह धीमी संवृद्धि और कम पुनर्वितरण को वरीयता दी।

इस प्रकार, लोकतंत्र को आर्थिक न्याय और व्यक्तिगत आज़ादी–दोनों को ही मुमकिन बनाना था। स्पष्ट तौर पर, नेहरू ने सामाजिक लोकतंत्र के मॉडल की वकालत की। नेहरू अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर लोकतंत्र की स्थिति को लेकर भी चिंतित थे। उन्होंने गुटनिरपेक्षता की नीति को वास्तविक रूप देने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसका लक्ष्य यह था कि ख़ासतौर पर, कमज़ोर देश अपनी विदेश नीति के संदर्भ में स्वतंत्रता से कम कर सकें और अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर उन्हें समान स्थिति हासिल हो।

लोहिया का दृष्टिकोण नेहरू से बहुत अलग था। वे साम्यवाद और नेहरू के लोकतांत्रिक–समाजवाद–दोनों के ही आलोचक थे। उनके अनुसार, दोनों के लिए ही समाजवाद का अर्थ केवल उत्पादन के पूँजीवादी संबंधों में बदलाव करना है। अर्थात् मुख्य रूप से ये पुनर्वितरण के तरीके के बारे में चिंतित हैं। लकिन पूँजीवाद की असमानताओं का कारण सिर्फ़ उत्पादन संबंध नहीं है, बल्कि इसके पीछे इसके तकनीक की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। पूँजीवाद को ख़ासतौर पर, व्यापक स्तर पर औद्योगीकरण और एक केंद्रीकृत उत्पादन प्रक्रिया की ज़रूरत होती है और राजनीतिक क्षेत्र में इसके लिए केंद्रीकृत राज्य की ज़रूरत होती है। इसलिए, पूँजीवाद में शक्ति के केंद्रीकरण की प्रवृत्ति होती है और यह इसे तानाशाही शासन (Authoritarian) बना देता है। नेहरूवादी समाजवाद ऐसा राज्य पूँजीवाद था, जिसमें कुछ कल्याणकारी विशेषताएँ शामिल थीं। नेहरू ने केंद्रीकरण की प्रवृत्ति को मान्यता दी, लेकिन इस बात पर भी ज़ोर दिया कि मूल–अधिकार और सार्वभौमिक वयस्क अधिकार लोगों की आज़ादी की गारंटी देते हैं। लोहिया चुनाव और संसदीय शासन के दूसरे पहलुओं

को महत्त्वपूर्ण मानते थे। लेकिन उनका यह भी मानना था कि इनके द्वारा लोगों की सक्रिय भागीदारी या सामाजिक परिवर्तन को हासिल नहीं किया जा सकता है। इस तरह, लोहिया ने कम्युनिस्ट राज्यों में शक्ति के केंद्रीकरण की ओर ध्यान आकर्षित किया।

नोट

लोहिया मानते थे कि सिर्फ़ लोगों की सक्रिय भागीदारी और संघर्ष द्वारा ही समाजवादी बदलाव लाया जा सकता है। लोकतंत्र का अर्थ यह है कि लोगों का अपनी ज़िंदगी पर नियंत्रण हो। यह सशक्तिकरण की एक प्रक्रिया है, इसमें शक्ति के केंद्रीकरण को रोकना और दमनकारी सामाजिक और सांस्कृतिक अन्यायों के ख़िलाफ नागरिक समाज में संघर्ष को लगातार बढ़ावा देना भी शामिल है। लोहिया ने शक्ति के केंद्रीकरण को रोकने के लिए दो स्तरीय रणनीति अपनाने की वकालत की। पहला, चौखंभा (Four-pillar Framework) द्वारा राजनीतिक शक्ति का विकेंद्रीकरण, और दूसरा, कुटीर उद्योगों द्वारा आर्थिक उत्पानद प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण। समुचित तकनीक की मदद से दूसरी रणनीति का उपयोग करने पर भारतीय समाज की विशेष आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। साफ़ तौर पर, लोहिया ने चौखंभा रूपरेखा द्वारा संवैधानिक रूप से राज्य की संप्रभु शक्ति को चार स्तरों पर फैलाने का सुझाव दिया। ये चार स्तर हैं–गाँव, ज़िला, प्रांत और केंद्र। सेना और प्रमुख बड़े कारखाने जैसे क्षेत्र केंद्र के अधिकार–क्षेत्र में आएँगे। छोटे कारखानों ज़िले के अंतर्गत आएँगे और गाँव खेती पर नियंत्रण रखेंगे। लोहिया की विकेंद्रीकरण की इस नीति की महत्त्वपूर्ण बात यह है कि यह सिर्फ़ कार्यपालिका की शक्तियों का ही विकेंद्रीकरण नहीं है, बल्कि यह विधायिका की शक्ति और योजना बनाने की प्रक्रिया का भी विकेंद्रीकरण है। इससे छोटे–से–छोटे समूह भी उत्पादन, स्वामित्व, प्रशासन और शिक्षा जैसी मानवीय गतिविधियों के बारे में फ़ैसला कर पाएँगे। लोहिया भारतीय समाज में जाति और लिंग के आधार पर होने वाले दमन को लेकर बहुत चिंतित थे। वे यह भी मानते थे कि ये दोनों आपस में जुड़े हुए हैं और इन समूहों के सशक्तिकरण और उन्हें देश की गतिविधियों से सक्रिय रूप से जोड़ने के लिए विकेंद्रीकरण ज़रूरी है।

लोहिया ने शक्ति के नौकरशाहीकरण और केंद्रीकरण को दूर करने के लिए सहभागिता और विकेंद्रीकरण जैसे उपायों को अपनाने पर नए सिरे से ज़ोर दिया। अध्याय के अंतिम भाग में हम इस मुद्दे पर विचार करेंगे।

नारीवादी दृष्टिकोण

नारीवादियों ने उदारवादियों द्वारा सार्वजनिक और निजी के बीच किए गए अंतर की आलोचना की है। उनका मानना है कि पुरुष और महिला के बीच का संबंध असमान शक्ति–संबंधों का ही एक रूप है। परिवार और घर के दायरे में श्रम का असमान विभाजन होता है। यहाँ बच्चों के पालन–पोषण सहित घर का अधिकांश काम महिलाओं द्वारा किया जाता है। इसके अलावा, इन कामों को बहुत कम महत्त्व दिया जाता है। इन्हें उत्पादक श्रम की श्रेणी में रखकर इनके लिए वेतन नहीं दिया जाता है। इस तरह, लोकतांत्रिक क्षेत्र असमान शक्ति संरचना का क्षेत्र है, इसलिए इसका और ज्यादा लोकतंत्रीकरण करने की ज़रूरत है। यह नादीवादियों द्वारा दिए गए इस नारे का एक आयाम है कि 'व्यक्तिगत राजनीतिक है' (Personal is Political)। इस नारे का एक दूसरा आयाम है कि निजी दायरे में श्रम और शक्ति का जेंडर–आधारित विभालन। यह सार्वजनिक दायरे में राजनीतिक हैसियत और शक्ति के असमान वितरण से जुड़ा हुआ है। जिन पश्चिमी देशों में लोकतंत्र का सबसे लंबा इतिहास रहा है, वहाँ महिलाओं को सबसे अंत में वोट देने का अधिकार मिला। मसलन, स्विट्ज़रलैंड़ में महिलाओं को 1971 में वोट देने का अधिकार मिला। अधिकांश राजनीतिक विचारकों ने स्पष्ट रूप से महिलाओं को नागरिकता की श्रेणी से बाहर रखा। इसके लिए उन्होंने यह तर्क दिया कि महिलाएँ हीन और असमर्थ हाती हैं। औपचारिक राजनीतिक समानता मिलने के बाद भी राजनीतिक संस्थाओं की निर्णय–निर्माण की संरचनाओं में महिलाओं का प्रतिनिधित्व बहुत कम रहा है। मसलन, भारत की लोकसभा में कभी भी महिलाओं का प्रतिनिधित्व 12 प्रतिशत से ज्यादा नहीं बढ़ा।

इसके अलावा, सेक्सुअल या यौन, सामाजिक और आर्थिक असमानता के आधार पर भी राजनीतिक समानता की उपेक्षा की जाती रही है, इसलिए महिलाओं की सहभागिता और प्रतिनिधित्व बढ़ाने के लिए विशेष नीतियों की ज़रूरत है। इन विशेष नीतियों में घरेलू काम का पुनर्वितरण (इसमें बच्चों की देखभाल में पुरुष–साथी या पति द्वारा मदद और इसके लिए सार्वजनिक प्रावधान करना–दोनों ही शामिल है) और चुनाव सुधार को शामिल किया जा सकता है। भारत में संसद और राज्य की विधायिकाओं में महिलाओं के लिए 33 प्रतिशत सीटें आरक्षित करने का प्रावधान चुनाव सुधार का ही एक रूप है।

छात्र क्रियाकलाप

1. लोकतंत्र के भेदों का वर्णन कीजिए।

2. लोकतंत्र के गुणों का उल्लेख कीजिए।

नोट

बहरहाल, नारीवादियों का मानना है कि महिलाओं के लिए तात्विक समानता (Substantive Equality) अपनाने के लिए विशेष प्रकार के उपाय करने की ज़रूरत है। वे मानती हैं कि इसके लिए अंतर या विभेद (Difference) की अवधारणा को अपनाना होगा। आमतौर पर, लोकतांत्रिक सिद्धांत में समानता का अर्थ यह माना जाता है कि हर तरह के विभेदों को समाप्त कर दिया जाए। इसलिए, औपचारिक राजनीतिक समानता लोगों के बीच किसी तरह के विभेद को मान्यता नहीं देती है। सामाजिक–आर्थिक समानता क़ायम करने पर ज़ोर देने वाला दृष्टिकोण किसी भी तरह के विभेद को एक नुकसान (या वंचना) के रूप में देखता है और इसे दूर करने पर ज़ोर देता है। लेकिन किसी व्यक्ति के नुकसान की स्थिति में होने की अवधारण तुलना पर आधारित होती है। और यह अवधारणा हमेशा किसी विशिष्ट मानक पर आधारित होती है। उदारवाद के केंद्र में व्यक्ति की संकल्पना है, जो स्वतंत्र, तार्किक और स्वहित की चिंता करने वाला व्यक्ति है। पुरुष और महिला के बीच अंतर को एक वंचना के रूप में समझना एक पुरुष मानक (Male norm) को अपनाना है। मसलन, राजनीतिक को हमेशा ही पुरुषों का क्षेत्र माना जाता रहा है और महिला राजनीतिज्ञों को यह साबित करना होता है कि वे इस मानक के अनुसार 'कठोर' और 'मजबूत' हैं। विभिन्न नीतियाँ बनाने के संदर्भ में भी यह बात लागू होती है। मसलन, गर्भावस्था को एक रोग या बीमारी के रूप में देखा जाता है, क्योंकि सामान्य या स्वस्थ होने का मानक पुरुष के शरीर के हिसाब से तय किया गया ह। विभेदों को नुकसान या वंचना के रूप में समझने का नतीजा यह हुआ है कि लोकतांत्रिक सिद्धांत महिलाओं की ज़िंदगी की सच्चाइयों के प्रति असंवेदनशील रहा है। दरअसल, किसी विशिष्ट मानक को स्वीकार करके उसे दूसरे लोगों पर थोप देना भेदभाव करना है। इससे एक समूह के रूप में महिलाएँ नुक़सान की स्थिति में रहती हैं। इसलिए, नारीवादी यह मानती हैं कि खुद लाकतांत्रिक सिद्धांत में लिंग संबंधित पूर्वाग्रह मौजूद है। तात्विक समानता को सुनिश्चित करने के लिए ज़रूरी है कि लोकतंत्र विभेदों को मान्यता दे और उन्हें समायोजित करने की कोशिश करे।

विमर्शी–लोकतंत्रवादियों (Deliberative democrats) (अलग भाग देखें) की तरह ही नारीवादियों ने भी इस बात के लिए उदारवादी लोकतंत्रों की आलोचना की है कि ये लोगों की वरीयताओं को पहले से तय मानते हैं और सहभागिता के संदर्भ में इनका दृष्टिकोण बहुत सीमित है। यदि यह मान लिया जाए कि लोगों के हित और वरीयताएँ पहले से ही तय होती हैं, तो लोकतांत्रिक निर्णय–निर्माण केवल यथास्थिति को क़ायम रखने का काम करेगा। असमान शक्ति संरचनाएँ, विचारधारओं और संरचनाओं के द्वारा खुद को क़ायत रखेंगी। इस तरह, महिलाओं के लिए लोकतंत्र की प्रक्रिया सशक्तिकरण की प्रक्रिया भी है। इसके द्वारा वे शोषण के प्रति जागरूक होती हैं, विश्वास हासिल करती हैं और अपनी स्थिति को बदलने की कोशिश करती हैं। हालाँकि, इसके लिए एक अधिक सक्रिय और सहभागी लोकतांत्रिक कार्यप्रणाली की आवश्यकता है।

विमर्शी दृष्टिकोण (Deliberative View)

समकालीन राजनीतिक सिद्धांत में विमर्शी–लोकतंत्र को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। विमर्शी–लोकतंत्र के विचार को आगे बढ़ाने वाले विचरकों में डेविड मिलर, जे. ड्राइजेक और जोशुआ कोहेन का नाम प्रमुख है। उदारवादी–लोकतंत्र यह मानता है कि निर्णय–निर्माण का अर्थ है–व्यक्तियों की वरीयताओं को एकत्रित करने से हासिल होने वाले नतीजे। अर्थात् यहाँ माना जाता है कि लोगों की वरीयताएँ और हित स्वतंत्र रूप से बनते हैं और राजनीतिक प्रक्रिया सिर्फ़ आपस में टकराने वाले हितों में समझौता करने का काम करती है। दूसरी ओर, विमर्शी–लोकतंत्रवादी यह मानते हैं कि लोगों की वरीयताएँ राजनीतिक प्रक्रिया के पहले नहीं बनती हैं, बल्कि ये राजनीतिक प्रक्रिया के दौरान बनती हैं। इसलिए, लोकतंत्र एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें विचार–विमर्श करके आम–सहमति द्वारा फ़ैसले तक पहुँचने की कोशिश की जाती है। अर्थात् विचार–विमर्श या डेलिबेरेशन ऐसी प्रक्रिया है, जहाँ लोग तार्किक बातचीत द्वारा एक–दूसरे की ज़रूरतों को समायोजित करने की कोशिश करते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा लोग उन सूचनाओं और दृष्टिकोणों को भी जान पाते हैं, जिनके बारे में उन्हें पहले जानकारी नहीं थी। इस तरह, वे एक–दूसरे के नज़रिए पर सवाल कर सकते हैं। इस प्रक्रिया द्वारा लोगों की वरीयताएँ और हित सामान्य सहमति को प्रदर्शित करते हैं। इस तरह, विमर्शी–लोकतंत्र, लोकतंत्र के सहभागी मॉडल को नए रूप में पेश करता है। इसका मुख्य विचार आपसी बातचीत है। खुली सहभागिता और असीमित विचार–विमर्श से एक बेहतर तर्क उभरकर सामने आते है। लेकिन जैसा कि हेबरमास मानते हैं,

इसके लिए 'एक आदर्श अभिव्यक्ति स्थिति' (Ideal speech condition) की ज़रूरत है। अर्थात् इसके लिए एक ऐसी स्थिति चाहिए, जिसमें लोग स्वतंत्र और समान व्यक्ति के रूप में सहभागिता करने और एक–दूसरे से अपने विचारों का आदान–प्रदान करने में समर्थ हों। स्पष्टतः ऐसी स्थिति पाने के लिए यह ज़रूरी है कि लोग शक्ति और परिस्थितियों के दबाव के बिना अपने विचारों को अभिव्यक्त करने में समर्थ हों। लेकिन यह ख़तरा हमेशा बना रहता है कि संचार या ज्ञान के किसी प्रभुत्वशाली रूप को आधिकारिक मान लिया जाए। इसके अलावा, विमर्शी–लोकतंत्रवादी जिस आम–सहमति को हासिल करने की उम्मीद करते हैं, उसे विविधता से भरे और जटिल समाजों में हासिल करना नामुमकिन तो नहीं, लेकिन मुश्किल ज़रूर है।

नोट

2.8. सारांश (Summary)

लोकतंत्र का शाब्दिक अर्थ–लोकतंत्र का अभिप्राय जनता के शासन से है। इस शासन में प्रत्येक नागरिक राजशक्ति के प्रयोग में हाथ बँटाता है।

लोकतंत्र की कुछ परिभाषाएँ–हेरोडोट्स ने लोकतंत्र की परिभाषा उस शासन के रूप में की है जिसमें राज्य की सर्वोच्च शक्ति संपूर्ण समाज के हाथों में रहती है। **डायसी** के अनुसार लोकतंत्र वह शासन- पद्धति है जिसमें शासन करने वाला समुदाय संपूर्ण जनसंख्या का एक बड़ा भाग होता है। **सीली, लार्ड ब्राइस** और **अब्राहम लिंकन** ने भी लोकतंत्र की परिभाषाएँ प्रस्तुत की हैं।

लोकतंत्र का राजनीतिक पक्ष–लोकतंत्र के राजनीतिक पहलू में राजनीतिक समानता के आदर्श को स्वीकार किया जाता है और राजनीतिक शक्ति पर किसी वर्ग विशेष का अधिकार नहीं माना जाता है।

लोकतंत्र का सामाजिक आदर्श–एक सामाजिक आदर्श के रूप में लोकतंत्र सब मनुष्यों की, स्त्रियों और पुरुषों की समानता का प्रतिपादन करता है। लोकतंत्र में जाति, धर्म, वर्ण, वंश, धन और लिंग के आधार पर विभिन्न व्यक्तियों के बीच भेदभाव की दीवारें खड़ी नहीं की जातीं।

लोकतंत्र एक मानसिक दृष्टिकोण के रूप में–लोकतंत्र इस बात को स्वीकार करता है कि औसत रूप से प्रत्येक ईमानदार नागरिक में वह योग्यता होती है कि वह शासन कार्य में भाग ले सके।

लोकतंत्र का आर्थिक आधार–लोकतंत्र की वास्तविक स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि समाज में आर्थिक संसाधनों का समतायुक्त वितरण हो और प्रत्येक व्यक्ति आत्म-विकास के पर्याप्त अवसर पा सके।

लोकतंत्र जीवन का एक समग्र दर्षन–लोकतंत्र जीवन का एक समग्र दर्शन है। लोकतंत्र की व्यापक परिधि में मानव-जीवन के सभी पहलू आ जाते हैं।

लोकतंत्र की आधारभूत धारणाएँ–लोकतंत्र की प्रमुख आधारभूत धारणाएँ पाँच हैं–1. स्वतंत्रता, 2. समानता, 3. भ्रातृत्वता, 4. व्यक्ति की महत्ता और 5. सहिष्णुता ।

स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने मन के अनुसार जीवन-निर्वाह की छूट है। तथापि, स्वतंत्रता उच्छृंखला नहीं है।

समानता का अभिप्राय यह है कि धर्म, जाति, वंश, आदि के आधार पर समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच कोई भेद नहीं किया जाना चाहिए।

भ्रातृत्वता से आशय यह है कि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच सौहार्द रहना चाहिए। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसका अभिप्राय है प्रेमपूर्ण सह-अस्तित्व।

व्यक्ति की महत्ता का अर्थ यह है कि व्यक्ति किसी साध्य की पूर्ति के लिए साधन नहीं है बल्कि वह अपने आपमें साध्य है इस कसौटी के कारण लोकतंत्रवादी राज्य सर्वाधिकारवादी राज्यों से भिन्न होता है।

सहिष्णुता का अभिप्राय यह है कि लोकतंत्र में हर व्यक्ति को अपनी राय रखने का अधिकार है।

लोकतंत्र के भेद–लोकतंत्र के दो भेद हैं–1. प्रत्यक्ष या विशुद्ध लोकतंत्र और 2. परोक्ष या प्रतिनिधिक लोकतंत्र।

प्रत्यक्ष या विषुद्ध लोकतंत्र-परोक्ष या प्रतिनिधिक–लोकतंत्र के अंतर्गत जनता समय-समय पर अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है और ये प्रतिनिधि विधानसभाओं में जनता की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं।

नोट

लोकतंत्र का संक्षिप्त इतिहास–प्राचीन भारत के राजनीतिक साहित्य और संस्थाओं में लोकतंत्र के तत्व पाए जाते हैं। 'सभा', 'समिति' और 'पंचायत' जैसी संस्थाएँ लोकतंत्र की आधार थीं।

यूनान में सभी नागरिक, राजकर्मचारियों की नियुक्ति और दैनिक शासन-संचालन में भाग लेते थे। यूनानियों ने लोकतंत्र के अधिकार केवल अल्पसंख्यक नागरिकों को दिए थे। दूसरे देशों के नागरिक और दास नागरिकता के अधिकारों से वंचित थे।

रोम–रोम में लोकतंत्र स्थापित न हो सका। नागरिकों का शासन के कार्यों में योग केवल नाममात्र के लिए था।

मध्ययुग–मध्ययुग में अनुबंध के सिद्धांत का विकास हुआ। इस सिद्धांत का आशय यह था कि यदि शासक अनुबंध की शर्तों के अनुसार शासन न करे, तो प्रजा उस शासक को बदल सकती है।

धर्म सुधार आंदोलन–धर्म सुधार आंदोलन ने यह निश्चित कर दिया कि नागरिकों को राज्य से मतभेद रखने का पूरा अधिकार है। धर्म सुधार आंदोलन ने अनुबंध सिद्धांत का भी प्रतिपादन किया और इस बात पर जोर दिया कि राजाओं की शक्ति सीमित होनी चाहिए।

चार क्रांतियाँ–लोकतंत्र के वर्तमान रूप को स्थिर करने में चार क्रांतियों से विशेष सहायता मिली है। वे क्रांतियाँ थीं–(1) 1688 की इग्लैंड की गौरवपूर्ण या रक्तहीन क्रांति, (2) 1776 की अमरीकी क्रांति, (3) 1789 की फ्रेंच राजक्रांति और (4) 19 वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रांति।

आधुनिक प्रवृत्ति–आधुनिक प्रवृत्ति लोकतंत्र के पक्ष में है। संसार के प्रायः सभी देश औपनिवेशिक शासन से मुक्त हो चुके हैं। अफ्रीका और लैटिन अमरीका के देशों में लोकतंत्रात्मक संस्थाएँ पूरी तरह अपनी जड़ें नहीं जमा सकी हैं।

लोकतंत्र के गुण–आधुनिक समानता के सिद्धांत पर आधारित है और उसका उद्देश्य जनता का हित करना है वह नागरिक समुदाय के बीच स्वतंत्रता की भावना का प्रसार करता है। लोकतंत्र जनता की सहमति का शासन है। लोकतंत्रात्मक देशों में देश-भक्ति की भावना अन्य शासन प्रणालियों की तुलना में अधिक पाई जाती हैं। लोकतंत्र में प्रत्येक व्यक्ति का महत्व है और उसके सुधार का प्रयत्न किया जाता है वह लोगों को नागरिकता की शिक्षा प्रदान करता है।

लोकतंत्र की आलोचना–जनसाधारण का लोकतंत्र निर्वाचनों के दौरान उम्मीदवारों को मत देने तक सीमित रहता है प्रतिनिधि एक बार निर्वाचित होने पर मतदाताओं को भूल जाते हैं। मतदाताओं का उनके ऊपर कोई नियंत्रण नहीं रहता।

लोकतंत्र अयोग्य और अनुत्तरदायी जनता का शासन है शासन एक कला है और कुछ चुने हुए व्यक्ति ही शासन-कला में पारंगत हो सकते हैं। **प्लेटो, सर हेनरी मेन, फैजेट** और **लेकी** जैसे चिंतकों ने यही विचार व्यक्त किया है। लोकतंत्र में उलकबंदी को प्रोत्साहन मिलता है इसमें जनता के हितों की अपेक्षा दल-विशेष के हितों को अधिक महत्त्व दिया जाता है। लोकतंत्र की एक बड़ी त्रुटि यह है कि समाज के विभिन्न वर्गों के बीच विद्वेष बढ़ता है, सत्ता का वास्तविक स्रोत आर्थिक शक्ति के नियंताओं के हाथों में रहता है, लोकतंत्र एक मुखौटा बन जाता है जिसके द्वारा पूँजीपति वर्ग अपना असली चेहरा छिपाए रखता है। लोकतंत्र अत्यंत महँगा शासन है निर्वाचन बड़े महँगे होते हैं। लोकतंत्र में विरोधी दल एक-दूसरे के ऊपर कीचड़ उछालते रहते हैं। खलनायक राजनीति को अपना पेशा बना लेते हैं और जनता को पथभ्रष्ट करते हैं। लोकतंत्र बहुमत का शासन है और इक्यावन प्रतिशत जनता 49 प्रतिशत जनता को पीड़ित कर सकती है अपने सारे दोषों के बावजूद लोकतंत्र अन्य सभी शासन-प्रणालियों की अपेक्षा ज्यादा अच्छी मानी गई है।

लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यकता शर्तें–लोकतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक शर्तें ये हैं–(1) जनशिक्षा, (2) जनमत, (3) राजनीतिक दल, (4) नागरिकों का शासन में योग, (5) सहिष्णुता, (6) एकता और (7) आर्थिक सुरक्षा।

भारत में लोकतंत्र की संभावनाएँ–सिद्धांत और व्यवहार दोनों की दृष्टियों से भारत के लिए लोकतंत्र का आदर्श बिलकुल नया नहीं है प्राचीन और मध्यकालीन भारत में पंचायतों के रूप में लोकतंत्र की अटूट परम्परा रही थी। स्वतंत्रता के पश्चात् भारतीय संविधान ने देश में लोकतंत्र की स्थापना के सभी आवश्यक उपकरण प्रदान किए हैं। पृथकतावादी और क्षेत्रीय भावनाएँ भारतीय लोकतंत्र की सफलता के मार्ग में विकट

बाधाएँ हैं। जातिवाद और साम्प्रदायिकता का भी भारत से पूरी तरह लोप नहीं हुआ है। राष्ट्रीय हितों के प्रति पूरी तरह समर्पित सुयोग्य नेतृत्व का भी अभाव है। अब तक भारत में 14 लोकसभाओं का गठन हो चुका है। इस समय 14वीं लोकसभा काम कर रही है।

2.9 अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. लोकतंत्र के अर्थ एवं परिभाषाओं को लिखिए।
2. लोकतंत्र के भेदों का वर्णन कीजिए।
3. लोकतंत्र के गुणों का उल्लेख कीजिए।
4. भारत में लोकतंत्र की संभावनाओं का विवरण दीजिए।
5. भारत में स्वतंत्रता के पश्चात् लोकतंत्र को स्पष्ट कीजिए।
6. लोकतंत्र के विभिन्न दृष्टिकोणों पर प्रकाश डालें।

❑❑❑

इकाई–3

नोट

अध्याय-3

राज्य तथा अन्य मानव संगठन
(State and Other Human Organisation)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

3.1. उद्देश्य (Objectives)
3.2. परिचय (Introduction)
3.3. राज्य की परिभाषा (Definition of State)
3.4. राज्य के तत्व (Elements of State)
3.5. राज्य एवं समाज (State and Society)
3.6. राज्य और शासन (State and Government)
3.7. राज्य और राष्ट्र (State and Nation)
3.8. सारांश (Summary)
3.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

3.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में–

- राज्य की परिभाषा एवं तत्वों का अध्ययन करेंगे।
- राज्य और समाज के अंतर को जानेंगे।
- राज्य और शासन के बारे में अध्ययन करेंगे।
- राज्य और राष्ट्र का अध्ययन करेंगे।

3.2. परिचय (Introduction)

राज्य राजनीति विज्ञान के अध्ययन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विषय है। वस्तुतः राज्य के अध्ययन के अभाव में राजनीति विज्ञान के अध्ययन को पूर्ण नहीं माना जा सकता। राज्य राजनीति विज्ञान के अध्ययन का केंद्रीय विषय है। राज्य के इसी महत्त्व को ध्यान में रखते हुए **गार्नर** ने लिखा है कि "राजनीति विज्ञान का प्रारंभ तथा अन्य राज्य के साथ होता है।" यद्यपि 'राज्य' राजनीति विज्ञान का मुख्य विषय है। लेकिन इस शब्द को विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया जाता है, जिसके कारण इसके वास्तविक अर्थ को लेकर भ्रम उत्पन्न हो जाता है। अतः 'राज्य' शब्द के वास्तविक अर्थ को समझने के लिए राज्य शब्द कि व्युत्पत्ति एवं राज्य के संबंध में विभिन्न विद्वानों द्वारा जो परिभाषाएँ दी गयी हैं, उसका अध्ययन तथा विश्लेषण आवश्यक हो जाता है।

3.3. राज्य की परिभाषा (Definition of State)

नोट

हिंदी भाषा का शब्द **'राज्य'** अंग्रेजी भाषा के **'State'** का हिंदी रूपांतरण है। अंग्रेजी भाषा का शब्द **State** अपने आप में मूल शब्द नहीं है। क्योंकि इसकी व्युत्पत्ति स्तर से होता है। किंतु धीरे–धीरे इसका अर्थ बदलता गया और रोमन विचारक **सिअरो** के समय तक इसका अर्थ सारे समाज के स्तर से हो गया। आधुनिक अर्थ में राज्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग इटली के प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ मैकियावली द्वारा उनकी पुस्तक प्रिंट (1513) में किया गया। सोलहवीं शताब्दी में इंग्लैंड में इस शब्द का प्रयोग होने लगा।

राज्य की परिभाषाएँ (Definition of state) राज्य के संबंध में समय-समय पर विभिन्न विद्वानों द्वारा जो परिभाषाएँ दी गईं, उनको मोटे तौर पर निम्नलिखित दो भागों में बाँटा जा सकता है–

1. प्राचीन विचारकों की परिभाषाएँ,
2. आधुनिक विचारकों की परिभाषाएँ।

उपरोक्त दोनों प्रकार के चिंतकों की परिभाषाओं का संक्षिप्त विवरण निम्नवत है–

1. प्राचीन विचारकों की परिभाषाएँ–अरस्तु, सिसरो, सेण्ट आगस्टाइन आदि कुछ प्रमुख प्राचीन विचारकों की राज्य से संबंधित परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

1. **अरस्तु** के अनुसार, ''राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा संघ है जिसका उद्देश्य एक पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।"
2. **सिसरो** के अनुसार "राज्य का एक ऐसा बहुसंख्यक समुदाय है जो अधिकारों की समाज भावना तथा लाभों की प्राप्ति में पारस्परिक सहयोग द्वारा जुड़ा है।"
3. **सेण्ट ऑगस्टाइन** के अनुसार, "राज्य ऐसे व्यक्तियों के समझौता द्वारा निर्मित संस्था है जिन्होंने इसका निर्माण अपने संगठन और कर्त्तव्यों के प्रयोगों और मत के लिए तथा पारस्परिक संपर्क के लाभ की प्राप्ति के लिए किया है।"

प्राचीन लेखकों द्वारा राज्य की जो परिभाषाएँ दी गई हैं, उनके आधार पर राज्य के निम्नलिखित लक्षण स्पष्ट होते हैं–

1. राज्य व्यक्तियों का एक संघ है।
2. राज्य का उद्देश्य मनुष्य को सुखी और आत्मनिर्भर जीवन प्रदान करना है।
3. राज्य की समाज हित और सहयोगात्मक भावना गतिशील है।

2. आधुनिक विचारकों की परिभाषाएँ–राज्य के संबंध में कुछ प्रमुख आधुनिक लेखकों की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं।

1. **ब्लंटशली** के अनुसार, "किसी निश्चित भू-प्रदेश में राजनीतिक दृष्टि में संगठित व्यक्तियों को राज्य कहा जाता है।''
2. **बर्गेस** के अनुसार, "राज्य एक संगठित इकाई के रूप में मानव जाति का एक विशिष्ट भाग है।''
3. **बुड्रो विल्सव**, "एक निश्चित प्रदेश के अंतर्गत विधि के लिए संगठित जनता का नाम राज्य है।"
4. **हॉलैण्ड** के अनुसार, "राज्य असंख्य मनुष्यों का एक ऐसा संगठन है जिसका एक निश्चित प्रदेश पर अधिकार होता है, जिसमें बहुसंख्यकों अथवा निश्चित वर्ग की इच्छा, उनकी संस्था के आधार पर विरोधी तत्वों की किसी भी संख्या के विरूद्ध प्रभावी रहती है।"
5. **विलोबी** (Willoughby) के अनुसार, "राज्य मनुष्यों के उस समाज को कहते हैं, जिसमें एक ऐसी सत्ता पाई जाती है जो अपने अंतर्गत व्यक्तियों और व्यक्ति समूहों के कार्यों पर नियंत्रण रखती हो लेकिन वह स्वयं किसी नियंत्रण में न हो।''
6. **लिंडसे** के अनुसार, "राज्य समुदायों का समुदाय है।''

परिभाषाओं का विश्लेषण–राज्य संबंधी उपरोक्त परिभाषाओं का विश्लेषण करके स्पष्ट होता है कि कुछ लेखकों की परिभाषाएँ अपूर्ण हैं, क्योंकि उनसे राज्य के स्वरूप की वास्तविक तथा पूर्ण जानकारी प्राप्त नहीं होती है। ऐसी परिभाषाओं में राज्य के मात्र एक या दो महत्त्वपूर्ण तत्वों का उल्लेख किया गया है। जबकि कुछ परिभाषाओं में राज्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व संप्रभुता का उल्लेख नहीं किया गया है।

आधुनिक विद्वानों में **ओपनहाइम, फिल्मिमोर गर्नर** आदि की राज्य से संबंधित परिभाषाएँ विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि इन परिभाषाओं से राज्य के वास्तविक स्वरूप की समीचीन जानकारी प्राप्त होती है। राज्य एक सर्वोच्च राजनीतिक समुदाय है। राज्य के कुछ आधार युक्त तत्व हैं जिनसे मिलकर राज्य का निर्माण होता है। अतः राज्य की उसी परिभाषा को उत्तम माना जायेगा, जो कि राज्य के इन आधारभूत तत्वों को उजागर करती है। इन दृष्टि से ओपनहाइस, फिल्लिमोर, गिलक्राइस्ट तथा गार्नर की राज्य से संबंधित परिभाषाएँ उल्लेखनीय एवं महत्त्वपूर्ण हैं। हालांकि अन्य विद्वानों की परिभाषाओं से भी राज्य के किसी आवश्यक तत्व के महत्त्व को समझने में सहायता मिलती है। अतः उन परिभाषाओं को पूर्णतः निरर्थक तथा महत्त्वहीन नहीं माना जा सकता।

नोट

3.4. राज्य के तत्व (Elements of State)

राज्य के तत्व (Elements of State)–विभिन्न विद्वानों द्वारा राज्य के तत्वों के संबंध में विषयवार व्यक्त किया गया है। **विलोबी** ने राज्य के तीन आवश्यक तत्वों का उल्लेख किया है–(1) सामाजिक दृष्टि से एकता में बँधा हुआ समुदाय अथवा समाज (2) सरकार या शासन तंत्र के रूप में राजनीतिक व्यवस्था और (3) शासनाधिकारियों के अधिकारों और कर्त्तव्यों की सीमाओं को निर्धारित करने वाले लिखित अथवा अलिखित नियमों अथवा विधानों का संकलन।

ब्लंटशली ने राज्य के चार तत्व बताए हैं–

1. भूखंड, 2. जनता, 3. एकता और 4. संगठन

गार्नर ने राज्य के चार आवश्यक तत्व इस प्रकार बताए हैं–

1. मनुष्य का एक समुदाय,
2. एक प्रदेश जिसमें व स्थाई रूप से रहते हों,
3. आंतरिक संप्रभुता तथा बाह्य नियंत्रण स्वतंत्रता तथा
4. एक राजनैतिक संगठन अथवा तंत्र, जिसके द्वारा जनता की सामूहिक इच्छा की अभिव्यक्ति हो सके और वह कार्य रूप में लाई जा सके।

गैटल ने भी राज्य के चार तत्वों का उल्लेख किया है–1. जनता 2. प्रदेश 3. सरकार तथा 4. संप्रभुता।

राज्य के अनिवार्य तत्वों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

1. **जनसंख्या** (Population)–राज्य का प्रथम अनिवार्य तथा महत्त्वपूर्ण तत्व जनसंख्या है। जनसंख्या के बिना राज्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। वस्तुतः राज्य शब्द में संगठन की जो भावना निहित है, उसका अस्तित्व जनसंख्या पर ही निर्भर है। इसीलिए सभी विद्वानों ने जनसंख्या को राज्य का महत्त्वपूर्ण तत्व माना है। लेकिन जनसंख्या के संबंध में दो महत्त्वपूर्ण प्रश्न है–प्रथम, जनसंख्या कितनी हो, द्वितीय, जनसंख्या कैसी हो।

राजनीति विज्ञान के अनेक चिंतकों ने इस बात पर विचार किया है कि राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिए। प्राचीन युनानी चिंतक **प्लेटो** का कहना था कि एक आदर्श राज्य की जनसंख्या 5040 होनी चाहिए। प्लेटो के शिष्य **अरस्तु** ने राज्य की कोई निश्चित जनसंख्या नहीं बतायी है, लेकिन फिर भी उसका मानना यह है कि यह न बहुत अधिक होनी चाहिए और न बहुत कम। इसे इतना होना चाहिए कि आत्मनिर्भर होने के साथ-साथ शासन कर सकें। **रूसो** के अनुसार एक राज्य की जनसंख्या 10,000 होनी चाहिए। वस्तुतः प्लेटो, रूसो आदि विचारकों ने अपने-अपने समय की परिस्थितियों के अनुसार राज्य की जनसंख्या का उल्लेख किया है। आधुनिक विश्व के विभिन्न राज्यों के संदर्भ में देखा जाय तो कुछ राज्यों की जनसंख्या करोड़ों में है, जबकि कुछ की जनसंख्या हजारों अथवा लाखों में है अर्थात् जनसंख्या की दृष्टि से वे अत्यधिक बड़े हैं, जबकि कुछ अपेक्षाकृत काफी छोटे हैं। राज्य की जनसंख्या उतनी ही होनी चाहिए जितने के लिए उसके पास भू-भाग और प्राकृतिक संसाधन विद्यमान है। **गार्नर** के शब्दों में, ''जनसंख्या राज्य के संगठन के निर्वाह के लिए संस्था में पर्याप्त होनी चाहिए, जितनी के लिए भूखंड तथा राज्य के साधन पर्याप्त होने चाहिए तथा वह उससे अधिक नहीं होनी चाहिए, जितनी के लिए भूखंड तथा राज्य के साधन पर्याप्त हों।'' इसके साथ ही राज्य की स्थिरता, समृद्धि एवं श्रेष्ठता के लिए यह भी आवश्यक है कि राज्य की जनता चरित्र तथा व्यक्तित्व की दृष्टि से भी उच्च स्तर की हो।

छात्र क्रियाकलाप

1. राज्य का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. राज्य के तत्वों का वर्णन कीजिए।

नोट

2. निश्चित भू–भाग (Ierritory)–निश्चित भू-भाग राज्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्व है। बिना निश्चित प्रदेश के राज्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। **ब्लंटशली** के अनुसार, "जैसे राज्य का व्यक्तिगत आधार जनता है, उसी प्रकार उसका भौतिक आधार भूमि है।" इससे स्पष्ट है कि जब तक मनुष्यों का समुदाय किसी निश्चित भू-भाग में स्थायी रूप से नहीं बस जाता। तब तक वह राज्य नहीं कहा जा सकता। किंतु अनेक प्राचीन लेखकों ने निश्चित प्रदेश को राज्य का अनिवार्य तत्व नहीं माना है। इस संदर्भ में **जेल्लिनेक** ने लिखा है कि "उन्नीसवीं शताब्दी से पहले किसी भी लेखक ने राज्य की परिभाषा में भूमि या प्रदेश का उल्लेख नहीं किया है और क्लूबर प्रथम लेखक था जिसने 1817 ई. में राज्य के लिए निश्चित प्रदेश का होना आवश्क माना।" डिग्विट, हाल, हॉलेण्ड, सीले, क्लिोबी आदि विद्वानों ने निश्चित भू-भाग को राज्य का आवश्यक तत्व नहीं माना है, किंतु इनके अतिरिक्त अन्य सभी आधुनिक विद्वानों ने भूमि अथवा प्रदेश को राज्य का आवश्यक तत्व माना है। **गार्नर** के अनुसार, ''घुमक्कड़ (खानाबदोश) अवस्था के लोग राज्य के निर्माण की प्रक्रिया में हो सकते हैं परंतु वह तब तक राज्य नहीं होते जब तक वह स्थायी रूप से किसी निश्चित भू-भाग पर स्थिर न हो जाएँ।"

प्रत्येक राज्य के पास निश्चित भू-प्रदेश का आकार इतना होना चाहिए, जितना एक राज्य उसकी रक्षा कर सकता हो। वस्तुतः राज्य की भूमि कुछ सीमा तक राज्य की जनसंख्या के अनुपात में होनी चाहिए।

राज्य के भू-प्रदेश का अभिप्राय केवल स्थल से नहीं है बल्कि उसके अंतर्गत वे सभी प्राकृतिक साधन आ जाते हैं जो किसी राज्य को स्थल, जल तथा वायु से प्राप्त हो।

सामान्यतया राज्य के निश्चित भू-भाग के अंतर्गत निम्नलिखित बातें सम्मिलित होती हैं।

1. राज्य की सीमा के अंतर्गत आने वाला भू-भाग।
2. भू-प्रदेश के अंतर्गत सम्मिलित जलभाग, जैसे–झीलें, नदियाँ आदि।
3. क्षेत्रीय जल क्षेत्र, जैसे–किसी राज्य के तट से 3 झील या 12 मील का समुद्र।
4. राज्य के भू-क्षेत्र के अंतर्गत आने वाला वायुमण्डल।

राज्य का भू-भाग ऐसा होना चाहिए जो कि प्राकृतिक संसाधनों अथवा खनिज पदार्थों से संपन्न हो। क्योंकि ऐसे भू-प्रदेश में नागरिकों को आत्मनिर्भरता प्राप्त हो सकती है।

3. सरकार (Government)–सरकार राज्य का तीसरा अनिवार्य तत्व है। सरकार वह अभिकरण है, जिसके द्वारा राज्य की इच्छा अभिव्यक्त होती है और क्रियान्वित होती है। किसी निश्चित भू-प्रदेश पर बसा हुआ मानवीय समुदाय को तब तक राज्य की संज्ञा नहीं दी जा सकती, जब तक वह राजनीतिक दृष्टि से संगठित न हो। सरकार राज्य का वह महत्त्वपूर्ण अंग है जिसके द्वारा राज्य उन उद्देश्यों की पूर्ति करता है, जिसके लिए उसका संगठन किया जाता है। **गार्नर** के अनुसार, "सरकार राज्य का वह साधन या यंत्र है जिसके द्वारा राज्य के उद्देश्य अर्थात् सामान्य नीतियों और सामान्य हितों की पूर्ति होती है। सरकार के बिना जनता असंगठित या अराजक जनसमूह के रूप में होगी जो सामूहिक रूप से कोई भी कार्य करने में अक्षम होगा।"

सरकार के कार्यपालिका, व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका तीन महत्त्वपूर्ण अंग होते हैं। कार्यपालिका देश के शासन का संचालन करती है और कानूनों को क्रियान्वित करती है। व्यवस्थापिका कानूनों का निर्माण करती है तथा न्यायपालिका कानून की व्याख्या करती है। सरकार के लोकतंत्रवादी, एकतंत्रवादी, संसदीय, अध्यक्षात्मक, संघात्मक, एकात्मक आदि कई रूप होते हैं। जहाँ तक सरकार के अच्छे या बुरे होने का प्रश्न है, उसी सरकार को अच्छा और श्रेष्ठ माना जाता है जो कि जनहित की दृष्टि से कार्य करने वाली और लोककल्याणकारी है।

4. संप्रभुता (Sovereignty)–राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व संप्रभुता है। संप्रभुता को राज्य का प्राण कहा जाता है। संप्रभुता राज्य का वह तत्व है जो उसे अन्य संगठनों से पृथक करता है। संप्रभुता राज्य की वह शक्ति है जो इसे संप्रभु बनाती है।

संप्रभुता आंतरिक और बाह्य दो प्रकार की होती है–

1. आंतरिक संप्रभुता का अभिप्राय है कि राज्य को अपने क्षेत्र के अंतर्गत सर्वोच्च शक्ति प्राप्त होती है।
2. बाह्य संप्रभुता का अभिप्राय है कि राज्य किसी भी प्रकार के बाह्य नियंत्रण में न हो।

3.5. राज्य एवं समाज (State and Society)

नोट

समाज मानव संगठन का सर्वाधिक स्वाभाविक स्वरूप है। मानव-मानव के बीच जितने भी संबंध हैं, वे सब समाज में समाविष्ट हैं। समाज से तात्पर्य व्यक्तियों के ऐसे समुदाय से है, जिसका सामान्य हित हो तथा जो 'स्वजाति भावना' से परस्पर संबद्ध हो।

समाज का अभिप्राय–सामान्य संकल्प और सामान्य उद्देश्य समाज के मुख्य निर्माण तत्व हैं। एक भीड़ मात्र अथवा रेल में साथ-साथ यात्रा करने वाले व्यक्ति समाज की रचना नहीं कर सकते क्योंकि उनका सामान्य संकल्प नहीं होता। समाज की परिभाषा करते हुए **वार्कर** ने कहा है, "समाज राष्ट्र में अंतर्विष्ट समस्त ऐच्छिक निकायों अथवा समुदायों का उनके विभिन्न प्रयोजनों और उनकी समस्त संस्थाओं सहित, संपूर्ण योग होता है। यदि इन समुदायों को आपस में मिला दिया जाए तथा इन्हें एक इकाई माना जाए, तो वे उस सामाजिक सार तत्व का निर्माण करते हैं जो 'समाज' के सामान्य और व्यापक नाम से जाना जाता है।"

प्लेटो के समय से लेकर **हीगेल** तक प्रायः सभी आदर्शवादियों में यह प्रवृत्ति दिखाई देती है कि वे राज्य और समाज को एक मानते रहे हैं। **प्लेटो** और **अरस्तु** की दृष्टि में राज्य तथा समाज के बीच कोई अंतर नहीं था। आजकल के फासिस्ट और सर्वाधिकारवादी राज्यों में भी यह चेष्टा दिखाई पड़ती है कि वे राज्य तथा समाज को एक मान लेते हैं। इस चेष्टा का परिणाम यह हुआ है कि राज्य जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में व्याप्त हो गया है तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता एवं उत्प्रेरण केवल दिखावे की वस्तु रह गई है। यूनानी विचारकों के लिए तो राज्य एवं समाज को एक मानना स्वाभाविक था क्योंकि उनके नगर-राज्य बहुत छोटे-छोटे थे और इन नगर राज्यों के निवासी एक दूसरे के जीवन में पूरी तरह से घुले-मिले थे व उनकी समस्याएँ भी बड़ी सरल थीं।

राज्य एवं समाज को एक मानने की परंपरा–हमारे लिए यह मानना बिल्कुल उचित नहीं है कि राज्य एवं समाज एक है। हमारे लिए उनके अंतर को समझ लेना उपयोगी है।

राज्य और समाज में अंतर (Difference between State and Society)

साधारणतः राज्य और समाज को अनेक विद्वानों द्वारा समानार्थी समझा गया है। प्राचीन यूनानी चिंतक **प्लेटो** तथा **अरस्तु** राज्य तथा समाज में कोई भेद नहीं करते थे, किंतु यथार्थ में इन दोनों में पर्याप्त अंतर है। समाज और राज्य में मुख्य अंतर निम्न प्रकार हैं–

1. **उत्पत्ति की दृष्टि से अंतर**–उत्पत्ति की दृष्टि से समाज राज्य का प्रवर्ती है अर्थात् पहले समाज की उत्पत्ति हुई और बाद में राज्य का जन्म हुआ। आदिम युग के मनुष्यों का अध्ययन करने पर स्पष्ट होता है कि उस समय समाज का प्रादुर्भाव हो चुका था, भले ही वह असंगठित था, लेकिन राज्य नहीं था। कालांतर में धीरे-धीरे राज्य का विकास हुआ।

2. **आकार की दृष्टि से अंतर**–आकार की दृष्टि से समाज राज्य से अधिक विस्तृत तथा व्यापक है। समाज मनुष्यों के राजनीतिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, आर्थिक, नैतिक आदि विभिन्न पक्षों से संबंधित रहा है, जबकि राज्य का संबंध केवल मनुष्य के राजनीतिक पक्ष से है। इस प्रकार समाज का आकार राज्य से अपेक्षाकृत बड़ा है।

3. **उद्देश्य की दृष्टि में अंतर**–समाज तथा राज्य में उद्देश्य की दृष्टि से भी पर्याप्त अंतर है। समाज का उद्देश्य मनुष्य का बहुमुखी विकास करना है, जबकि राज्य का एक सीमित उद्देश्य है। राज्य मनुष्य के विकास के लिए अनुशासन बनाए रखने का प्रयास करता है। राज्य का एकमात्र मुख्य उद्देश्य राजनीतिक व्यवस्था को स्थापित करते हुए नागरिकों को संरक्षण और अवसर प्रदान करना है। **वार्कर** के शब्दों में, "उद्देश्य की दृष्टि से दोनों भिन्न हैं। राज्य केवल एक महान किंतु एक ही उद्देश्यों के लिए होता है। समग्र रूप में ये सभी उद्देश्य व्यापक और अत्यंत गंभीर होते हैं।"

4. **संगठन की दृष्टि से अंतर**–समाज तथा राज्य में संगठनात्मक दृष्टि से भी अंतर है। समाज अनेक समुदायों से मिलकर बनता है। अर्थात् समाज के अंतर्गत विभिन्न समुदायों का अस्तित्व होता है। ये समुदाय संगठित तथा असंगठित दोनों प्रकार के हो सकते हैं। राज्य भी राज्य के कई समुदायों में एक समुदाय है। किंतु राज्य एक राजनीतिक व्यवस्था के रूप में संगठित होता है। इस प्रकार समाज संगठित तथा असंगठित दोनों प्रकार का हो सकता है, लेकिन राज्य हमेशा संगठित होता है। क्योंकि राज्य की एक निश्चित प्रकार की संगठित राजनीतिक व्यवस्था होती है।

5. कार्यों की दृष्टि में अंतर–समाज मानव जीवन के विभिन्न पक्षों को प्रभावित तथा नियंत्रित करता है। इस दृष्टि से समाज का कार्य विस्तृत तथा व्यापक है। किंतु राज्य का मुख्य कार्य एक सुदृढ़ राजनीतिक व्यवस्था का निर्माण करके समाज में अनुशासन तथा व्यवस्था को बनाए रखना है। इससे स्पष्ट है कि समाज के कर्म वहुविध तथा विस्तृत हैं, जबकि राज्य के कार्य सीमित हैं। क्योंकि राज्य का मुख्य रूप से मानव जीवन के राजनीतिक पक्ष तथा राजनीतिक व्यवस्था से ही संबंध है।

नोट

6. प्रभुसत्ता की दृष्टि से अंतर–प्रभुसत्ता राज्य का एक महत्त्वपूर्ण लक्षण है। प्रभुसत्ता के कारण ही राज्य की एक स्वतंत्र तथा पृथक सत्ता होती है। राज्य में प्रभुसत्ता निहित होती है। इसी शक्ति के बल पर राज्य अपने सदस्यों को आदेश देता है और बलपूर्वक लागू करता है, लेकिन समाज में हमें इस प्रकार की प्रभुसत्ता शक्ति के दर्शन नहीं होते।

7. नियंत्रण के स्वरूप की दृष्टि से अंतर–राज्य के बाहरी क्रियाओं अथवा बाह्य संबंधों को नियंत्रण करता है। राज्य के कानून नागरिकों के बाह्य संबंधों का निगमन करते हैं लेकिन समाज बाह्य क्रियाओं के साथ-साथ मनुष्य की आंतरिक क्रियाओं से भी संबंध रखता है।

3.6. राज्य और शासन (State and Government)

हम लोग अपने दिन-प्रतिदिन के वार्तालाप में राज्य एवं शासन को पर्यायवाची मानते हैं। इस संबंध में एक फ्रेंच किसान की यह कथा बड़ी रोचक है कि वह अपने देश की लोकसभा के भवन में प्रवेश करना चाहता था। जब संतरी ने उसे टोका तो उसने कहा, "मैं राज्य से मिलना चाहता हूँ।" राज्य और शासन को एक मानने की प्रवृत्ति केवल जन-साधारण तक ही सीमित नहीं है, यह बहुत से राजनीतिक विचारकों में भी दिखाई देती है। उदाहरणार्थ, **क्रोचे** (Croce) का कहना है कि, ''राजनीतिक दृष्टि से राज्य एवं शासन एक ही चीज है।'' इसी भाँति **जी. डी. एच. कोल** का विचार है कि, "राज्य एक समुदाय की शासन व्यवस्था के अतिरिक्त कुछ नहीं है।" **हैनरी कोईन, डब्लू जी. सुमनर, एच जी केलर** तथा **लास्की** आदि विचारकों का भी यही मानना है। **लास्की** का कहना है कि, "राज्य एवं शासन का भेद व्यावहारिक महत्त्व का नहीं है वह सैद्धान्तिक रुचि का भले ही है। हमारे सामने राज्य का जो कार्य आता है। वह वस्तुतः शासन का कार्य होता है। राज्य और शासन को एक मानने की इस प्रवृत्ति के बावजूद, हमें उनके शैक्षणिक भेद को समझ लेना चाहिए।

राज्य और सरकार में अंतर

कभी-कभी भ्रमवश 'राज्य' तथा 'सरकार' का समानार्थी शब्दों के रूप में प्रयोग किया जाता है। फ्रांस का **सम्राट लुई चौदहवाँ** कहा करता था कि "मैं राज्य हूँ।" ब्रिटिश दार्शनिक **हॉब्स** ने भी सरकार तथा राज्य में कोई अंतर नहीं किया। **लास्की** के अनुसार "व्यावहारिक प्रशासन के प्रयोजन के लिए राज्य शासन ही है।'' इसी प्रकार **जी. डी. एच. कौल** का कहना है ''राज्य समाज में शासन के राजनीतिक यंत्र से कम या अधिक कोई वस्तु नहीं है।'' इस प्रकार राज्य और सरकार का प्रयोग कभी-कभी एक ही अर्थ में किया जाता है किंतु यथार्थ में राज्य तथा सरकार में मौलिक अंतर है। ये अंतर निम्न प्रकार है–

1. राज्य एक पूर्ण संगठन है जबकि सरकार उसका एक तत्व मात्र है–राज्य एक पूर्ण संगठन है जिसमें जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार तथा संप्रभुता चार तत्व होते हैं। इससे स्पष्ट है कि सरकार राज्य का एक तत्व मात्र है। यह राज्य की भाँति पूर्ण संगठन नहीं है, किंतु उसका एक अंग है।

2. राज्य एक अमूर्त्त संगठन है, जबकि सरकार उसका व्यावहारिक रूप है–राज्य राजनीतिक चिंतन की अमूर्त्त धारणा अथवा कल्पना मात्र है, लेकिन सरकार उसका मूर्त अथवा ठोस रूप है। राज्य आत्मा की भाँति है जिसे हम देख नहीं सकते, जबकि सरकार शरीर की भाँति उसका मूर्त्त रूप है। **बिलोबी** के शब्दों में "यह (राज्य और सरकार में अंतर) इस अंतर के समान है जो किसी व्यक्ति के नैतिक तथा दैहिक व्यक्तित्व और उसके भौतिक शरीर में होता है।"

3. राज्य की सदस्यता अनिवार्य है लेकिन सरकार की सदस्यता अनिवार्य नहीं है–राज्य की सदस्यता व्यक्ति के लिए अनिवार्य होती है। प्रत्येक व्यक्ति जहाँ अनिवार्यतः किसी न किसी राज्य का सदस्य अवश्य होता है परंतु सरकार की सदस्यता व्यक्ति के लिए अनिवार्य नहीं होती। प्रत्येक व्यक्ति जहाँ अनिवार्यतः किसी न किसी राज्य का सदस्य होता है वहाँ यह आवश्यक नहीं कि वह सरकार का भी सदस्य हो।

छात्र क्रियाकलाप

1. राज्य और समाज में अंतर स्पष्ट कीजिए।

2. राज्य और सरकार में अंतर बताइए।

नोट

4. राज्य एक स्थायी संगठन है जबकि सरकार अस्थायी होती है–राज्य और सरकार में सबसे बड़ा अंतर यह है कि राज्य स्थायी संगठन है जबकि सरकार अस्थायी होती है। सरकार में प्रायः परिवर्तन होता रहता है। क्योंकि कभी किसी दल की सरकार स्थापित होती है तो कभी किसी दूसरे दल की। किंतु सरकार के बदलने के साथ-साथ राज्य में कोई परिवर्तन नहीं होता।

5. राज्य के लिये निश्चित प्रदेश आवश्यक है, सरकार के लिए नहीं–निश्चित भू-प्रदेश राज्य का एक अनिवार्य तत्व है। बिना निश्चित भू-भाग के राज्य के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। लेकिन सरकार बिना भू-प्रदेश के भी स्थापित हो सकती है। उदाहरण के लिए द्वितीय महायुद्ध के दौरान जर्मनी के आक्रमण के कारण कई राज्यों ने अपनी सरकारें लंदन में स्थापित कर ली थीं।

6. राज्य स्वामी है, जबकि सरकार उसकी सेवक है–राज्य तथा सरकार के संबंधों की तुलना स्वामी तथा सेवक के संबंधों के रूप में भी की जा सकती है। वस्तुतः सरकार वह अभिकरण है, जिसके माध्यम से राज्य अपनी इच्छा को प्रकट करता है। अथवा अपने आदेश जारी करता है और अपने विभिन्न कार्यों का संपादन करता है। इस प्रकार राज्य के समस्त लक्ष्यों की पूर्ति सरकार द्वारा की जाती है और इस दृष्टि से सरकार को सभी शक्तियाँ राज्य से प्राप्त होती हैं।

7. राज्य में संप्रभुता निहित होती है, सरकार में नहीं–संप्रभुता राज्य का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। संप्रभुता केवल राज्य में निहित होती है। संप्रभुता के कारण ही राज्य को सर्वश्रेष्ठ संगठन कहा जाता है। किंतु सरकार में संप्रभुता नहीं होती। सरकार अपनी सत्ता राज्य से प्राप्त करती है। सरकार में परिवर्तन आने पर राज्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। क्योंकि प्रभुसत्ता राज्य में निहित होती है, सरकार में नहीं।

8. सरकार का विरोध किया जा सकता है, राज्य का नहीं–सरकार जनता की सेवक होती है। यदि सरकार जनभावनाओं के प्रतिकूल आचरण करती है तो जनता भी सरकार का विरोध कर सकती है। परंतु जनता राज्य का विरोध नहीं कर सकती। क्योंकि राज्य में जनता स्वयं भी शामिल होती है।

3.7. राज्य और राष्ट्र (State and Nation)

राज्य और समाज या राज्य और शासन की भाँति कभी-कभी राज्य और राष्ट्र को भी पर्यायवाची मान लिया जाता है। उदाहरण के लिए सामान्य लोक भाषा में हम अक्सर भारतीय राष्ट्र शब्द का प्रयोग कर बैठते हैं जबकि ऐसे प्रयोगों के समय हमारा वास्तविक आयाम भारतीय राज्य से है। वस्तुतः जिस राज्य में एक ही राष्ट्र निवास करता है, उस स्थिति में तो राज्य और राष्ट्र शब्द का एक ही अर्थ में प्रयोग शुद्ध होता है। लेकिन यदि किसी राज्य में बहुत-सी राष्ट्रीयताओं (Nationalities) का निवास है, वहाँ राष्ट्र और राज्य शब्दों का समान अर्थों में प्रयोग अशुद्ध है। उदाहरण के लिए प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व आस्ट्रिया–हंगरी के राज्य में आस्ट्रिया, हंगेरियन चैक और स्लाव आदि अनेक राष्ट्रीयताओं का निवास था। ऐसी स्थिति में आस्ट्रिया–हंगरी एक राज्य तो था, पर राष्ट्र नहीं। अस्तु, राजनीतिशास्त्र के छात्रों के लिए यह वांछनीय है कि इन शब्दों का अंतर समझ लें।

राष्ट्र शब्द का अंग्रेजी पर्याय नेशन (Nation) है, जो लैटिन के नेशिओं (Nation) शब्द से निकला है। नेशिओं का अर्थ "पैदा होना" या जन्म ग्रहण करना है।

अतः व्युत्पत्ति (Etymology) की दृष्टि से 'राष्ट्र' शब्द का अर्थ है–किसी भी स्थान के ऐसे निवासी जिनका मानव-वंशीय (Ethnic) उद्‌भव एक हो। राष्ट्र के इस अर्थ को स्पष्ट करते हुए **बर्गेस** ने कहा है कि, "राष्ट्र एक ऐसी जनसंख्या है जिसमें मानव-वंशिक एकता पायी जाती हो और जो एक निश्चित भूखण्ड में निवास करती हो।'' राष्ट्र की यह परिभाषा पूर्णतः संतोषप्रद नहीं है क्योंकि राष्ट्र अनेक तत्वों के संयोग फल का है जबकि इस परिभाषा में राष्ट्र के केवल दो तत्वों मानव-वंशीय एकता एवं सह निवास का ही उल्लेख किया गया है। राष्ट्र का निर्माण करने में इन तत्वों के अतिरिक्त धर्म, भाषा और सांस्कृतिक परंपराओं एवं एकता भी आवश्यक होती है। राष्ट्र का निर्माण करने में जो तत्व सबसे अधिक आवश्यक है, वह है एक जनसमूह की साथ रहने की भावना।

राज्य और राष्ट्र में भेद–राज्य और राष्ट्र के अंदर क्या भेद हैं, यह **गार्नर** के इस सूत्र से अच्छी तरह प्रकट हो जाता है, "न तो राष्ट्र अनिवार्यतः राज्य के रूप में संगठित एक जनसमूह है और न राज्य अनिवार्यतः एक राष्ट्र है।'' सूत्र का अभिप्राय यह है कि यदि किसी जनसमूह के पास अपना राजनीतिक संगठन अर्थात्

राज्य न हो तब भी वह राष्ट्र का निर्माण कर सकता है। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता के पूर्व भारत की जनता एक राज्य का तो निर्माण नहीं करती थी, लेकिन वह एक राष्ट्र अवश्य थी। इस दृष्टि से **बाह्य** का कहना बिल्कुल ठीक है कि "राष्ट्र एक राष्ट्रीयता (Nationality) है जो स्वतंत्र हो गई है या स्वतंत्र होने की इच्छा रखती है।"

नोट

पुनश्च, यह आवश्यक नहीं है कि राष्ट्र और राज्य की सीमाएँ सदैव एक सी हों। एक राज्य में एक से अधिक राष्ट्र हो सकते हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के पूर्व तुर्की बहुराष्ट्रीय राज्यों (Multi-National State) का श्रेष्ठ उदाहरण है।

राष्ट्रीयता का आध्यात्मिक पक्ष—यद्यपि राष्ट्र के अंतर्गत राजनीतिक तत्व शामिल हैं, लेकिन वह मुख्यतः एक मनोवैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक अवधारणा है। जब तक किसी जनसमूह में स्वकीयता की, एक होने की भावना नहीं होती, तब तक वह राष्ट्र का निर्माण नहीं कर सकता। पाकिस्तान का निर्माण होने से पूर्व हिंदू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्र नहीं, प्रत्युत एक राष्ट्र थे लेकिन जब मुस्लिम लीग के सतत् प्रचार ने मुसलमानों के उद्यम में पृथकता के बीज बो दिए, तब वे अपने को पृथक् राष्ट्र अनुभव करने लगे और उन्होंने उपज के लिए एक पृथक् राष्ट्रीय गृह की माँग की। इस प्रकार राष्ट्रीयता के अंतर्गत जो आध्यात्मिक तत्व पाया जाता है, राज्य के अंदर उसकी उपस्थिति आवश्यक नहीं है। अतः हम **जर्मन** की शब्दावली में कह सकते हैं "राष्ट्रीयता धर्म की भाँति आत्मपरक है।''

राज्यत्व वस्तुपरक है, राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक है, राजस्व राजनीतिक है, राष्ट्रीयता मन की स्थिति है, राज्यत्व कानून की स्थिति है राष्ट्रीयता एक अधिकार है, राज्य एक दायित्व है जिसको कार्यान्वित किया जा सकता है, राष्ट्रीयता एक प्रकार की भावना, चिंतन तथा जीवन का ढंग है, राज्यत्व एक ऐसी अवस्था है जो सभ्य जीवन से विलग नहीं की जा सकती।

3.8. सारांश (Summary)

राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक ऐसा संघ है जिसका उद्देश्य एक पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है। यह एक ऐसा बहुसंख्यक समुदाय है जो अधिकारों की समाज भावना तथा लाभों की प्राप्ति में पारस्परिक सहयोग द्वारा जुड़ा है। इसे मानव जाति का एक विशिष्ट भाग भी कहते हैं। विलोबी के अनुसार, ''राज्य मनुष्यों के उस समाज को कहते हैं, जिसमें एक ऐसी सत्ता पाई जाती है जो अपने अंतर्गत व्यक्तियों और व्यक्तिसमूहों के कार्यों पर नियंत्रण रखती हो लेकिन वह स्वयं किसी नियंत्रण में न हो।'' राज्य एक स्थाई संगठन है जबकि सरकार अस्थायी होती है। इसी प्रकार राज्य के स्वामी और सरकार को सेवक माना जाता है। अतः राज्य मनुष्य के विकास के लिए अनुशासन बनाए रखने का प्रयास करता है। राज्य का एकमात्र उद्देश्य राजनीतिक व्यवस्था को स्थापित करते हुए नागरिकों को संरक्षण और अवसर प्रदान करना है।

3.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. राज्य किसे कहते हैं? परिभाषा सहित समझाइए।
2. राज्य के तत्वों का विशद् वर्णन कीजिए।
3. राज्य और समाज में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. राज्य और शासन को परिभाषा सहित समझाइए।
5. राज्य और राष्ट्र में अंतर स्पष्ट कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-4

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांत
(Theory of Origin of State)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

4.1. उद्देश्य (Objectives)
4.2. परिचय (Introduction)
4.3. राज्य की उत्पत्ति (Origin of State)
4.4. राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत (The Divine Origin Theory)
4.5. सामाजिक समझौता का सिद्धांत (The Social Contract Theory)
4.6. राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धांत (The Force Theory)
4.7. पितृसत्तात्मक सिद्धांत (The Patriarchal Theory)
4.8. मातृसत्तात्मक सिद्धांत (The Matriarchal Theory)
4.9. ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धांत (The Historical or Evolutionary Theory)
4.10. राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धांत (Mark's Theory of Origin of State)
4.11. सारांश (Summary)
4.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

4.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आप राज्य की उत्पत्ति के सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे।

- ''राज्य की उत्पत्ति कैसे होती है''–का अध्ययन करेंगे।
- सामाजिक समझौते एवं दैवी उत्पत्ति के सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे।
- समझौते के कारण एवं स्वरूप के बारे में जानेंगे।
- पितृसत्तात्मक एवं मातृसत्तात्मक सिद्धांतों को पढ़ेंगे।
- विकासवादी सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे।

4.2. परिचय (Introduction)

मनुष्य स्वभाव से ही एक जिज्ञासु प्राणी है। अपनी इसी जिज्ञासु प्रवृत्ति के कारण मनुष्य प्रत्येक वस्तु के उद्‌भव और विकास की जानकारी प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहा है। ऐसी अनेक वस्तुओं में राज्य का अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। समान्यतः किसी वस्तु की उत्पत्ति के बारे में इतिहास से प्रमाणिक जानकारी प्राप्त होती है। लेकिन राज्य की उत्पत्ति के बारे में इतिहास से ऐसी कोई प्रमाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं हो पाती है। **गार्नर** के शब्दों में, "वे परिस्थितियाँ जिनमें आदिम मनुष्यों में सर्वप्रथम राजनीतिक चेतना का

प्रकाश हुआ और वे किसी प्रकार के राजनैतिक संगठन के रूप में एकत्रित हुए, ऐसे तथ्य हैं, जो पूर्णतः नहीं तो **गिलक्राइस्ट** के अनुसार, "राजनीतिक चेतना के उदय की परिस्थितियों के विषय में हम इतिहास से बहुत कम अथवा बिल्कुल नहीं जानते। जहाँ इतिहास विफल हो जाता है वहाँ हम कल्पना का आश्रय लेते हैं।"

नोट

4.3. राज्य की उत्पत्ति (Origin of State)

पहले के अध्यायों में हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है और उसने अपनी अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन विविध संवादों का निर्माण किया है, उनमें राज्य सबसे मुख्य है। उक्त विवेचन से यह साफ है कि राज्य का जन्म मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुआ है। लेकिन राजनीतिशास्त्र के छात्रों के लिए राज्य की उत्पत्ति के संबंध में केवल इतना ही जान लेना काफी नहीं है। उनके लिए यह भी आवश्यक है कि वे इस प्रश्न का कुछ गहराई से अध्ययन करें और राज्य की उत्पत्ति के संबंध में राजनीतिशास्त्र के आचार्यों ने जिन विभिन्न सिद्धांतों को प्रतिपादन किया है, उन्हें समझ लें। राज्य की उत्पत्ति के संबंध में राजनीतिशास्त्र ने मुख्य रूप से निम्नलिखित सिद्धांतों की चर्चा की है–

1. दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत (The Divine Origin Theory)
2. शक्ति सिद्धांत (The Force Theory)
3. पितृमूलक सिद्धांत (The Patriarchal Theory)
4. मातृमूलक सिद्धांत (The Matriarchal Theory)
5. सामाजिक अनुबंध सिद्धांत (The Social Contract Theory)
6. ऐतिहासिक विकासवादी सिद्धांत (The Historical or Evolutionary Theory)
7. मार्क्सवादी सिद्धांत (Marks's Theory)

आगे के पृष्ठों में हम इन सिद्धांतों में से प्रत्येक पर तनिक विस्तार से विचार करेंगे। अध्याय 7 में पहले चार सिद्धांतों पर विचार किया गया है। अध्याय 8 और 9 में सामाजिक अनुबंध सिद्धांत और विकासवादी सिद्धांत का विवेचन है।

4.4. राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत (The Divine Origin Theory)

राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत की परंपरा राज्य की उत्पत्ति के संबंध में सबसे पुराना सिद्धांत दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत है। **गेटल** के शब्दों में, "मानवीय इतिहास में एक लम्बे अर्से तक राज्य को ईश्वर की प्रत्यक्ष कृति समझा जाता था तथा सरकार धर्मतंत्रीय (Theocratic) थी।" इस सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि राज्य का निर्माण मनुष्यों ने नहीं किया, प्रत्युत वह तो ईश्वरीय सृष्टि है। प्राचीन काल में धर्म का जीवन के सभी क्षेत्रों पर नियत्रंण रहता था और लोगों में यह आम प्रवृत्ति पाई जाती थी कि वे अपनी सभी संस्थाओं में ईश्वर का हाथ देखते थे। संसार के सभी प्राचीन धर्मों में इस सिद्धांत के चिह्न पाए जाते हैं। ऋग्वेद की ऋचाओं में राजा को इंद्र और वरुण आदि नामों से संबोधित किया गया है। यजुर्वेद के एक मंत्र में राजा के लिए वैष्णवान् शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ है–"विष्णु की विभूतियों से युक्त अर्थात् विष्णु स्वरूप", महाभारत में भी राजा को देव माना गया है। उसके शांतिपर्व में कहा गया है कि राजा की उत्पत्ति यम, कुबेर, वरुण, इंद्र, अग्नि आदि देवों के अंश से हुई है। मनुस्मृति में भी राजा को देव माना गया है और कहा गया है कि राजा चाहे बालक ही क्यों न हो, लेकिन उसका अपमान नहीं करना चाहिए। हिंदुओं की भाँति ही प्राचीनकाल के मिस्त्र के निवासी यहूदी, फारसी और जापानी आदि सभी लोग राजा की दैवी उत्पत्ति में आस्था रखते थे। यहाँ तक कि यूनानी दार्शनिक **प्लेटो** एवं **अरस्तु** के बारे में भी यह कहा जा सकता है कि उन्होंने परीक्षा रूप से इस सिद्धांत का समर्थन किया है क्योंकि वे राज्य को प्राकृतिक समझते थे अर्थात् उनके मत से राज्य मनुष्यों के किसी जाने-बूझे प्रयास का परिणाम नहीं था। ईसाई धर्म भी राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत का प्रबल समर्थन किया है। उदाहरणार्थ, संत पॉल का कहना था, "प्रत्येक आत्मा को सर्वोच्च सत्ताओं के अधीन होना चाहिए क्योंकि ईश्वरीय सत्ता के अतिरिक्त अन्य कोई सत्ता नहीं है। जो सत्ता विद्यमान

नोट

है, उसे ईश्वर ने नियुक्त किया है। जो कोई भी इस सत्ता का प्रतिरोध करता है, वह ईश्वर देश का प्रतिरोध करता है और जो ऐसा करता है, उसको नरक मिलेगा।"

मध्ययुगीन यूरोप में इस सिद्धांत का व्यापक प्रचार हुआ। इस काल के इतिहास की मुख्य विशेषता पोप एवं सम्राटों का वाद-विवाद है। दोनों ही पक्षों का यह दावा था कि वे एक-दूसरे से श्रेष्ठ है और उन्होंने अपनी इस श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिए स्वयं को ईश्वर का प्रतिनिधि बतलाया।

सोलहवीं तथा सत्रहवीं शताब्दियों में **लूथर, मैलैकधीन** और **काटवीन** आदि धर्म-सुधारक आंदोलन (Reformation) की जो लहर उठी थी, उससे राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत को विशेष प्रोत्साहन मिला। यह सिद्धांत अठाहरवीं शताब्दी के अंत तक लोगों के मस्तिष्कों पर छाया रहा। इंग्लैण्ड के **स्टुअर्ट शासकों** ने इस सिद्धांत के आधार पर अपने दैवी अधिकारों को न्याय-संगत सिद्ध करने की चेष्टा की थी। **जेम्स प्रथम** ने अपनी पुस्तक "The True Laws of free Monarchy" में लिखा था," जिस प्रकार परमात्मा के कृत्य पर टीका-टिप्पणी करना निंदनीय और नास्तिकता है ठीक इसी प्रकार किसी प्रजाजन का राजा के अर्थों पर विवाद करना भी अत्यंत तुच्छ और हेय है।" अठाहरवीं शताब्दी के बाद से ज्यों-ज्यों जनता में राजनीतिक भावनाओं की वृद्धि होती गई, राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत का ह्रास होता गया।

राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत की आलोचना–राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत आज संसार से प्रायः पूरी तरह मिट चुका है। तथापि, इस सिद्धांत का मनोवैज्ञानिक महत्त्व है। आधुनिक खोजों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि प्राचीन काल में पुरोहित ही राजा हुआ करते थे। वे जनता में यह अंधविश्वास पैदा करके कि ईश्वर ने हमें शक्ति दी है, अपनी शक्ति बनाए रखते थे। दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत उन कतिपय रीति-रिवाजों की व्याख्या करता है, जो आज भी प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ, आज भी धर्माचार्य राजाओं का राज्याभिषेक करते हैं। राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत अंधविश्वास की नींव पर आधारित है। सामाजिक अनुबंध सिद्धांत ने इसके ऊपर कठोर प्रहार किया है। आधुनिक राजनीतिक विचारक राज्य को एक ऐसी मानवीय संस्था मानते हैं जो अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर के प्रति ऋणी नहीं है। राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत राजा के स्वेच्छाचार का समर्थन और प्रजातंत्र की भावना का विरोध करता है। बंधुओं, राजा मूर्ख और अत्याचारी होते हैं, और इसका कोई कारण समझ में नही आता कि परमात्मा उन्हें अपना प्रतिनिधि क्यों बनाता है। बुद्धि और तर्क के द्वारा विचार करने पर यह सिद्धांत बिल्कुल निस्सार मालूम पड़ता है। बाइबिल भी राज्य की प्रकृति को ईश्वरीय नहीं, अपितु लौकिक ही बताती हुई मालूम पड़ती है उसमें लिखा है, "जो वस्तुएँ सीजर की है उन्हें सीजर के प्रति समर्पित कर दो और जो वस्तुएँ ईश्वर की हैं, उन्हें ईश्वर के प्रति समर्पित कर दो।" आजकल विज्ञान और प्रजातंत्र की उन्नति के फलस्वरूप धर्म और राजनीति को एक-दूसरे से अलग रखने की प्रवृत्ति काफी जोर पकड़ ली है और इसके फलस्वरूप अब राज्य की दैवी उत्पत्ति का सिद्धांत बिल्कुल लुप्त हो गया है।

4.5. सामाजिक समझौता का सिद्धांत (The Social Contract Theory)

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में प्रचलित विविध सिद्धांतों में सामाजिक समझौते का सिद्धांत एक प्रमुख सिद्धांत है। 17वीं तथा 18वीं शताब्दी की राजनीतिक विचारधारा में इस सिद्धांत का विशेष महत्त्व रहा। राज्य की उत्पत्ति के दैवी सिद्धांत के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया हुई, उसी के फलस्वरूप इस सिद्धांत की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य एक दैवी संस्था न होकर एक मानव निर्मित संस्था है। वह प्राकृतिक नहीं बल्कि एक कृत्रिम संस्था है राज्य का जन्म मनुष्यों द्वारा स्वेच्छा से किये गये समझौते से हुआ।

सामाजिक समझौते के प्रतिपादकों द्वारा मानव इतिहास को दो भागों में बाँटा गया है–

1. प्राकृतिक अवस्था का काल,
2. नागरिक जीवन के प्रारंभ के बाद का काल।

समझौते सिद्धांत का इतिहास–सामाजिक समझौते का सिद्धांत अत्यंत प्राचीन है। महाभारत के शांति पर्व के अध्याय–67 में कहा गया है कि पहले राज्य न था और न ही धर्म की नींव थी। जिसकी लाठी उसकी भैंस वाली कहावत चरितार्थ होती थी। इस अराजक और कष्टदायक स्थिति से मुक्ति प्राप्त करने के लिये सभी लोग ब्रह्माजी के पास गये और राजा नियुक्त करने की माँग की। उनकी प्रार्थना को स्वीकार करके ब्रह्माजी ने मनु को राजा नियुक्त किया।

नोट

कौटिल्य ने भी अपनी पुस्तक अर्थशास्त्र में इस सिद्धांत का वर्णन करते हुये लिखा है कि आदिकाल में भारत में बहुत अराजकता, अशांति और गड़बड़ी फैली हुई थी। अतः लोगों ने मनु वैवस्वत (सूर्यवंशी मनु) को सबसे पहले अपना राजा चुन लिया। लोगों ने उसे भूमि की पैदावार का छठा भाग तथा व्यापारिक वस्तुओं की विक्री का दसवाँ भाग टैक्स के रूप में देना स्वीकार कर लिया। इसके बदले में राजाओं ने अपनी जनता की सुरक्षा और न्याय की जिम्मेदारी ली। प्राचीन भारतीय राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान **प्रो. अलटेक** का मानना है कि बौद्ध साहित्य तथा जैन साहित्य में भी सामाजिक समझौते के सिद्धांत का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन यूनान के सोफिस्ट विचारकों द्वारा भी समझौते सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। सोफिस्ट विचारक मनुष्य को स्वार्थी मानते थे और कहते थे कि राज्य को मनुष्यों ने अपने हितों की रक्षा के लिए उत्पन्न किया। सोफिस्ट विचारकों की भाँति यूनान के एपीक्यूरियन विचारकों ने भी मनुष्य को स्वार्थी प्राणी माना। उनका कहना था कि प्रत्येक व्यक्ति का स्वार्थ दूसरे के स्वार्थ से टकराता है। इसलिए सब व्यक्तियों ने परस्पर समझौता किया कि कोई भी दूसरे के हित को हानि नहीं पहुँचाएगा और इस समझौते से राज्य की उत्पत्ति हुई।

रोमन विचारधारा में भी इस सिद्धांत का उल्लेख मिलता है। रोमन विचारकों का कहना था कि जनता ही राजसत्ता का अंतिम स्रोत है।

मध्ययुग में भी समझौता सिद्धांत के समर्थन के प्रमाण मिलते हैं। ग्यारहवीं शताब्दी में **मेनगोल्ड** (Manegold) ने इस सिद्धांत की प्रथम स्पष्ट व्याख्या देते हुये कहा था कि "यदि राजा इस समझौते को भंग करता है जिसके अनुसार उसे राजा चुना गया था, तो साधारण ज्ञान के अनुसार वह जनता को आज्ञापालन के भार से मुक्त करता है, विशेषकर उस समय जबकि सबसे पहले स्वयं उसने इस विश्वास को तोड़ा हो जिसमें वह और प्रजा बँधी थी।"

तेरहवीं शताब्दी में **शामस एक्वीनास** ने इस सिद्धांत का समर्थन किया। सोलहवीं शताब्दी में **रिचर्ड हुकर, अलश्यसियस, लांग्यूत, जार्ज बुकानन** आदि द्वारा इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया। सामाजिक समझौते के सिद्धांत को सर्वाधिक लोकप्रियता 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में प्राप्त हुई। 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में **हॉब्स, लॉक** तथा **रूसो** द्वारा इस सिद्धांत का विशद तथा व्यापक विवेचन किया गया तथा इसे लोकप्रिय बनाया गया। इसीलिए सामाजिक समझौते के सिद्धांत के साथ **हॉब्स, लॉक** तथा **रूसो** का नाम अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है।

थॉमस हॉब्स (1588–1679)–थॉमस हॉब्स इंग्लैण्ड का एक महान दार्शनिक था। हॉब्स ने इंग्लैण्ड के 1642ई. से 1649ई. तक के गृहयुद्ध को प्रत्यक्ष रूप से देखा था। इस गृहयुद्ध के परिणामों से वह अत्यंत दुखी हुआ। इससे वह इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि इंग्लैण्ड में शक्तिशाली राजतंत्र की स्थापना से ही शांति स्थापित हो सकती है। अतः हॉब्स ने 1657 में प्रकाशित अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लेवियाथन (Leviathan) में सामाजिक समझौते के सिद्धांत का प्रतिपादन करके निरंकुश राजतंत्र का सर्मथन किया।

हॉब्स के सामाजिक समझौते के सिद्धांत की व्याख्या निम्न प्रकार से की जा सकती है–

मानव स्वभाव–हॉब्स राज्य का अध्ययन मानव स्वभाव के विश्लेषण से प्रारंभ करता है। वह मनुष्य को स्वभाव से ही स्वार्थी, झगड़ालू तथा अहंकारी प्राणी मानता है। मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी है और अधिक से अधिक शक्ति प्राप्त करना चाहता है। हॉब्स का कहना है कि निजी स्वार्थ, असीमित और अनंत इच्छाएँ, सुरक्षा की भावना, भय, युद्ध तथा संघर्ष एवं अहं की प्रवृत्ति मनुष्य की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ हैं।

प्राकृतिक अवस्था–हॉब्स ने राज्य की उत्पत्ति से पूर्व की स्थिति की प्राकृतिक अवस्था का चित्रण प्रस्तुत किया है। प्राकृतिक अवस्था में ''जिसकी लाठी उसकी भैंस'' वाली कहावत लागू होती थी। शक्तिशाली निर्बल व्यक्तियों के अधिकारों को हड़प रहे थे। सर्वत्र शक्ति, धोखाधड़ी और प्रवर्चना का बोलबाला था। सभी परस्पर एक-दूसरे से लड़ते थे। इस अवस्था में उचित और अनुचित, न्याय और अन्याय का कोई स्थान नहीं था। धोखा और शक्ति दो मुख्य गुण समझे जाते थे। मनुष्य सदैव खतरे में रहता था। यह अवस्था प्रत्येक व्यक्ति की दूसरे व्यक्ति के साथ युद्ध की अवस्था थी । प्राकृतिक अवस्था में मनुष्य का जीवन एकाकी ,निर्धन, कुत्सित ,पशु-तुल्य और क्षणिक होता था।

प्राकृतिक अवस्था में पशु जगत् का व्यवहार मानव जगत पर लागू हो रहा था। इसलिए इस अवस्था में उद्योग संस्कृति, जल परिवहन, भवन निर्माण, यातायात के साधनों का ज्ञान, आदि के लिए कोई स्थान नहीं होता था।

समझौता के कारण–प्राकृतिक अवस्था में शाश्वत संघर्ष की स्थिति से संत्रस्त और चिंतित मनुष्य की बुद्धि और विवेक ने यह सोचा कि आत्मसंरक्षण के लिए इस भयावह दशा का अंत किया जाना चाहिए। फलतः प्राकृतिक दशा का अंत करने के उद्देश्य से व्यक्ति एक राजनीतिक समाज के निर्माण की ओर अग्रसर हुआ।

नोट

समझौते का स्वरूप–प्राकृतिक अवस्था की हिंसक क्रांति तथा कठिन परिस्थितियों से बचने के लिए सब व्यक्तियों ने आपस में एक समझौता किया। समझौता करते समय प्रत्येक व्यक्ति कहता है कि मैं अपने ऊपर शासन करने का अधिकार इस व्यक्ति अथवा इस जनसभा को इस शर्त पर सौंपने की स्वीकृति देता हूँ कि तुम भी अपने सब अधिकार इसको सौंपेंगे और इस तरह उसके सभी कार्यों को स्वीकृति दोगे। इस समझौते के फलस्वरूप सभी लोगों ने अपने अधिकार एक व्यक्ति अथवा सभा को दे दिए। जिससे राज्य की उत्पत्ति हुई। **हॉब्स** का कहना है कि यह समझौता व्यक्तियों ने आपस में किया और चूँकि शासक इस समझौते में सम्मिलित नहीं हुआ। इसलिए वह इस समझौते की शर्तों से बँधा हुआ नहीं है।

राज्य का स्वरूप–हॉब्स ने जिस समझौते का उल्लेख किया है उससे स्पष्ट है कि वह निरंकुश राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था का सर्मथन करता है। शासक संपूर्ण शक्ति संपन्न है और उसके प्रजा के प्रति कोई कर्तव्य नहीं है। इसमें व्यक्तियों को शासन के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार नहीं है और किसी भी दशा में उसे हराया नही जा सकता है। इस प्रकार **हॉब्स** निरंकुश राजतंत्रात्मक राज्य की स्थापना करता है।

समझौते की विशेषताएँ–हॉब्स के समझौते सिद्धांत की निम्नलिखित उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं–

1. राज्य तथा शासक की उत्पत्ति मनुष्यों के पारस्परिक समझौते से होती है।

2. शासक या संप्रभु की उत्पत्ति समझौते से शासितों के मध्य नहीं होता। इसलिए समझौते की शर्तें संप्रभु शासक पर लागू नहीं होती।

3. क्योंकि समझौता सब व्यक्तियों की स्वतंत्र इच्छा से होता है। इसलिए किसी व्यक्ति को भी उस समझौते को भंग करने का अधिकार नहीं है। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो राजसत्ताधारी उसे दंडित कर सकता है।

4. प्राकृतिक अवस्था में किया गया समझौता सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार का है। क्योंकि इस समझौते द्वारा समाज तथा राजसत्ता दोनों की एकदम स्थापना हो जाती है।

5. सामाजिक समझौते द्वारा लोगों ने अपने सारे अधिकार संप्रभु शासक को सौंप दिए जो कि समझौते के परिणामस्वरूप उत्पन्न होता है।

6. संप्रभु शासक को कानून बनाने का पूर्ण अधिकार है। संप्रभु शासक के आदेश ही कानून होते हैं।

7. समझौते में लोगों ने अपने समस्त अधिकार और अपनी समस्त प्राकृतिक सत्ता का त्याग कर दिया एक बार अधिकार सौंपने के बाद वह किसी प्रकार से वापस नहीं लिये जा सकते। **हॉब्स** प्रजा को अन्यायी शासक के विरुद्ध विद्रोह करने का अधिकार प्रदान नहीं करता।

8. समझौते के परिणामस्वरूप एक निरंकुश संप्रभु शासक का उदय होता है। यह निरंकुश सत्ता पूरी तरह से अविभाज्य प्रभुसत्ता का प्रतीक है।

हॉब्स के सिद्धांत की अलोचना

हॉब्स के सामाजिक समझौते के सिद्धांत की कटु आलोचना की गयी। विभिन्न कारणों से राजसत्तावादियों तथा चर्च की सत्ता के समर्थक विचारकों द्वारा उसके सिद्धांत की आलोचनाएँ की गईं। एक राजसत्तावादी क्लेरेण्डन ने हॉब्स की पुस्तक जलाकर यहाँ तक कहा कि "मैंने कोई ऐसी पुस्तक नहीं पढ़ी जिसमें इतना राजद्रोह, विश्वासघात और धर्मद्रोह भरा हो।"

हॉब्स के विचारों की प्रमुख रूप से निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है–

1. मानव स्वभाव का एकांगी चित्रण–हॉब्स ने मानव स्वभाव का वर्णन करते हुये मनुष्य को स्वार्थी, झगड़ालू और अहंकारी प्राणी माना है। किंतु मानव स्वभाव संबंधी उसकी धारणा एकांगी है। क्योंकि मनुष्य में केवल आसुरी प्रवृत्तियाँ ही नहीं होतीं बल्कि दया, परोपकार, सहानुभूति, प्रेम आदि अनेक दैवी गुण भी पाये जाते हैं।

2. प्राकृतिक अवस्था का चित्रण भ्रामक–हॉब्स ने प्राकृतिक अवस्था का जो चित्रण प्रस्तुत किया है, वह अत्यधिक असंगत तथा भ्रामक है। क्योंकि इतिहास में इस प्रकार की प्राकृतिक अवस्था का कोई उल्लेख नहीं मिलता है।

3. तार्किक दृष्टि से सही नहीं–हॉब्स का समझौता तार्किक दृष्टि से गलत प्रतीत होता है। क्योंकि यदि उसके विचारों के आधार पर यह मान लिया जाए कि प्राकृतिक अवस्था का व्यक्ति स्वार्थी, लड़ाकू तथा असामाजिक था तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रकार के असामाजिक व्यक्तियों में समझौते और सामाजिकता की भावना का उदय कैसे हो गया। क्योंकि प्राकृतिक अवस्था में रहने वाले इस प्रकार के कवियों द्वारा राज्य की स्थापना असंभव प्रतीत होती है।

नोट

4. भय को राज्य का आधार मानना गलत–हॉब्स ने भय तथा स्वार्थ निम्न प्रवृत्तियों को राज्य की स्थापना का आधार माना है। परंतु हॉब्स का यह दृष्टिकोण असंगत और अनुचित प्रतीत होता है। क्योंकि राज्य की स्थापना में वास्तविक रूप में सहयोग, सदभावना और सामाजिकता अथवा सामाजिक हित की भावना का विशेष रूप में योगदान रहा है। लेकिन हॉब्स ने इन तत्वों की उपेक्षा की है, और ऐसे तत्वों पर बल दिया है, जिनका राज्य की स्थापना में व्यावहारिक योगदान नहीं हो सकता था।

5. निरंकुश शासन का समर्थन गलत–हॉब्स ने अपने समझौते सिद्धांत में निरंकुश और स्वेच्छाधारी शासन का समर्थन किया है। उसने शासक की शक्तियों पर कोई नियंत्रण नहीं लगाया है और शासक की शक्तियों को असीमित माना है। उसकी यह धारणा लोकतंत्र के विरुद्ध है और ऐसे निरंकुश शासक के अस्तित्व के कारण व्यक्तियों की स्वतंत्रता खतरे में पड़ जाती है।

6. पुलिस राज्य का विचार गलत–हॉब्स के अनुसार बाह्य आक्रमण से रक्षा करना और आंतरिक अशांति से रक्षा करना राज्य के केवल दो विशेष कार्य हैं लेकिन आलोचकों का कहना है कि ऐसा राज्य जो मात्र उपरोक्त दो प्रकार के कार्यों को करता है। केवल पुलिस राज्य कहा जा सकता है, ऐसे राज्य को लोककल्याणकारी राज्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार हॉब्स ने पुलिस राज्य के विचार का प्रतिपादन किया जिसका समर्थन नहीं किया जा सकता।

7. राज्य तथा सरकार में अंतर मानना–हॉब्स के सामाजिक समझौते के सिद्धांत की सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि हॉब्स ने अपने समझौते सिद्धांत में राज्य तथा सरकार में कोई अंतर नहीं माना है और दोनों शब्दों का समानार्थक रूप में प्रयोग किया है। **विलोबी** का कहना है, "राज्य और सरकार में अंतर न मानना ही उसकी सबसे बड़ी भूल है।

4.6. राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धांत (The Force Theory)

शक्ति सिद्धांत का अर्थ–राज्य की उत्पत्ति का शक्ति सिद्धांत यह बताता है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति के कारण हुई है। राजनीतिक सत्ता की उत्पत्ति के लिए दो तत्व मुख्य रूप से आवश्यक हैं, शासक और शासिका। राज्य की उत्पत्ति के शक्ति-सिद्धांत का अभिप्राय यह है कि निर्बलों को अपना दास बना लेना और इस प्रकार दास से आज्ञा पालन कराना व्यवसाय बन गया था। इस सिद्धांत का बीज इस कहावत में कि "युद्ध ने राजा को जन्म दिया" पाया जाता है। प्राचीन काल में जबकि मनुष्य ने अपना सभ्य जीवन प्रारंभ नहीं किया था और वह केवल कबीलों के रूप में ही संगठित था, कबीले के सदस्य अपने में से सबसे शक्तिशाली व्यक्ति को अपना सरदार चुन लेते थे और यह सरदार ही उनका प्रभु होता था।

शक्ति-सिद्धांत की परंपरा–राज्य की उत्पत्ति के शक्ति-सिद्धांत की परंपरा बहुत पुरानी है। वेदों में कहा गया है कि जब देवासुर संग्राम में देवता कई बार पराजित हो गए तब उन्होंने इंद्र को अपना राजा चुना और इसके पश्चात् विजय प्राप्त की। प्राचीन भारत के आचार्यों ने राज्य का एक प्रधान अंग बल भी माना है। कौटिल्य ने बल प्रवर्ती शक्ति का महत्त्व बताते हुए कहा है कि यदि राजा अपराधियों को दंड न दे, तो बलवान निर्बलों का हनन कर सकते हैं और संपूर्ण जगत् में अराजकता फैल सकती है। पाश्चात्य राजदर्शन में भी राज्य के शक्ति-सिद्धांत की परंपरा राजनीतिक चिंतन के आदि काल से ही चली आ रही है। **प्लेटो** की **'रिपब्लिक'** के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्राचीन यूनान में विचारकों का एक वर्ग ऐसा भी था जो इस सिद्धांत को किसी न किसी रूप में स्वीकार करता था। उदाहरणार्थ, **'रिपब्लिक'** के एक पात्र **थ्रेसीमेकस** का

कहना है कि, "न्याय शक्तिशाली का अपने स्वार्थ-साधन के लिए जो कुछ करता है, वह उचित है।'' रोमन विचारक **पोलिबियन** ने भी इस सिद्धांत का सम्मान किया है। मध्य युग में धर्माचार्य राज्य को पाशविक शक्ति का परिणाम बताकर दोषी ठहराते थे। उदाहरणार्थ, **पोप गिगोरी सप्तम** ने लिखा था,'' हम लोगों में से कौन इस बात से अनभिज्ञ है कि राजा और अभिजात उन ईश्वर-विमुख ज्ञानों में से है जो अहंकार अत्याचार, छल-कपट और लोभ के द्वारा अपने साथियों पर शासन करने के लिए प्रयत्नशील हुए हैं।" आधुनिक काल में **मैकियाबेली** ने राज्य के अस्तित्व के लिए शक्ति को अत्यंत आवश्यक ठहराया है। अठारहवीं शताब्दी के अंग्रेज दार्शनिक **डेविड ह्यूम** ने भी इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उसके मत से राज्य की उत्पत्ति युद्धों से हुई है। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दियों में कई लेखकों ने राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धांत का औचित्य सिद्ध किए हैं। **स्पेन्सर** जैसे व्यक्तिवादियों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य में राज्य के हस्तक्षेप को निंदनीय ठहराने के लिए इस सिद्धांत का आश्रय लिया था। अराजकतावादी (Anarchist) भी राज्य को पाशविक बल का प्रतीक मानते हैं। मार्क्सवादी राज्य को शोषण और नृशंसता का एक ऐसा साधन समझते हैं, जिसके द्वारा उत्पादन के साधनों के नियंता सर्वहारा वर्ग के ऊपर अपना प्रभुत्व और नियन्त्रण जमाए रहते हैं। **नीत्शे** और **बर्नहार्डी** जैसे जर्मन लेखकों ने बल प्रयोग की मुक्तकंठ से प्रशंसा की है और उसे शासन के संचालन में एक आवश्यक तत्व माना है। **नीत्शे** के अनुसार, ''सबसे अधिक प्रशंसनीय व्यक्ति वह है जो दूसरों को अपनी इच्छा का दास बना सकता है।'' **बर्नहार्डी** के अनुसार–"शक्ति सर्वोच्च सत्य है और कौन सही है, इसका निर्णय युद्ध के द्वारा ही हो सकता है।" **मुसोलिनी** और **हिटलर** ने राज्य के शक्ति-सिद्धांत को व्यावहारिक रूप दिया। उनके विचार में राज्य उन्नति के लिए बल प्रयोग एक सामान्य साधन था। उन्होंने राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में इस सिद्धांत का पालन किया।

शक्ति-सिद्धांत की आलोचना–इसमें कोई संदेह नहीं है कि शक्ति-सिद्धांत में सत्य का काफी अंश है। वस्तुतः राज्य की उत्पत्ति और प्रगति में शक्ति ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण भाग लिया है। राज्य को अपने आंतरिक क्षेत्र में शांति और सुव्यवस्था बनाए रहने के लिए कभी-कभी शक्ति का प्रयोग करना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार, यदि राज्य के ऊपर कभी कोई बाहरी आक्रमण होता है। तब भी उसे शक्ति का आश्रय लेना पड़ना है। शक्ति के अभाव में कोई भी राज्य जीवित नहीं रह सकता।

तथापि, आधुनिक युग में राज्य की उत्पत्ति का शक्ति-सिद्धांत बिल्कुल त्याग दिया गया है। यह ठीक है कि राज्य की उत्पत्ति में शक्ति का भी थोड़ा बहुत हाथ था, लेकिन राज्य की उत्पत्ति का उसे ही एकमात्र कारण नहीं माना जा सकता। राज्य की उत्पत्ति में धर्म और राजनीतिक चेतना जैसे तत्वों का भी निर्णायक हाथ रहा था। इस सिद्धांत में कई खतरे हैं। इस सिद्धांत के कुछ सर्मथक शक्ति को अपने में ही एक आदर्श मान लेते हैं और उसे गौरव प्रदान करते हैं। यह सिद्धांत स्वेच्छाचारिता के हीनतम स्वरूप का औचित्य सिद्ध करता प्रतीत होता है। इसके अनुसार राज्य केवल स्वामी-सेवक का कार्य-व्यापार मात्र रह जाता है। जो कि सत्य से कोसों दूर है। आधुनिक युग में सिद्धांत बिल्कुल अनुपयुक्त है। आज की सबसे बड़ी आवश्यकता शांति है और संसार में शांति तभी स्थापित हो सकती है जबकि राज्य अपने पारस्परिक विवादों को सुलझाने के लिए शक्ति का प्रयोग बिल्कुल त्याग दे।

राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है–शक्ति-सिद्धांत की सबसे तीखी आलोचना ब्रिटिश आदर्शवादी विचारक **ही एच ग्रीन** ने की है और कहा है कि, "राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है।" उसने लिखा है, "न्याय के बिना शक्ति अल्पकाल के लिए ही ठीक हो सकती है परंतु न्याय के साथ समन्वित होने पर शक्ति में स्थायित्व आ जाता है।'' शक्ति-सिद्धांत के समर्थकों का यह मत कि जनता राज्य आदेशों का पालन केवल उसकी दमनकारी सत्ता के भय से ही करती है, गलत है। वस्तुतः लोग राज्य के आदेशों का पालन तो इसलिए करते हैं क्योंकि वे उसे सभ्य जीवन के लिए आवश्यक समझते हैं।

4.7. पितृसत्तात्मक सिद्धांत (The Patriarchal Theory)

इस सिद्धांत के अनुसार राज्य को परिवार का विकसित रूप माना गया है। जिसमें कि पिता की महत्ता होती है। परिवार में एक व्यक्ति, उसकी पत्नी तथा उनके बच्चे होते हैं। परिवार का मुखिया पिता होता है और परिवार के सभी सदस्यों पर उसका अधिकार तथा नियंत्रण होता है। प्रारंभ में परिवार था, परिवार के

छात्र क्रियाकलाप

1. राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत का वर्णन कीजिए।

2. राज्य की उत्पत्ति का शक्ति-सिद्धांत लिखिए।

विकास से जाति अस्तित्व में आयी। बाद में जाति से समुदाय और समुदाय से समाज का बदलाव आया। कालांतर में समाज ने ही राज्य कर रूप ले लिया। **लीकॉक** ने राज्य के इसी विकास क्रम को इंगित करते हुए लिखा है, "पहले एक गृहस्थी, फिर एक पितृ प्रधान परिवार, फिर समान नस्ल के व्यक्तियों की एक जाति और फिर अंत में एक राष्ट्र, सामाजिक क्रम का निर्माण इसी आधार पर हुआ है।"

नोट

पितृसत्तात्मक सिद्धांत का विकास

पितृसत्तात्मक सिद्धांत एक प्राचीन सिद्धांत है। प्राचीन यूनान, रोम तथा यहूदियों के इतिहास में इसका विस्तार से उल्लेख मिलता है। यूनान में परिवार को महत्त्वपूर्ण माना जाता था और परिवार के प्रधान के रूप में पिता को असीमित अधिकार प्राप्त थे। यूनान के समान रोम में भी कुलपिता का परिवार के सदस्यों पर पूर्ण नियंत्रण होता था। यहूदियों में भी वयोवृद्ध पुरुष प्रणाली का प्रचलन था, जिनमें एक पुरुष को प्रधान माना जाता था। आधुनिक समय में कई लेखक द्वारा इस सिद्धांत का समर्थन किया गया है। ऐसे लेखकों में सर **हेनरी मेन, इग्विट मेन** ने, "Ancient law and Early History of Institutions" नामक पुस्तक मे इस सिद्धांत का समर्थन करते हुए लिखा है, "परिवार ऐसा प्रारंभिक समूह होता है, जो सबसे बड़े पुरुष की सामान्य अधीनता से जुड़ा है। परिवार के योग से कुल बनता है। कुलों के योग से जाति का निर्माण होता है। जातियों का योग राज्य का निर्माण करता है।"

पितृसत्तात्मक परिवार की मुख्य विशेषताएँ

पितृसत्तात्मक सिद्धांत की विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं–

1. राज्य पितृसत्तात्मक परिवारों का विकसित रूप है,
2. प्राचीनकाल में समाज की इकाई व्यक्ति न होकर परिवार था,
3. उस काल में विवाह की प्रथा प्रचलित थी और परिवार का मुखिया पिता होता था,
4. पितृसत्तात्मक परिवार वंशानुगत होते हैं। परिवार के सबसे बडे पुरुष सदस्य की मृत्यु के पश्चात् उसके सभी अधिकार तथा दायित्व उसके बड़े पुत्र को प्राप्त हो जाते हैं।

पितृसत्तात्मक सिद्धांत की आलोचनाएँ–पितृसत्तात्मक सिद्धांत की निम्नलिखित आधारों पर आलोचनाएँ की जाती हैं–

1. पितृसत्तात्मक सिद्धांत का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह राज्य की अत्यंत सरल व्याख्या प्रस्तुत करता है, जबकि प्रारंभिक सामाजिक समुदाय का योगदान दिया, इतना सरल नहीं था। **गिलक्राइस्ट** के शब्दों में, "पितृसत्तात्मक सिद्धांत राज्य की उत्पत्ति की सरलतम सिद्धांत विवेचना प्रस्तुत करता है। आदि युग वैसा ही सरल नहीं था। जितने भी प्रारंभिक समाज के संबंध में शोध हुए हैं, यह उसकी जटिल प्रकृति की ओर संकेत करता है।"

2. पितृसत्तात्मक सिद्धांत का इतिहास में कोई प्रमाण नहीं मिलता। **मेक्लनान मार्गन, जैक्स** आदि लेखकों ने अपने अध्ययन से यही निष्कर्ष निकाला है कि अतीत मे ऐसा कोई समुदाय नहीं था जो कि पुरुष प्रधान रहा हो। इन लेखकों का कहना है कि समाज की प्रारंभिक इकाई पितृसत्तात्मक परिवार न होकर मातृसत्तात्मक परिवार थी।

3. आलोचकों का कहना है कि पितृसत्तात्मक सिद्धांत में परिवारों की उत्पत्ति बताया गया है। यह राज्य की उत्पत्ति की व्याख्या नहीं करता।

4. पितृसत्तात्मक सिद्धांत के समर्थकों ने परिवार को समाज की सबसे प्रारंभिक इकाई माना है लेकिन आलोचकों का कहना है कि समाज की सबसे प्रारंभिक इकाई एक कबीला है न कि परिवार। कबीला के टूटने से वंशों की उत्पत्ति हुई वंशों के टूट जाने से कुटुंब का और अंत में परिवार की उत्पत्ति हुई।

पितृसत्तात्मक सिद्धांत का महत्त्व–यद्यपि पितृसत्तात्मक सिद्धांत में उपरोक्त मूलभूत कमियाँ हैं तथापि यह सिद्धांत महत्त्वपूर्ण रहा है और राज्य के विकास क्रम में इसका एक आधार भूत तत्व के रूप मे योगदान रहा है। परिवार को सामाजिक व्यवस्था का बुनियादी आधार माना जा सकता है, क्योंकि आज्ञा पालन, अनुशासन और नियंत्रण की प्रवृत्तियाँ व्यक्ति सबसे पहले परिवार में ही सीखता है।

नोट

4.8. मातृसत्तात्मक सिद्धांत (The Matriarchal Theory)

पितृसत्तात्मक सिद्धांत की भाँति मातृसत्तात्मक के समर्थकों ने भी राज्य को परिवार का विकसित रूप माना है। लेकिन पितृसत्तात्मक सिद्धांत के विपरीत इस सिद्धांत के समर्थकों का कहना है कि प्रारंभिक परिवार मातृ-प्रधान हुआ करते थे। मातृ-प्रधान परिवारों के परिणामस्वरूप ही राज्य की उत्पत्ति हुई। इस सिद्धांत की मान्यता है कि प्रारंभिक समाज में माता को ही पारिवारिक जीवन का केंद्र माना जाता था और माता के नाम पर ही वंश चलता था। **मैक्लेमेन** (Mcleman), **मार्गन** (Moragan), **जैंक्स** (Jenks) आदि विद्वान इस सिद्धांत के प्रबल समर्थक रहे हैं।

मातृसत्तात्मक सिद्धांत की मुख्य विशेषताएँ–मातृसत्तात्मक सिद्धांत की मुख्य विशेषताएँ निम्नवत हैं–

1. आदिकाल के निवासियों के वैवाहिक संबंध अस्थाई थे,
2. परिवार में माता का स्थान प्रधान होता था,
3. वंश माता के नाम पर ही चलता था,
4. संपत्ति में केवल स्त्रियों का ही उत्तराधिकार माना जाता था।

मातृसत्तात्मक सिद्धांत की आलोचना–इस सिद्धांत की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है–

1. पितृसत्तात्मक सिद्धांत की भाँति मातृसत्तात्मक सिद्धांत भी अनैतिहासिक है। इतिहास से हमें कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता कि प्रारंभिक, परिवार मातृसत्तात्मक थे।

2. पितृसत्तात्मक सिद्धांत की तरह यह सिद्धांत भी परिवारों की उत्पत्ति को बतलाया है लेकिन राज्य की उत्पत्ति की सही व्याख्या नहीं करता।

3. आलोचकों का कहना है कि राजनीति विज्ञान की दृष्टि से इस सिद्धांत का कोई व्यवहारिक महत्त्व नहीं है। क्योंकि इसमें मातृसत्तात्मक परिवार को आधार मानकर चिंतन किया गया है और परिवार को सामाजिक जीवन मूल इकाई मानते हुए राज्य के विकास क्रम का उल्लेख किया गया है। इस प्रकार यह सिद्धांत समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से तो भले ही महत्त्व रखता हो, लेकिन राजनीति विज्ञान की दृष्टि से इसका कोई विशेष महत्त्व नहीं है।

मातृसत्तात्मक सिद्धांत का महत्त्व–पितृसत्तात्मक सिद्धांत के समान इस सिद्धांत में यह सत्यता अवश्य विद्यमान है कि परिवारों ने राज्य स्वरूप संगठन की संरचना में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। निःसंदेह इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि मनुष्यों ने सबसे पहले परिवारों में रहना प्रारंभ किया और बाद में अन्य समुदायों का विकास हुआ और मनुष्य की यही सामुदायिक और परिवार संबंधी प्रवृत्ति राज्य के प्रादुर्भाव और विकास का आधार बनी।

4.9. ऐतिहासिक अथवा विकासवादी सिद्धांत (Historical or Evolutionary Theory)

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में दैवी सिद्धांत, शक्ति सिद्धांत, पितृसत्तात्मक, मातृसत्तात्मक, सामाजिक समझौते का सिद्धांत, आदि सिद्धांत प्रचलित रहे हैं। लेकिन इनमें से किसी भी सिद्धांत को स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि ये सभी सिद्धांत काल्पनिक भ्रामक तथा अपूर्ण है। दैवी सिद्धांत, शक्ति सिद्धांत तथा समझौता सिद्धांत द्वारा राज्य को एक मानव निर्माता संस्था माना गया है। जबकि पितृसत्तात्मक तथा मातृसत्तात्मक सिद्धांत द्वारा राज्य को परिवार का विस्तार माना गया है। किंतु यथार्थ में राज्य न तो मानव निर्मित संस्था है और न ही उसे परिवार का विस्तार मात्र माना जा सकता है। इस संदर्भ में **डॉ. गार्नर** का कथन सही प्रतीत होता है कि, "राज्य न ईश्वर की सृष्टि है, न वह उच्च कोटि के शारीरिक बल का परिणाम है, न किसी प्रस्ताव या समझौते की कृति है और न ही परिवार का विस्तृत रूप है। यह तो क्रमिक विकास से उदित एक ऐतिहासिक संस्था है।"

नोट

सिद्धांत की व्याख्या–ऐतिहासिक तथा विकासवादी सिद्धांत के अनुसार राज्य को निरंतर क्रमिक विकास का परिणाम माना गया है। राज्य हमेशा से विद्यमान रहा है और इसका धीरे-धीरे परंतु निरंतर विकास होता रहा है। **लीकॉक** ने इसी दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए लिखा है कि, "राज्य का उद्‌गम एक क्रमिक विकास के आधार पर हुआ है। इसका इतिहास मानव जाति का ज्ञात तथा अज्ञात काल तक फैला हुआ है।'' बर्गेस का कहना है कि, "राज्य मानव विकास का निरंतर विकास है। जिसका प्रारंभ अत्यंत अधूरे और विकृत किंतु उन्नतिशील रूपों में अभिव्यक्त होकर मनुष्यों के एक समग्र एवं सार्वभौम संगठन की ओर विकास हुआ है।"

किंतु यह बता पाना अत्यंत कठिन है कि राज्य सबसे पहले कब और किस प्रकार अस्तित्व में आया। इस संदर्भ में प्रसिद्ध समाजशास्त्री **समनर** तथा **केलर** (Smmerner and keller) ने अपनी पुस्तक (The science of society) में लिखा है कि, "यह कहना है कि राज्य किस समय सबसे पहले दिखाई दिया, यह कहना उसी प्रकार असंभव है जिस प्रकार यह कहना है कि कब नैतिक नियम या कानून बने या बच्चा कब युवा हुआ या युवक कब एक प्रौढ़ बना।"

राज्य के विकास में सहायक तत्व–राज्य के ऐतिहासिक विकास में अनेक तत्वों ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। **गैटिल** के शब्दों में, ''अन्य सामाजिक संस्थाओं की भाँति राज्य भी अनेक स्रोतों और परिस्थितियों के संयुक्त विकास का प्रतिफल है।"

राज्य के विकास में जिन तत्वों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है, उनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं–

1. **मूल सामाजिक प्रवृत्ति**–राज्य की उत्पत्ति एवं विकास में योग देने वाला एक प्रमुख तत्व मनुष्य की सामाजिकता की भावना अथवा सामाजिक प्रवृत्ति है। मनुष्य स्वभाव से ही एक सामाजिक प्राणी है। यूनानी दार्शनिक **अरस्तु** का कहना है कि "जो व्यक्ति समाज में नहीं रहता अथवा जिसे समाज की आवश्यकता ही न हो क्योंकि वह अपने आप में पूर्ण है। वह या तो पशु है या देवता।" कोई भी मनुष्य अपने साथी मनुष्यों के बिना नहीं रह सकता। इस प्रकार मनुष्य में समाज अथवा अन्य व्यक्तियों के साथ रहने की स्वाभाविक प्रवृत्ति ने ही उसे सामाजिक जीवन बिताने के लिए प्रेरित किया किंतु धीरे-धीरे सामाजिक जीवन में जटिलताएँ और समस्याएँ उत्पन्न होने लगीं। परिणामस्वरूप एक ऐसी संस्था अथवा संगठन की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी जो इन समस्याओं और जटिलताओं का समाधान कर सके। ऐसे ही संगठन के रूप में स्वाभाविक रूप से राज्य का विकास हुआ।

2. **रक्त संबंध**–मानव जाति के प्रारंभिक काल में मनुष्यों में संगठन उत्पन्न करने में रक्त संबंध ने अपना विशेष योग दिया। रक्त संबंध से कुल, फिर कबीले, फिर समाज और बाद में राज्य का जन्म हुआ। **सर हेनरी मेन** ने लिखा है कि, "समाज का प्राचीनतम इतिहास की आधुनिक खोजों से यह निष्कर्ष निकलता है कि समूहों को एकता के सूत्र में बाँधने वाला प्रारंभिक बंधन रक्त संबंध था।" निःसंदेह रक्त संबंध एकता अथवा सामाजिक इकाई के निर्माण का प्राचीनतम रूप है। **मैकाइवर** ने कहा है कि, "रक्त संबंध समाज को जन्म देता है।" प्रारंभ में पितृ प्रधान परिवार पहले अस्तित्व में आये अथवा मातृ प्रधान परिवार था, पहले कुल बने अथवा कबीले यह बता पाना निश्चित रूप से कठिन है। किंतु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि रक्त संबंध का मानव समुदाय को एकता के सूत्र में बाँधने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। **प्रो. गैटिल** के शब्दों में, "रक्त संबंध के बंधन से परस्पर अधीनता और एकता के भाव प्रबल हुए जो राजनीतिक जीवन के लिए अनिवार्य है।''

3. **धर्म**–राज्य के उद्‌भव तथा विकास में रक्त संबंध की भाँति धर्म का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। प्रारंभिक समाज में रक्त तथा धर्म में घनिष्ठ संबंध था। इस संबंध में **वित्ससन** ने लिखा है कि, ''प्रारंभ में रक्त संबंध ही धर्म का दूसरा रूप था।" **गैटिल** के अनुसार, "रक्त संबंध और धर्म एक ही वस्तु के दो रूप थे और समूह की एकता एवं कर्तव्यों को धार्मिक स्वीकृति प्राप्त थी।'' प्राचीन समाज में परिवार धर्म प्रदान हुआ करते थे। प्रत्येक कुल अथवा कबीले का अपना एक धर्म हुआ करता था। जो लोग रक्त संबंध के आधार पर सामाजिक होते थे, उनकी उपासना पद्धति और देवता भी एक जैसे होते थे। इस प्रकार रक्त संबंध ने जिस एकता और बंधन को जन्म दिया, धर्म ने उसे सुदृढ़ता प्रदान की। धीरे-धीरे धर्म मनुष्यों के व्यवहार को संचालित करने लगा। धर्म के द्वारा मानव व्यवहार के बारे में नियमों का निर्माण किया जाने लगा और उन्हीं नियमों से मानव जीवन संचालित होने लगा। एक ही धर्म में विश्वास रखने वाले समूह के व्यक्तियों ने अपने

समूह के प्रधान आदेशों का पालन करना प्रारंभ कर दिया। प्रारंभिक काल में धार्मिक और शासकीय विचारों में कोई भेद नहीं समझा जाता था। विधि तथा सत्ता की आज्ञाओं का पालन अधिकांशतः इसी अवस्था के आधार पर किया जाता था कि शासक की शक्ति दैवीय है। इस संबंध में **गिलक्राइस्ट** ने लिखा है, "प्रारंभिक समाज का परिवार केवल एक स्वाभाविक संघ ही न था, वह मूलतः इन्हें धार्मिक करने में धर्म का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है।'' **गैटिल** के शब्दों में, "राजनीतिक विकास के प्रारंभिक एवं अत्यंत कठिन काल में धर्म ही बर्बरतापूर्ण अराजकता का नाश कर सका। इस अनुशासन तथा सत्ता के प्रति आदर-भाव उत्पन्न करने में सहस्रों वर्ष लगे।"

नोट

4. शक्ति—राज्य के विकास में शक्ति की भी उल्लेखनीय भूमिका रही है। यद्यपि शक्ति राज्य का एकमात्र आधार नहीं है। लेकिन राज्य के विकास में योग देने वाले तत्वों में से एक महत्त्वपूर्ण तत्व अवश्य रहा है। प्रारंभ में सामाजिक अवस्था थी, जिसे राजनैतिक अवस्था में परिवर्तित करने का कार्य शक्ति के द्वारा ही किया गया। **जैक्स** के शब्दों में, "जन समाज का राजनीतिक समाज में परिवर्तन शांतिपूर्वक उपायों से नहीं हुआ। यह परिवर्तन युद्ध द्वारा हुआ है।'' जैक्स ने एक अन्य स्थान पर लिखा है कि युद्ध ने सम्राट को जन्म दिया। प्राचीन काल में शक्तिशाली पुरुष दुर्बल व्यक्तियों को दबाकर अपने अधीन कर लेते थे। युद्धों के द्वारा प्रदेश प्राप्त करने वाले शासक बन जाते थे। जबकि हारने वाले उनकी प्रजा बनते थे। युद्ध द्वारा प्रदेश जीते गये शक्तिशाली कबीलों ने निर्बल कबीलों पर आधिपत्य जमाया और इस प्रकार राज्य को प्रादेशिकता तथा संप्रभुता का स्वरूप प्राप्त हुआ। अनेक राज्यों तथा साम्राज्यों की स्थापना का तात्कालिक कारण युद्ध ही रहा है। आज भी राज्यों को अपना अस्तित्त्व बनाए रखने के लिए शक्ति का सहारा लेना पड़ता है।

5. आर्थिक गतिविधियाँ—आदिम मनुष्यों की आर्थिक गतिविधियों ने राज्य के विकास में विशेष योगदान दिया। प्राचीनकाल से ही आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए मनुष्यों में सहयोग की भावना उत्पन्न हुई। मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता भोजन की आवश्यकता है। प्रारंभ में मनुष्य आखेट करके अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर लेता था। भोजन की तलाश ने धीरे-धीरे मनुष्य को कृषि करना सिखाया। कृषि के विकास के कारण जीवन में स्थिरता उत्पन्न हुई तथा मनुष्य ने एक स्थान पर निवास करना प्रारंभ कर दिया। इससे ग्रामों तथा नगरों का विकास हुआ। निजी संपत्ति के विकास के कारण विवाद उत्पन्न होने लगे। उन विवादों के निपटारे के लिए एक संगठन की आवश्यकता अनुभव होने लगी। ऐसे ही संगठन के रूप में राज्य का प्रादुर्भाव हुआ। **गैटिल** के शब्दों में, "आर्थिक चेष्टाएँ जिनके द्वारा मनुष्य ने मौलिक अपेक्षाओं की संतुष्टि की तथा बाद को संपत्ति और धन का संचय किया राज्य निर्माण में आवश्यक तत्व रही है।''

6. राजनीतिक चेतना—राज्य के विकास में योग देने वाले विभिन्न तत्वों में राजनीतिक चेतना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। **गिलक्राइस्ट** का कहना है कि, "राज्य निर्माण के सभी तत्वों की तरह, जिनमें रक्त संबंध व धर्म शामिल है, राजनीतिक चेतना है जो सर्वोच्च तत्व है।" राजनीतिक चेतना से आशय उन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए जागरूकता है, जिनके हेतु राज्य की स्थापना की जाती है। वस्तुतः रक्त संबंध और धर्म के आधार पर संगठित मानव समूह ने जब एक निश्चित भू-भाग पर निवास करना प्रारंभ किया तो अपनी आर्थिक आवश्यकताओं तथा बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा के प्रश्न ने धीरे-धीरे इनमें राजनीतिक चेतना की भावना उत्पन्न की। यह चेतना प्रारंभ में कुछ लोगों में उत्पन्न हुई होगी, लेकिन धीरे-धीरे इस चेतना का विस्तार हुआ और यह चेतना समाज के अन्य लोगों में भी उत्पन्न हो गयी। **प्रो. जैलिनिक** के शब्दों में, "राज्य की उत्पत्ति का आंतरिक कारण व्यक्तियों के समूह में चेतनशील एकता की भावना है। यह भावना सामूहिक व्यक्तित्व के रूप में संगठित होकर अभिव्यक्त होती है।"

4.10. राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धांत (Mark's Theory of Origin of State)

कार्ल मार्क्स के राज्य संबंधी विचार **"साम्यवादी घोषणा पत्र"** नामक पुस्तक में मिलते हैं, जो कि 1848 में प्रकाशित हुई थी। "साम्यवादी घोषणा पत्र" **कार्ल मार्क्स** तथा **एंजेल्स** की संयुक्त रचना है। मार्क्स की मृत्यु के पश्चात् सन् 1884 में एंजेल्स की एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका नाम "परिवार, निजी संपत्ति और राज्य" था। यह पुस्तक वस्तुतः कार्ल मार्क्स के अप्रकाशित लेख पर आधारित है। उपरोक्त सभी रचनाओं से हमें राज्य की उत्पत्ति से संबंधित मार्क्सवादी दृष्टिकोण की जानकारी मिलती है।

राज्य की उत्पत्ति के संबंध में **कार्लमार्क्स** दैवी सिद्धांत, सामाजिक समझौता सिद्धांत, मातृक और पैतृक सिद्धांत में विश्वास नहीं करता। मार्क्स का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति विकास द्वारा हुई। लेकिन मार्क्स द्वारा प्रतिपादित राज्य के विकास की अवधारणा और राज्य की उत्पत्ति की विकासवादी अवधारणा में मौलिक अंतर है।

नोट

राज्य की उत्पत्ति वर्ग संघर्ष से–मार्क्स का कहना है कि मानव इतिहास के प्रारंभिक युग में राज्य नहीं था। प्रारंभ में लोग जंगलों में रहते थे और भरण पोषण के लिए प्रकृति पर निर्भर रहते थे। धीरे-धीरे लोगों ने कृषि करना सीखा। कुछ चतुर लोग भूमि के स्वामी बन गये और उन्होंने अन्य लोगों को अपना दास बना दिया। इस तरह दासत्व युग का प्रारंभ हुआ। समाज, स्वामी और दास के दो वर्गों में विभाजित हुआ। स्वामियों ने अपने हितों की रक्षा करने के लिए हुआ। दासत्व के युग में भी राज्य ने शोषक वर्ग का साथ दिया है। साम्यवादी घोषणा पत्र में मार्क्स ने राज्य को पूँजीपति वर्ग को कार्यकारिणी समिति कहा है। मार्क्स और उसके अनुयायियों के अनुसार राज्य का जन्म संपत्ति के कारण ही हुआ है। संपत्ति के उदय के साथ समाज, शोषक और शोषित के दो विरोधी वर्गों में बँट गए। बदलती हुई परिस्थितिओं में संपत्तिधारी लोगों ने अपने हितों की रक्षा के लिए राज्य को जन्म दिया।

मार्क्स के अनुसार मानव जाति का इतिहास शोषित के बीच वर्ग संघर्ष का इतिहास है। स्वामी और दास, सामंत और किसान, पूँजीपति और श्रमिक इन वर्गों के मध्य संघर्ष होता रहा है। मार्क्स के अनुसार राज्य इस संघर्ष में सदा शोषक वर्ग के साथ रहा है। **मार्क्स** का कहना है, "राज्य उस संगठन के अतिरिक्त और कुछ नही है, जिसे बुर्जूआ वर्ग इसलिए अपनाता है ताकि आंतरिक और बाह्य खतरों से उसकी संपत्ति और विशेषाधिकारों की रक्षा होती रहे।"

राज्य शोषण का यंत्र–मार्क्सवादियों के अनुसार राज्य शोषण का यंत्र है। यह शोषक वर्ग द्वारा शोषित वर्ग का दमन करने वाला एक उपकरण मात्र है। यह शोषक वर्ग के हितों की रक्षा करने वाला एक अत्याचारी माध्यम है। **एंजेल्स** के शब्दों में, "राज्य एक ऐसा यंत्र है, जिसके माध्यम से एक वर्ग दूसरे वर्ग का दमन करता है।"

इस प्रकार मार्क्स का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति शोषक वर्ग की रक्षा के लिए हुई है। राज्य शोषक वर्ग की रक्षा के लिए बना हुआ है। इसलिए मार्क्स का कहना है कि शोषण के माध्यम से राज्य को समाप्त होना चाहिए।

मार्क्सवाद का लक्ष्य–मार्क्सवाद का उद्देश्य एक राज्यविहीन समाज की स्थापना करना है। उसने एक ऐसे साम्यवादी समाज की कल्पना की है जिसमें न तो वर्गों का अस्तित्त्व होगा और न ही राज्य का। अपनी पुस्तक 'साम्यवादी घोषणा पत्र' में मार्क्स ने श्रमिकों को क्रांति के लिये ललकारा है। इस क्रांति के पश्चात् सर्वहारा वर्ग का शासन स्थापित होगा, पूँजीवाद का पूरी तरह उन्मूलन हो जाएगा। शोषक और शोषित वर्ग के भेदभाव समाप्त होने से राज्य की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाएगी और धीरे-धीरे राज्य लुप्त हो जाएगा।

मार्क्स की राज्य संबंधी मान्यताएँ–संक्षेप में राज्य संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत की मुख्य मान्यताएँ निम्न प्रकार है–

1. राज्य एक स्वाभाविक या प्राकृतिक संस्था नहीं है। संपत्तिशाली लोगों द्वारा अपने हितों व स्वार्थों की रक्षा के लिये राज्य की स्थापना की गई।

2. राज्य एक वर्गीय संस्था है। यह पूँजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग का हित नहीं कर सकता।

3. राज्य शक्ति पर आधारित होता है। दूसरे शब्दों में, पूंजीपति वर्ग राज्य की सत्ता का प्रयोग अपने स्वार्थों को पूरा करने के लिये श्रमिकों के विरुद्ध करते हैं।

4. राज्य एक अस्थाई संस्था है। श्रमिक वर्ग अंततः क्रांति द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था का सफाया कर देगा। और इसके परिणामस्वरूप एक वर्गविहीन तथा राज्यविहीन समाज की स्थापना हो जाएगी।

मार्क्सवादी सिद्धांत की समीक्षा–राज्य की उत्पत्ति से संबंधित मार्क्सवादी सिद्धांत की अनेक विद्वानों द्वारा आलोचना की गई है और मार्क्सवादी दृष्टिकोण को एकांगी तथा एक पक्षीय कहा गया है। आलोचकों का कहना है कि राज्य की स्थापना न तो पूँजीपतियों के हित के लिये हुई है और न ही यह शक्ति तथा हिंसा पर आधारित संगठन है। मार्क्स के राज्य के लुप्त होने के बावजूद राज्य संबंधी मार्क्सवादी धारणा अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है।

छात्र क्रियाकलाप

1. पितृसत्तात्मक सिद्धांत क्या है? इसकी विशेषताएँ लिखिए।

2. राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धांत क्या है? लिखिए।

नोट

4.11. सारांश (Summary)

राज्य की उत्पत्ति मनुष्य की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए हुई है। प्लेटो और अरस्तु राज्य को प्राकृतिक समझते थे अर्थात् राज्य मनुष्यों के किसी जाने-बूझे प्रयास का परिणाम है। राज्य की उत्पत्ति का शक्ति-सिद्धांत यह बताता है कि राज्य की उत्पत्ति शक्ति के कारण हुई है। राज्य की उत्पत्ति के शक्ति-सिद्धांत का अभिप्राय है–निर्बलों को अपना दास बना लेना। इसी प्रकार मार्क्सवादी राज्य को शोषण और नृशंसता का एक ऐसा साधन समझते हैं, जिसके द्वारा उत्पादन के साधनों के नियंता सर्वहारा वर्ग के ऊपर अपना प्रभुत्व और नियंत्रण जमाए रहते हैं। ब्रिटिश विचारक एचग्रीन के अनुसार, ''राज्य का आधार शक्ति नहीं, इच्छा है।'' इसके अतिरिक्त पितृसत्तात्मक सिद्धांत के अनुसार, राज्य को परिवार का विकसित रूप माना गया है जिसमें पिता की महत्ता मानी गई है। कार्लमार्क्स का कहना है कि राज्य उस संगठन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है जिसे बुर्जुआ वर्ग इसलिए अपनाता है ताकि आंतरिक और बाह्य खतरों से उसकी संपत्ति और विशेषाधिकारों की रक्षा होती रही। अतः राज्य की उत्पत्ति शोषक वर्ग की रक्षा के लिए हुई है और वह शोषक वर्ग की रक्षा के लिए ही बना हुआ है। फलतः राज्य संबंधी मार्क्सवादी धारणा अपना विशिष्ट महत्त्व रखती है।

4.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. राज्य की उत्पत्ति के संबंध में किन सिद्धांतों की चर्चा की गई है।
2. राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धांत की विवेचना कीजिए।
3. सामाजिक समझौते का सिद्धांत क्या है? स्पष्ट कीजिए।
4. राज्य की उत्पत्ति के शक्ति सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
5. राज्य की उत्पत्ति का मार्क्सवादी सिद्धांत विशिष्ट क्यों है? लिखिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-5

राज्य के कार्य एवं सिद्धांत
(Functions and Theory of State)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

5.1. उद्देश्य (Objectives)
5.2. परिचय (Introduction)
5.3. राज्य के आवश्यक कार्य (Important Work of State)
5.4. राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमाएँ (Limitation of Field of State)
5.5. उदारवादी सिद्धांत (Liberalist Principle)
5.6. समाजवादी सिद्धांत (Socialist Principle)
4.7. लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का उद्‌भव तथा विकास (Origin and Development Concept of Public Welfare State)
5.8. सारांश (Summary)
5.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

5.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आप राज्य के कार्य एवं सिद्धांतों के बारे में अध्ययन करेंगे।

- राज्य के आवश्यक कार्यों एवं कार्यक्षेत्रों की सीमाओं के बारे में जानेंगे।
- उदारवादी सिद्धांतों के बारे में अध्ययन करेंगे।
- समाजवादी सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे।
- लोककल्याणकारी राज्य के उद्‌भव और विकास का अध्ययन करेंगे।

5.2. परिचय (Introduction)

राज्य वह होता है जिसके अंतर्गत शासन का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याणकारी राज्य में नागरिकों को व्यापक स्तर पर सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। राज्य नागरिकों के मानसिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास में सहयोग देता है। वह समाज में शोषण का अंत चाहता है और रूढ़ियों तथा कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करता है। पूँजीपतियों और जमींदारों के अत्याचारों से मजदूर की रक्षा के लिए फैक्ट्री कानून का निर्माण करता है। चिकित्सालयों की स्थापना करता है। सड़क, रेल, जलमार्ग आदि का निर्माण करता है। कृषि, उद्योग तथा व्यापार को प्रोत्साहन देता है। निर्धनों, अपाहिजों और वृद्धों की रक्षा की समुचित व्यवस्था करता है। अतः इस सभी कार्यों द्वारा राज्य सार्वजनिक सुविधाओं का विकास करता है।

नोट

5.3. राज्य के आवश्यक कार्य (Important Work of State)

राज्य के आवश्यक कार्यों में हम उन कार्यों की गणना कर सकते हैं, जो समाज में शांति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए किए जाते हैं। इन कार्यों में सार्वजनिक शांति और व्यवस्था की स्थापना, जीवन और संपत्ति की सुरक्षा, कानूनों का प्रख्यापन, नागरिकों के राजनीतिक अधिकारों का निर्वाचन और संरक्षण बाह्य; आक्रमणों से देश को बचाना, विदेशी संबंधों का निरूपण करना और अपराधियों को दंड देना आदि शामिल है। अधिकांश लेखकों ने राज्य के आवश्यक कर्तव्य थोड़े-बहुत संशोधन के साथ यही स्वीकार किए हैं। उदाहरण के लिए **विल्सन** के अनुसार राज्य के आवश्यक कर्तव्य निम्नलिखित हैं–1. कानून और व्यवस्था को बनाए रखना तथा जीवन और सम्मति की चोरी और हिंसा से रक्षा करना, 2. पति और पत्नी तथा संतान और माता-पिता के वैधानिक संबंधों को निश्चित करना, 3. जायदाद के अधिकार, सम्प्रेषण और विनिमय का नियमन करना तथा कर्ज और अपराध के लिए जायदाद पर आने वाले दायित्व को निश्चित करना, 4. व्यक्तियों में परस्पर होने वाले अनुबंध संबंधी अधिकारों को निश्चित करना, 5. अपराधों की परिभाषा करना और उनके लिए दंड निश्चित करना, 6. दीवानी मामलों में न्याय करना, 7. नागरिकों के राजनीतिक कर्तव्यों, विशेषाधिकारों और संबंधों को स्थिर करना, तथा 8. बाहरी शक्तियों से राज्य के संबंधों तक निश्चिय करना, बाहरी खतरों अथवा हस्तक्षेपों से राज्य की रक्षा करना और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाना। **गैटेल** ने राज्य के आवश्यक कार्यों के उक्त वर्गीकरण को स्वीकार किया है, लेकिन इसके ऊपर अपनी टिप्पणी देते हुए लिखा है कि शासन की दो शाखाऐं आर्थिक और सैनिक बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और हमारे लिए उनके ऊपर ध्यान देने की विशेष रूप से आवश्यकता है। **गैटेल** ने राज्य के आर्थिक कर्तव्यों में निम्नलिखित कर्तव्यों को शामिल माना है–राजकर लगाना, आयात-निर्यात कर का नियमन, मद्य, मुद्रा और मुद्रांकन का नियंत्रण, सार्वजनिक संपत्ति, जैसे–सार्वजनिक भूमि, जंगल, सार्वजनिक इमारतें, युद्ध-सामग्री और राजकीय संपत्ति, जैसे–डाक, रेल तथा तार आदि की व्यवस्था करना। **गैटेल** के मत से राज्य के सैनिक कर्तव्यों में स्थल सेना, नौ सेना और वायु सेना की व्यवस्था शामिल है।

राज्य के अनिवार्य कार्यों के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि ये कार्य अधिकांश में ऐसे हैं, जिन्हें प्रायः सभी राज्यों को करना पड़ता है। यदि कोई राज्य उक्त कार्यों को नहीं करता, तो उसका जीवित रहना कठिन है।

राज्य के ऐच्छिक कार्य–राज्य के ऐच्छिक कार्यों में उन कार्यों की गणना की जा सकती है जो राज्य के अस्तित्व के लिए सर्वथा आवश्यक तो नहीं है, लेकिन फिर भी राज्य उनको इसलिए करते हैं क्योंकि यदि उन्हें व्यक्तिगत लोगों के हाथों में छोड़ दिया जाए तो वे या तो अयोग्य रूप से और अनुचित रूप से संपादित होंगे या बिल्कुल संपादित ही नहीं होंगे। इन कार्यों का मुख्य उद्देश्य जनता की नैतिक, बौद्धिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति करना होता है। **गैटेल** ने राज्य के ऐच्छिक कार्यों को दो श्रेणियों में विभाजित किया है। 1. गैर समाजवादी कार्य और 2. समाजवादी कार्य। गैर समाजवादी कार्य वे हैं जो यद्यपि अनिवार्य नहीं हैं, लेकिन फिर भी राज्य के द्वारा संपादित होने के लिए स्वाभाविक और सामान्य हैं, क्योंकि यदि वे राज्य के द्वारा उपेक्षित हों, तो या तो वे बिल्कुल संपादित ही नहीं होंगे या वैयक्तिक उद्योग के द्वारा कुछ कम क्षमता के साथ ही संपादित होंगे।

विल्सन ने राज्य के ऐच्छिक कर्तव्यों में निम्नलिखित कार्यों को शामिल किया है। 1. उद्योग और व्यापार का नियंत्रण 2. श्रम का नियंत्रण 3. यातायात की व्यवस्था जिसमें रेलों का नियंत्रण आदि सम्मिलित है 4. डाक और तार व्यवस्था का इंतजाम 5. पानी और गैस आदि का प्रबंध 6. स्वास्थ्य और सफाई का प्रबंध 7. गरीबों और अपाहिजों की देखभाल 8. जंगलों की रखवाली और खेती तथा अन्य ऐसे कार्य जैसे नदियों में मछलियाँ पकड़ना 9. व्यय संबंधी विधान जैसे मद्यनिषेध कानून और 10. शिक्षा।

5.4. राज्य के कार्यक्षेत्र की सीमाएँ (Limitation of Filed of State)

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न–ऊपर हम इस बात का कई बार उल्लेख कर चुके हैं कि वर्तमान युग की एक प्रमुख विशेषता राज्य के कार्यक्षेत्र की अधिकाधिक वृद्धि है। सर्वाधिकारी देशों में तो राज्य के कार्यक्षेत्र के ऊपर कोई अंकुश नहीं है।

नोट

राज्य और व्यक्तिगत जीवन–राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार और उसकी सीमाओं के संबंध में **मैकाइवर** का यह सूत्र हमारा अच्छा पथ-प्रदर्शन कर सकता है। व्यवस्था की स्थापना और व्यक्तित्व का सम्मान ये राज्य के दो आवश्यक निषेधात्मक और विषयात्मक कर्तव्य हैं और यदि हम उनके अंतर्भावों को समझ लें, तो हम उसके कार्यक्षेत्र और उसकी सीमाओं दोनों का पता लगा सकते हैं। **मैकाइवर** के इस सूत्र का अभिप्राय यही है कि समाज में शांति और व्यवस्था बनाए रखने के लिए जो भी आवश्यक कार्य हैं, राज्य को करने चाहिए लेकिन राज्य को वे कार्य जिनसे मानव व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध होता है अपने हाथ में नहीं लेने चाहिए। संक्षेप में राज्य के हस्तक्षेप को कल्याण में वृद्धि होती है। राज्य को उन क्षेत्रों में कदापि हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए जहाँ इस प्रकार के हस्तक्षेप से यह स्पष्टतः सिद्ध न हो जाए कि सार्वजनिक सुख की वृद्धि में सहायता मिलेगी।

राज्यों और नागरिकों के मूल अधिकार–आजकल के अधिकांश लोकतंत्रात्मक संविधानों ने अपने नागरिकों को कुछ मूल अधिकार प्रदान करके राजनीतिक नियंत्रण की सीमाओं को स्वतः ही स्वीकार कर लिया है। इन अधिकारों का अतिक्रमण नहीं किया जा सकता और इन्हें न्यायालय द्वारा बाध्यता दी जा सकती है। यदि राज्य का कोई कानून इन अधिकारों का अपहरण करता है तो न्यायालय इस कानून को अवैध घोषित कर सकते हैं। उदाहरण के लिए भारत के संविधान अनुच्छेद 12 से 35 तक ने नागरिकों को यह गारंटी दी है कि वे कानून की दृष्टि में बिना किसी भेदभाव के बराबर समझे जाऐंगे उन्हें भाषण, उपासना और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता रहेगी। शांतिपूर्वक सभाएँ करने और समुदाय बनाने का उन्हें अधिकार रहेगा, संघ के संपूर्ण राज्यक्षेत्र में घूमने-फिरने की कहीं भी बसने की और किसी भी जीविका, वाणिज्य या व्यवसाय की स्वतंत्रता का वे उपभोग करेंगे। यद्यपि इस प्रकार के उपबंध प्रायः सभी लोकतंत्रात्मक देशों के संविधानों में रहते हैं, लेकिन इनके साथ ही साथ उनमें कुछ संकटकालीन उपबंध भी रहते हैं जिनके अनुसार राष्ट्रीय आपदा के क्षणों में नागरिकों के उक्त मूल अधिकारों को स्थगित किया जा सकता है।

राज्य का उद्देश्य क्या है, राज्य की प्रकृति क्या है, राज्य का कार्य-क्षेत्र क्या होना चाहिए इन प्रश्नों का उत्तर राजनीति विज्ञान के विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से दिया है। राज्य के कार्य से संबंधित उदारवादी, समाजवादी तथा लोककल्याणकारी सिद्धांत का विवेचन निम्न प्रकार है–

5.5. उदारवादी सिद्धांत (Liberalist Principle)

ऐताहासिक दृष्टि से उदारवाद को मध्ययुग के अंत तथा आधुनिक के प्रारंभ की विचारधारा कहा जा सकता है। इंग्लैंड को उदारवाद का घर कहा जाता है। ब्रिटिश विचारक **जॉन लॉक** को उदारवाद का जनक कहा जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी में इस विचारधारा का व्यापक विकास हुआ।

मैक गवर्न का कहना है कि ''राजनीतिक विचारधारा के रूप में उदारवादी दो पृथक-पृथक तत्वों का सम्मिश्रण है। उनमें एक लोकतंत्र है और दूसरा व्यक्तिवाद है।'' **सारटोरी** का कहना है ''सामान्य तौर पर उदारवादी व्यक्तिगत स्वतंत्रता, न्यायिक सुरक्षा तथा सांविधानिक राडम का सिद्धांत है।

उदारवादी विचारधारा का केंद्रबिंदु व्यक्ति है। सामान्यतः यह उदारवादी व्यक्ति के जीवन के सभी क्षेत्रों में उसकी स्वतंत्रता का समर्थन करती है। उदारवादियों का कहना है कि व्यक्ति पर कम से कम नियंत्रण होना चाहिए। उदारवादियों का कहना है कि राज्य का कार्यक्षेत्र सीमित होना चाहिए और विभिन्न क्षेत्रों में व्यक्ति को अपना विकास करने के लिए स्वतंत्र होना चाहिए।

राज्य के उद्देश्य एवं कार्यों के संबंध में उदारवादियों का परिवर्तनशील दृष्टिकोण–राज्य के उद्देश्यों एवं कार्यों के संबंध में उदारवादियों के दृष्टिकोण में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे हैं। उदारवादियों के दृष्टिकोण को निम्न दो भागों में बाटाँ जा सकता है–

1. परंपरागत दृष्टिकोण
2. आधुनिक दृष्टिकोण

उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

1. परंपरागत दृष्टिकोण–व्यक्ति की पूर्ण स्वतंत्रता का समर्थन होने के कारण उदारवाद राज्य के कार्य क्षेत्र को सीमित करना चाहता है। परंपरागत उदारवाद को निषेधात्मक उदारवाद भी कहा जाता है।

नोट

इसके अनुसार स्वतंत्रता का अर्थ बंधनों का अभाव माना गया है। इसे नकारात्मक स्वतंत्रता भी कहा जाता है। आर्थिक क्षेत्र में परंपरागत दृष्टिकोण अहस्तक्षेप (Laissez Faire) की नीति का समर्थन करता है। आर्थिक क्षेत्र में किसी प्रकार की राजनीतिक दखलंदाजी का विरोध करते हुए यह आर्थिक स्वतंत्रता का समर्थन करता है। निषेधात्मक उदारवाद आर्थिक क्षेत्र के व्यक्तिवाद को महत्त्व देता है। यह राज्य तथा सरकार को आवश्यक बुराई मानता है तथा जो सरकार कम से कम शासन करे इसे सर्वोत्तम मानता है।

2. आधुनिक दृष्टिकोण–राज्य के उद्देश्य कार्यों के संबंध में 19वीं शताब्दी के परंपरागत दृष्टिकोंण के अवांछनीय परिणाम सामने आए। इस परंपरागत दृष्टिकोण की प्रतिक्रिया के रूप में जो दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ, उसे आधुनिक दृष्टिकोण कहा जाता है। फलतः उदारवादी यह मानने लगे कि राज्य का उद्देश्य तथा कार्य किसी एक व्यक्ति, एक वर्ग या एक समुदाय अथवा कुछ व्यक्तियों, कुछ वर्गों या कुछ समुदाय के हितों की साधना करना नहीं है, वरन उसका उद्देश्य व कार्य सभी के परस्पर विरोधी हितों के बीच सामंजस्य स्थापित करते हुए सामान्य हितों की साधना करना है। इस प्रकार राज्य के कार्यों, स्वतंत्रता, राज्य और व्यक्ति के संबंध आदि के बारे में उदारवादियों की धारणा में परिवर्तन हुआ। फलतः निषेधात्मक स्वतंत्रता तथा राज्य का विचार, सकारात्मक स्वतंत्रता तथा राज्य के विचार में परिवर्तित हो गया। आधुनिक दृष्टिकोण को सकारात्मक उदारवाद के नाम से भी जाना जाता है। सकारात्मक उदारवाद के मुख्य प्रतिपादक जे.एस. मिल, टी.एच. ग्रीन, आर्नोल्ड, हावहाऊस, रिचे, हाबसन, लास्की, कींस आदि विचारक रहे हैं। आधुनिक दृष्टिकोण अथवा सकारात्मक उदारवाद के अनुसार राज्य के कार्य एवं भूमिका निम्न प्रकार बताई गई है–

1. उदारवादी आधुनिक दृष्टिकोण ने राज्य को एक आवश्यक बुराई न मानते हुए एक नैतिक एवं कल्याणकारी संस्था माना जाता है।

2. राज्य तथा स्वतंत्रता में विरोध नहीं है अपितु राज्य स्वतंत्रता के लिए आवश्यक परिस्थितियों का निर्माण करता है।

3. उदारवाद के आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार स्वतंत्रता के सकारात्मक दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया गया है। इसकी मान्यता है कि स्वतंत्रता को राज्य के माध्यम से ही प्राप्त किया जाता है।

4. आधुनिक दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का यह भी कहना है कि राज्य द्वारा अर्थव्यवस्था का नियंत्रण तथा नियोजन किया जाना चाहिए।

5.6. समाजवादी सिद्धांत (Socialist Principle)

समाज का सिद्धांत 19वीं शताब्दी के व्यक्तिवादी सिद्धांत के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में अस्तित्व में आया। व्यक्तिवादियों के सर्वथा विपरीत समाजवादी राज्य के कार्य क्षेत्र को अधिक से अधिक व्यापक करना चाहते हैं। समाजवादी चाहते हैं कि उत्पादन के समस्त साधनों पर राज्य का नियंत्रण होना चाहिए। उत्पादन तथा वितरण सभी कुछ राज्य के हाथों में होना चाहिए। व्यक्तिवादी विचारधारा के विपरीत समाजवाद न केवल आर्थिक क्षेत्र से राज्य को संपूर्ण अधिकार प्रदान करता है, वरन वह पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था को समाप्त कर देना चाहता है।

एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका के अनुसार ''समाजवाद वह नीतियाँ सिद्धांत है जिसका उद्देश्य केंद्रीय लोकतंत्रात्मक सत्ता के आधार पर उत्पादन और वितरण की वर्तमान व्यवस्था के स्थान पर एक श्रेष्ठ व्यवस्था स्थापित करना है।''

एली के अनुसार, ''समाजवाद वह है जो समाज को ऐसे राजकीय संगठन के रूप में देखता है जिसे संगठन का उद्देश्य आर्थिक वस्तुओं को और अधिक पूर्ण वितरण तथा मानवता को ऊँचा उठाना है।

लास्की के अनुसार, ''समाजवाद का आशय उत्पादन और वितरण पर ऐसा आधिपत्य स्थापित करना है जिसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की उन समस्त भौतिक और अनैतिक वस्तुओं तक पहुँच हो सके और जिनके द्वारा वह अपने जीवन को सुखी बना सकता है।''

सैलर्स के शब्दों में, ''समाजवाद एक ऐसी जनतंत्रात्मक विचारधारा है जिसका उद्देश्य समाज में एक ऐसा आर्थिक संगठन स्थापित करना है जो कि व्यक्ति को अधिकतम न्याय और स्वाधीनता प्रदान कर सके।

छात्र क्रियाकलाप

1. विल्सन के अनुसार राज्य के आवश्यक कर्तव्य कौन-कौन से हैं?

2. उदारवादियों के दृष्टिकोण को कितने भागों में बाँटा जा सकता है?

बट्रेंड रसेल के अनुसार ''समाजवाद का अर्थ भूमि तथा पूँजी पर सार्वजनिक अधिकार स्थापित करना है साथ ही लोकतांत्रीय ज्ञापन भी स्थापित करना है।''

रामजे मैक डोनाल्ड के अनुसार ''सामान्य शब्दों में समाजवाद की इससे अच्छी परिभाषा नहीं दी जा सकती कि वह समाज की भौतिक तथा आर्थिक शक्तियों को संगठित करना और उन पर मानवीय शक्ति का नियंत्रण स्थापित करना चाहता है।''

नोट

समाजवाद को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न-विभिन्न प्रकार से परिभाषित किया है, इसलिए समाजवाद का वास्तविक अर्थ क्या है? यह कहना कठिन है। इस संदर्भ में **सी.ई.एम. जोड** ने ठीक लिखा है कि ''समाजवाद एक ऐसी टोपी की भाँति है, जिसकी आकृति भंग हो गयी है, क्योंकि हर कोई उसे धारण करने का प्रयत्न करता है।'' **रैम्जे म्योर** के शब्दों में ''समाजवाद गिरगिट के अनुसार रंग बदलने वाला मंतव्य है। यह वातावरण के अनुसार रंग बदलता है।''

समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्य क्षेत्र समाजवादी विचारधारा के अनुसार राज्य का कार्य क्षेत्र अत्यधिक व्यापक माना गया है। समाजवादियों का कहना है कि राज्य के द्वारा सभी अवस्थाओं में व्यक्ति के आचरण का नियमन और संचालन किया जाना चाहिए।

समाजवादियों के अनुसार राज्य के द्वारा वे सभी कार्य किए जाने चाहिए, जो व्यक्ति और समाज के विकास में आवश्यक हों। इस प्रकार समाजवादी व्यक्तिवादियों की तरह न तो राज्य की आवश्यक बुराई मानते हैं और न ही अराजकतावादियों की भाँति उसका उन्मूलन करना चाहते हैं, बल्कि वे व्यक्ति और समाज का विकास करने के लिए राज्य को अधिक से अधिक कार्य सौंपना चाहते हैं। **गार्नर** के शब्दों में 'इस सिद्धांत के समर्थक व्यक्तिवादियों की भाँति राज्य पर अविश्वास करके एवं उसे बुराई मानकर उसके कार्य क्षेत्र को कम से कम करने के विपरीत राज्य को सर्वोच्च एवं निश्चित रूप से लाभप्रद मानते हैं और चाहते हैं कि राज्य के कार्य जनता के सामान्य आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक हितों की अभिवृद्धि करें।''

समाजवादी सिद्धांत/एवं लक्षण समाजवादी विचारधारा के प्रमुख सिद्धांत एवं विशेषताएँ निम्न प्रकार हैं–

1. समाजवादी क्रमिक विकास के सिद्धांत में विश्वास करते हैं। वे क्रांति द्वारा एकाएक तीव्र परिवर्तन नही चाहते बल्कि धीरे-धीरे जनमत द्वारा सामाजिक परिवर्तन करना चाहते हैं।

2. समाजवादी व्यवस्था न्याय पर आधारित है। क्योंकि वे भूमि तथा उत्पादन के प्राकृतिक साधनों पर किसी एक वर्ग का आधिपत्य पसंद नहीं करते वरन उन पर संपूर्ण समाज का नियंत्रण स्थापित करना चाहते हैं।

3. समाजवादी लोकतांत्रिक विचारधारा में विश्वास करते हैं। क्योंकि वे लोकतंत्र के माध्यम से समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

4. समाजवादी विचारधारा समाज में विषमता दूर करना चाहती है। समाजवादी धन का वितरण लोगों की योग्यता तथा कार्य के अनुसार करना चाहते हैं।

5. समाजवादी व्यक्ति तथा समाज की आंगित एकता पर बल देते हैं अर्थात वे व्यक्ति और समाज का संबंध उसी रूप में मानते हैं जिस रूप में हमारे शरीर का उसके अंगों से संबंध होता है।

समाजवाद की आलोचना–समाजवाद पूँजीवादी व्यवस्था का अंत करने एवं व्यक्तिवादी की अपेक्षा सामाजिक हित को सर्वोच्चता प्रदान करने के लिए एक सुंदर मार्ग प्रस्तुत करता है, लेकिन इसके बावजूद समाजवाद पूर्णतया दोषमुक्त नहीं है। आलोचकों ने निम्नलिखित आधारों पर समाजवादी विचारधारा की आलोचना की है। आलोचकों का कहना है कि समाजवादी विचारधारा व्यक्तिगत स्वतंत्रता की विरोधी है क्योंकि समाजवादी व्यवस्था में राजनीतिक व आर्थिक शक्तियों पर राज्य का स्वामित्व व नियंत्रण स्थापित हो जाता है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति की स्वतंत्रता पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध लग जाते हैं। और व्यक्ति राज्य रूपी मशीन का पुर्जा मात्र बन कर रह जाता है।

2. आलोचकों के अनुसार समाजवादी व्यवस्था का उत्पादन क्षमता पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। क्योंकि यह मनुष्य का स्वभाव है कि वह व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा के आधार पर ही ठीक प्रकार से कार्य कर सकता है। परंतु समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन कार्य कर सकता है। परंतु समाजवादी व्यवस्था में

उत्पादन कार्य राज्य के हाथ में आ जाने और सभी व्यक्तियों का परिश्रमिक निश्चित होने के कारण कार्य के लिए आधारभूत प्रेरणा का अंत हो जाता है और व्यक्ति आलसी हो जाता है।

3. आलोचकों का यह भी कहना है कि समाजवादी व्यवस्था में राज्य की कार्य कुशलता कम हो जाएगी। क्योंकि समाजवादी राज्य को अधिक से अधिक कार्य सौंपना चाहते हैं। इससे राज्य के कार्य क्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है और व्यापक कार्य क्षेत्र के कारण राज्य की कुशलता भी कम हो जाती है।

4. कुछ आलोचकों का कहना है कि समाजवादी व्यवस्था नौकरशाह को बढ़ावा देती है। समाजवादी व्यवस्था में सभी प्रकार के उद्योगों पर राज्य का नियंत्रण होता है। और इनका प्रबंध सरकारी अधिकारियों द्वारा किया जाता है। सरकारी अधिकारियों के हाथ में शक्ति आ जाने से स्वाभाविक रूप से नौकरशाहों की शक्ति में वृद्धि हो जाती है।

5. समाजवादी व्यवस्थाओं के आलोचक इस आधार पर भी आलोचना करते हैं कि यह व्यवस्था अत्यधिक अपव्ययी अथवा खर्चीली होती है। समाजवादी व्यवस्था में एक छोटे से कार्य करने के लिए अनेक कर्मचारी रखे जाते हैं और फिर भी वह कार्य सफलतापूर्वक संपन्न नहीं हो पाता है। इस प्रकार यह व्यवस्था पुँजीवादी व्यवस्था की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से अधिक अपव्ययी तथा खर्चीली होती है।

उपरोक्त आलोचनाओं के बावजूद समाजवादी विचारधारा का अपना विशेष महत्त्व है। वस्तुतः समाजवादी विचारधारा वर्तमान युग की सर्वाधिक लोकप्रिय विचारधारा है। समाजवादी विचारधारा की लोकप्रियता का मुख्य कारण यह है कि यह जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में समानता के सिद्धांत को लागू करना चाहती है। यह विचारधारा विषमता तथा शोषण का उन्मूलन करके समतावादी समाज के सृजन का मार्ग प्रशस्त करती है। अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण समाजवादी विचारधारा की लोकप्रियता में वृद्धि हुई है। और व्यवहार में समाजवादी विचारधारा का महत्त्व बढ़ा है।

लोक-कल्याणकारी राज्य का सिद्धांत—वर्तमान में राज्य के कार्यों के संबंध में लोक-कल्याणकारी राज्य की धारणा सर्वाधिक लोकप्रिय होती जा रही है। आज राज्य की महानता की परीक्षा उसकी शक्ति संपन्नता से नहीं आंकी जाती है बल्कि यह देखा जाता है कि वह किस सीमा तक लोक हितकारी है। इस सिद्धांत के अनुसार राज्य को एक आवश्यक संघ माना गया है जिसका मुख्य उद्देश्य नागरिकों के जीवन को सुखी और समृद्ध बनाना है।

अर्थ एवं परिभाषा—सामान्यतः लोक-कल्याणकारी राज्य का अभिप्राय एक ऐसे राज्य से होता है जिसके अंतर्गत शासन का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याणकारी राज्य में नागरिकों को व्यापक स्तर पर सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के आदर्श इतने उच्च हैं कि आप विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा इसे अपना लिया गया है।

लोक-कल्याणकारी राज्य को अनेक विद्वानों ने परिभाषित किया है। कुछ प्रमुख विद्वानों की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं—

1. **डॉ. अब्राहम** के अनुसार ''कल्याणकारी राज्य वह राज्य है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक वितरण के उद्देश्य से करता है।''

2. **टी.डब्ल्यू केंत** के अनुसार ''यह एक ऐसा राज्य है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।''

3. **गार्नर** के कथनानुसार ''कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन, राष्ट्रीय धन तथा जीवन के भौतिक, बौद्धिक तथा नैतिक स्तर का विकास करना है।

4. **जी.डी.एच. कोल** के अनुसार ''लोक-कल्याणकारी राज्य वह है जिसमें प्रत्येक नागरिक का रहन-सहन के निम्नतम स्तर तथा अवसर प्राप्त हो।''

भारत के प्रथम प्रधानमंत्री **पं. जवाहर लाल नेहरू** ने अपने एक भाषण में लोक-कल्याणकारी राज्य की परिभाषा देते हुए कहा है कि ''कल्याणकारी राज्य वह व्यवस्था है जिसमें सरकार रोजगार, आय, शिक्षा, डाक्टरी सुविधा, सामाजिक सुरक्षा तथा आवास को निर्धारित स्तर को सभी नागरिकों को प्रदान करने के लिए सहमत हो''।

उपरोक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि लोक-कल्याणकारी राज्य नागरिकों के मानसिक, सांस्कृतिक, सामाजिक, नैतिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास में सहयोग देता है। वह समाज में शोषण का अंत

चाहता है तथा ऐसा वातावरण तैयार करता है जिससे मानव जीवन के सभी क्षेत्रों में उन्नति हो। वस्तुतः कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य किसी एक समुदाय या वर्ग विशेष के हितों की साधना न होकर जनता के सभी वर्गों का कल्याण करना होता है।

नोट

5.7. लोक-कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का उद्‌भव तथा विकास (Origin and Development Concept of Public Welfare State)

लोक-कल्याणकारी राज्य के विचार का अधिकतम विकास 19वीं तथा 20वीं शताब्दी में हुआ है, किंतु इसके आंशिक बीज हमें प्राचीनकाल से ही देखने को मिलते हैं। प्राचीन भारतीय तथा यूनानी साहित्य में हमें सबसे पहले इसके दर्शन होते हैं। महाभारत, पराशर की स्मृतियों तथा मार्कंडेय, मनु और याज्ञवल्क्य की विचारधारा में यह बात स्पष्ट देखी जा सकती है। यूनानी विचारकों **प्लेटो** तथा **अरस्तु** द्वारा राज्य को एक नैतिक संगठन माना गया, जिसका मुख्य उद्देश्य किसी एक वर्ग का कल्याण करना नहीं वरन् समस्त नागरिकों के कल्याण के लिए कार्य करता है। मध्यकाल में इस विचार के दर्शन नहीं होते हैं परंतु 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के अनेक विचारकों जैसे टामस पेन, थामस जेफरसन, काण्ट ग्रीन, बेंथम आदि की विचारधाराओं में पुनः इस विचारधारा के दर्शन होते हैं कि राज्य अपने सदस्यों के हित के लिए कार्य करें।

आधुनिक रूप में लोक-कल्याणकारी राज्य के विचार को औद्योगीकरण की देन कहा जा सकता है। इंग्लैंड की सर्वप्रथम महारानी एलिजाबेथ प्रथम के शासन काल में निहित कानून अधिनियम के निर्माण से लोक-कल्याणकारी राज्य का बीज बोया गया। इस अधिनियम द्वारा भिखमंगों, अपाहिजों तथा अनाथों की सेवा तथा भरण-पोषण की व्यवस्था की गई।

नेपोलियन तृतीय ने सार्वजनिक मताधिकार श्रमिक संघ, मजदूरी में वृद्धि, गृह एवं राज्य सहायता बीमा योजना आदि सिद्धांतों को कार्य रूप दिया, जिन्हें हम लोक-कल्याणकारी राज्य की विशेषताएँ कह सकते हैं।

जर्मनी में विस्मार्क ने अनेक कल्याणकारी कार्य किए। उसने सामाजिक नीतियों के अंतर्गत अंक कार्यक्रम को क्रियान्वित किया, जिनमें बीमारी, बुढ़ापा तथा दुर्घटना संबंधी सामाजिक बीमा योजनाएँ उल्लेखनीय हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश संसद ने कुछ प्रमुख अधिनियम पारित करके लोक-कल्याणकारी योजनाओं को क्रियान्वित किया। ब्रिटेन की भते स्वीडन, डेनमार्क, नार्वे आदि राज्यों द्वारा भी लोक-कल्याणकारी योजनाओं को विस्तृत प्रदान किया गया। भारत लोक-कल्याणकारी राज्य का विशिष्ट उदाहरण है। संविधान की प्रस्तावना तथा नीति-निर्देशक तत्वों में इसका स्पष्ट उल्लेख है–

विशेषताएँ–लोक-कल्याणकारी राज्य की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं–

1. लोक-कल्याणकारी राज्य मुख्य रूप से आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित है। वह लोक-कल्याणकारी कार्य करके निर्धनता दूर करता है और अपने नागरिकों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करता है।

2. लोक-कल्याणकारी राज्य व्यक्तियों की शारीरिक तथा मानसिक क्षमताओं के अनुसार उन्हें रोजगार प्रदान करता है, जो व्यक्ति किसी कार्य करने में सक्षम होता है उनकी सुरक्षा हेतु बेरोजगारी बीमे की व्यवस्था करता है।

3. कल्याणकारी राज्य आर्थिक समानता की स्थापना करना चाहता है ताकि कोई व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण न कर सके।

4. कल्याणकारी राज्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए लोकतांत्रिक संस्थाओं में सुदृढ़ करता है।

5. लोक-कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति तथा राजनीतिक संसर्ग बनाने की स्वतंत्रता प्रदान करता है, क्योंकि इन स्वतंत्रताओं से ही लोकहित की साधना सफल होती है।

6. लोक-कल्याणकारी राज्य के समर्थक राज्य के कार्यक्षेत्र के विस्तार के समर्थक हैं उनका कहना है कि राज्य को वे सभी जनहितकारी कार्य करने चाहिए जिनके करने से व्यक्ति की स्वतंत्रता नष्ट या कम नहीं होती।

लोक-कल्याणकारी राज्य के कार्य–विभिन्न विद्वानों द्वारा राज्य के कार्यों का जो वर्गीकरण किया गया है, सुविधा की दृष्टि से उसके आधार पर राज्य के समस्त कार्यों को दो भागों में बाँटा जा सकता है–

1. आवश्यक अथवा अनिवार्य कार्य,
2. ऐच्छिक कार्य।

छात्र क्रियाकलाप

1. गार्नर ने लोक-कल्याणकारी राज्य के विषय में क्या कहा है?

2. लोक-कल्याणकारी राज्य की किन्हीं तीन विशेषताओं को लिखें?

नोट

कल्याणकारी राज्य के उपरोक्त कार्यों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

1. **आवश्यक अथवा अनिवार्य कार्य**–कल्याणकारी राज्य के आवश्यक अथवा अनिवार्य कार्य इस प्रकार हैं–

(*i*) **देश की सुरक्षा**–कल्याणकारी राज्य का प्रमुख कार्य बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा करना है। इसलिए राज्य एक संगठित सेना एवं प्रतिरक्षा के अन्य आवश्यक साधन जुटाता है।

(*ii*) **आंतरिक शांति तथा सुव्यवस्था**–आंतरिक शांति तथा सुव्यवस्था के वातावरण में ही नागरिकों की सर्वतोमुखी उन्नति हो सकती है। अतः आंतरिक शांति तथा व्यवस्था बनाए रखने हेतु कल्याणकारी राज्य पुलिस, जेल तथा गुप्तचर व्यवस्था को सुदृढ़ करता है।

(*iii*) **न्याय प्रबंध करना**–न्याय व्यवस्था की दृष्टि से अपराधों का स्पष्टीकरण तथा दंड विधान प्रत्येक राज्य का आवश्यक कार्य है। इसलिए प्रत्येक राज्य दंड संबंधी नियमों को निर्मित करके न्याय हेतु दीवानी तथा राजस्व न्यायालयों की व्यवस्था करता है।

(*iv*) **आर्थिक कार्य**–कल्याणकारी राज्य अनेक आर्थिक कार्यों का संपादन करता है जैसे–कर, लगान, मुद्रा संबंधी कानून बनाना और भूमि, जंगल तथा सार्वजनिक संपत्ति का प्रबंध करना आदि।

(*v*) **अन्य कार्य**–लोक-कल्याणकारी राज्य कुटुंब संबंधी नियमों का निर्माण करता है। इसके अतिरिक्त कल्याणकारी राज्य अधिकारों तथा कर्तव्यों की विवेचना कर नागरिकों के पारस्परिक संबंधों का निर्धारण करता है।

2. **ऐच्छिक कार्य**–लोक-कल्याणकारी राज्य नागरिकों के जीवन स्तर को सुधारने तथा समृद्धि के लिए निम्न प्रकार के कुछ ऐच्छिक कार्यों का संपादन करता है–

(*i*) **शिक्षा व्यवस्था**–नागरिकों के बौद्धिक तथा नैतिक विकास के लिए लोक-कल्याणकारी राज्य शिक्षा की व्यवस्था करता है। इस दृष्टि से कल्याणकारी राज्य द्वारा शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की जाती है तथा शिक्षा का प्रचार करने के लिए प्राथमिक स्तर तक अनिवार्य तथा निःशुल्क शिक्षा का प्रबंध किया जाता है।

(*ii*) **स्वास्थ्य रक्षा**–प्रत्येक कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों के मानसिक तथा शारीरिक स्वास्थ्य का ध्यान रखता है। इसके लिए राज्य चिकित्सालयों तथा प्रसवगृह की स्थापना करता है तथा जन साधारण की निःशुल्क चिकित्सा सुविधा प्रदान करता है।

(*iii*) **यातायात के साधनों का विकास**–देश के आर्थिक विकास तथा जनता की सुविधा के लिए यातायात के साधनों की प्रगति आवश्यक होती है। इसलिए प्रत्येक कल्याणकारी राज्य सड़क, रेल, जलमार्ग, हवाई मार्ग आदि का निर्माण करता है।

(*iv*) **संचार साधनों का विकास**–देश की प्रगति में संचार साधनों का बड़ा योगदान होता है। अतः प्रत्येक लोक-कल्याणकारी राज्य डाक, तार, रेडियो, टेलीविजन आदि के विकास पर ध्यान देते हैं।

(*v*) **कृषि उद्योग तथा व्यापार को प्रोत्साहन**–लोक-कल्याणकारी राज्य आर्थिक समृद्धि तथा संपन्नता के लिए कृषि, उद्योग तथा व्यापार के विकास को प्रोत्साहन देता है। इसका उद्देश्य राज्य मुद्रा निर्माण प्रामाणिक, नाप तौल की व्यवस्था, व्यवस्थाओं का निर्माण कृषकों की राजकीय सहायता, नहरों का निर्माण, बीज वितरण की व्यवस्था, गोदाम खोलना और कृषि सुधार आदि कार्यों पर ध्यान देता है।

(*vi*) **मनोरंजन की सुविधाओं का विकास**–लोक-कल्याणकारी राज्य अपनी जनता को स्वास्थ्य मनोरंजन की सुविधाएँ प्रदान करने के लिए सार्वजनिक उद्यानों, क्रीड़ा क्षेत्रों, स्नान गृहों, नृत्यगृहों, रंगमंच तथा रेडियो आदि का प्रबंध करता है।

(*vii*) **समाज सुधार कार्य**–लोक-कल्याणकारी राज्य सामाजिक रूढ़ियों तथा कुरीतियों को दूर करने का प्रयास करता है। क्योंकि सामाजिक रूढ़ियों तथा कुरीतियों लोकतांत्रिक प्रगति में बाधक होता है।

(*viii*) **मजदूरों के हित की रक्षा**–मजदूर देश के आर्थिक प्रगति के आधार होते हैं। पूँजीपतियों और जमींदारों के अत्याचारों से मजदूर की रक्षा के लिए फैक्ट्री कानून का निर्माण करता है।

(*ix*) **निर्धन तथा अपाहिजों की रक्षा**–लोक-कल्याणकारी राज्य निर्धनों, अपाहिजों, बेकारी तथा वृद्धों की रक्षा का समुचित व्यवस्था करता है।

(x) सार्वजनिक कार्य–लोक-कल्याणकारी राज्य के द्वारा परिवहन संचार साधन रेडियो सिंचाई के साधन, बैंक, विद्युत, कृषि के वैज्ञानिक साधनों आदि की व्यवस्था से संबंधित सार्वजनिक सुविधाओं के कार्य भी किए जाते हैं। इन कार्यों द्वारा राज्य सार्वजनिक सुविधाओं का विकास करता है।

लोक-कल्याणकारी राज्य के विचार की आलोचना यद्यपि लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार वर्तमान युग का सर्वाधिक लोकप्रिय विचार है। फिर भी इसके विरुद्ध निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जाते हैं–

नोट

1. **स्पष्टता का अभाव**–लोक-कल्याणकारी राज्य की मान्यता पूर्णतः स्पष्ट नहीं है। पूँजीवादी तथा साम्यवादी दोनों ही वर्गों ने अपने अपने ढंग से व्याख्या की है। दोनों ही इसे मानते हैं तथा स्वीकार करते हैं। फलतः इस विचार को लेकर अनेक भ्रम पैदा हो गए हैं, जो इसको स्पष्ट बना देता है।

2. **स्वतंत्रता का हनन**–कुछ आलोचकों का कहना है कि लोक-कल्याणकारी राज्य का विचार राज्य के कार्य क्षेत्र के विस्तार का समर्थन करता है। किंतु राज्य के कार्यों की वृद्धि के कारण राज्य शक्तिशाली हो जाएगा और शक्तिशाली राज्य व्यक्ति की राज्य के संबंधी सिद्धांत उदारवाद समाज तथा लोक-कल्याणकारी सिद्धांत स्वतंत्रता का हनन कर सकता है।

3. **दलीय एकाधिकार का भय**–लोक-कल्याण के नाम पर सतारूढ़ दल प्रशासन की सारी शक्तियों पर एकाधिकार स्थापित कर सकता है। देश के हित के लिए बनाई गई योजनाओं तथा उसके क्रियान्वयन पर सत्ताधारी दल का अधिकार रहता है। इससे स्पष्ट है कि कल्याणकारी राज्य के विचार में दलिय एकाधिकार का भय हमेशा बना रहता है।

4. **समुदायों की स्वतंत्रता पर आघात**–लोक-कल्याणकारी राज्य द्वारा अनेक ऐसे कार्य किए जाते हैं जो विभिन्न समुदाय द्वारा किए जाते हैं। राज्य के कार्य के बढ़ जाने के कारण समुदायों की स्वतंत्रता सीमित हो जाती है।

5. **नौकरशाही को प्रोत्साहन**–लोक-कल्याण राज्य की अवधारणा को अपनाने के कारण राज्य की नौकरशाही में वृद्धि होगी। नौकरशाही की अत्यधिक वृद्धि से लालफीताशाही, भाई भतीजावाद तथा भ्रष्टाचार आदि अनेक बुराइयाँ जन्म लेगी।

6. **अत्यधिक अपव्यय होना**–लोक-कल्याणकारी राज्य का आदर्श अत्यधिक खर्चीला है। क्योंकि राज्य को विभिन्न लोक-कल्याणकारी सेवाएँ संपादित करने के लिए बहुत अधिक धन राशि की आवश्यकता नहीं हो सकती। सिनेटर टाफ्ट के शब्दों में, ''लोक-कल्याण की राज्य को दिवालिएपन की ओर ले जाएगी।''

5.8. सारांश (Summary)

लोक-कल्याणकारी राज्य की जो उपरोक्त आलोचनाएँ की गई हैं। उनके आधार पर इस विचार को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। लोक-कल्याणकारी राज्य किसी भी रूप में व्यक्ति की स्वतंत्रता का हनन नहीं करता वरन यह व्यक्ति की स्वतंत्रता को वास्तविकता का रूप प्रदान करता है। कल्याणकारी राज्य के आदर्श के कारण समुदायों की स्वतंत्रता भी सीमित नहीं होती, वरन उनके कार्यों का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है। इस प्रकार इस सिद्धांत की अधिकांश आलोचनाएँ संगत तथा समीचीन नहीं हैं। इसलिए कल्याणकारी राज्य के आदर्श को विश्व के लगभग सभी राज्य किसी न किसी प्रकार से अपना रहे हैं और इसे अपनाने के अतिरिक्त अन्य कोई यथोचित विकल्प नहीं है।

5.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. राज्य के आवश्यक और ऐच्छिक कार्यों के बारे में बताइए।
2. राज्य के कार्यक्षेत्र की क्या सीमाएँ हैं? स्पष्ट कीजिए।
3. उदारवादी सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
4. समाजवादी सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।
5. लोक-कल्याणकारी राज्य के उद्‌भव और विकास को स्पष्ट कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-6

प्रभुसत्ता
(Sovereignty)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

6.1. उद्देश्य (Objectives)
6.2. परिचय (Introduction)
6.3. प्रभुसत्ता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sovereignty)
6.4. प्रभुसत्ता के सिद्धांत का इतिहास (History of the Theory of Sovereignty)
6.5. प्रभुसत्ता की विशेषताएँ (Characteristics of Sovereignty)
6.6. प्रभुसत्ता के विभिन्न रूप (Various Aspects of Sovereignty)
6.7. प्रभुसत्ता और अंतर्राष्ट्रीय संगठन (Sovereignty and International Order)
6.8. भारतीय संविधान में प्रभुसत्ता की अवधारणा (Concept of Sovereignty in Indian Constitution)
6.9. प्रभुसत्ता और बहुवाद (Sovereignty and Pluralism)
6.10. सारांश (Summary)
6.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

6.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में–

- प्रभुसत्ता का अभिप्राय, अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन करेंगे।
- प्रभुसत्ता के इतिहास एवं विशेषताओं के बारे में जानेंगे।
- प्रभुसत्ता और उसके अंतर्राष्ट्रीय संगठन का अध्ययन करेंगे।
- भारतीय संविधान में प्रभुसत्ता के महत्त्व को जानेंगे।

6.2. परिचय (Introduction)

राजनीतिशास्त्र का पूर्ण परिचय प्राप्त करने के लिए प्रभुसत्ता (Sovereignty) के स्वरूप और अर्थ को समझना अत्यंत आवश्यक है। जो विभिन्न तत्व राज्य का निर्माण करते हैं। उनमें प्रभुसत्ता (Sovereignty) का स्थान सबसे ऊँचा है। सच्चाई यह है कि प्रभुसत्ता ही वह एकमात्र कसौटी है जिसके कारण हमें राज्य एवं मनुष्य के अन्यान्य समुदायों (Associations) के बीच अंतर का ज्ञान होता है। यह कहना शायद अतिशयोक्ति नहीं होगी कि प्रभुसत्ता राज्य का प्राण-तत्व है। राज्य के अंतर्गत अन्य जितनी भी शक्तियाँ और संस्थाएँ हैं, वे सब प्रभुसत्ता के अधीन रहती हैं। प्रभुसत्ता के आज्ञा को मानना पड़ता है।

6.3. प्रभुसत्ता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Sovereignty)

नोट

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि आधुनिक राज्य के स्वरूप को समझने के लिए प्रभुसत्ता के अभिप्राय को समझना कितना जरूरी है। लेकिन इस शब्द पर विद्वानों में काफी विचार-भेद पाया जाता है। अमरीकी विद्वान **विलोबी** (Willoghby) के अनुसार–"राजनीतिशास्त्र में अन्य कोई ऐसा शब्द नहीं है जिसके ऊपर विचारकों में इतना अधिक मतवैभिन्न हो। जिस प्रकार अर्थ शब्द है, उसी प्रकार राजनीतिकशास्त्र में प्रभुसत्ता शब्द है।'' **लॉर्ड ब्राइस** (Lord Bryce) ने भी इस विषय को अत्यंत विवादास्पद माना है।

प्रभुसत्ता शब्द का अंग्रेजी रूपांतर (Sovereignty) है। Sovereignty शब्द लैटिन Superanus तथा Super शब्दों से निकला है जिसका अर्थ परम, सर्वोच्च, परमेष्ठ होता है। इस प्रकार प्रभुसत्ता का अभिप्राय राज्य की सर्वोच्च सत्ता से माना जाता है। यह सर्वोच्च सत्ता नागरिकों को आदेश दे सकती है और उनका पालन करा सकती है। राज्य में इससे ऊँची और कोई शक्ति नहीं होती। इस शक्ति के ऊपर किसी भी प्रकार का कोई वैधानिक नियंत्रण नहीं होता।

प्रभुसत्ता के दो पहलू–प्रभुसत्ता के दो पहलू होते हैं–आंतरिक (Internal) और बाह्य (External)। प्रभुसत्ता के आंतरिक पहलू का अभिप्राय यह है कि राज्य अपने प्रदेश में सबसे ऊँचा और सबसे शक्तिशाली होता है। उसके अंतर्गत निवास करने वाले सभी व्यक्तियों और समुदायों के लिए यह आवश्यक है कि वे उसके आदेशों को शिरोधार्य करें। प्रभुसत्ता के बाह्य पहलू का अभिप्राय यह है कि बाहर की किसी शक्ति का राज्य के ऊपर कोई नियंत्रण नहीं होता।

प्रभुसत्ता की कुछ मुख्य परिभाषाएँ–प्रभुसत्ता के अर्थ के संबंध में विद्वानों में काफी मतभेद पाया जाता है। हमें प्रभुसत्ता की अनगिनत परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं। ऐसी स्थिति में हमारे लिए यह उचित होगा कि हम कुछ अधिकारी विद्वानों की परिभाषाओं को समझ लें। आधुनिक काल में प्रभुसत्ता शब्द का सबसे पहले **बोदाँ** (Bodin) ने प्रयोग किया था। उसके विचार से, "यह नागरिकों तथा प्रजा की शक्ति है जो विधि या कानून, (Low) द्वारा नियंत्रित नहीं है।'' **बोदाँ** (Bodin) से प्रायः आधी शताब्दी उपरांत **ग्रोशियस** (Grotius) ने प्रभुसत्ता के सिद्धांत का विवेचन किया था। **ग्रोशियस** ने प्रभुसत्ता की परिभाषा करते हुए लिखा है कि, "जिसकी इच्छा का उल्लंघन नहीं किया जा सकता और जिसके कृत्य किसी अन्य के अधीन नहीं होते उसी सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति को प्रभुसत्ता कहते हैं।" **ब्लेक स्टोन** (Black Stone) के विचार से, ''प्रभुसत्ता वह सर्वोच्च, अप्रतिहत, निरपेक्ष और अनियंत्रित सत्ता है जिसमें राज्य की सबसे ऊँची शक्ति निवास करती है।'' **जैलिनेक** (Jellinek) के शब्दों में," प्रभुसत्ता राज्य की वह विशेषता है जिसके फलस्वरूप वह कानूनन अपनी इच्छा के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से बाधित नहीं हो सकती और न अपने अतिरिक्त अन्य किसी शक्ति से मर्यादित ही हो सकती है।'' **द्युइग्वी** (Duguit) ने लिखा है कि, "प्रभुसत्ता राज्य की आदेश देने की शक्ति है, वह राज्य के रूप में संगठित राज्य की इच्छा है, उसे राज्य के अंदर निवास करने वाले सभी व्यक्तियों को अप्रतिबंधित आज्ञा देने का अधिकार है।'' **बर्गेस** (Burgess) के मत से, "राज्य के सब व्यक्तियों और व्यक्ति-समूहों के ऊपर जो मौलिक, निरंकुश और असीम शक्ति है उसी को हम प्रभुसत्ता कह सकते हैं।" प्रभुसत्ता की इन परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह राज्य का सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व है और जब तक वह रहती है, तभी तक राज्य का अस्तित्व है। उसके समाप्त होते ही राज्य भी समाप्त हो जाता है।

6.4. प्रभुसत्ता के सिद्धांत का इतिहास (History of the Theory of Sovereignty)

यहाँ से यद्यपि प्रभुसत्ता का सिद्धांत अपने आधुनिक रूप में पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दियों की ही उत्पत्ति माना जाता है, तथापि राजदर्शन के इतिहास में इस सिद्धांत की जड़ें भी काफी पुरानी हैं। राजनीतिशास्त्र के जनक **अरस्तू** (Aristotle) की रचनाओं में इस शब्द का स्पष्ट उल्लेख तो नहीं मिलता, लेकिन यह निश्चित है कि उसे राज्य के अंदर एक सर्वोच्च सत्ता के होने का ज्ञान था। **अरस्तू** ने अपने समय के नगर राज्यों का वर्गीकरण इसी सर्वोच्च सत्ता के आधार पर किया है। प्रभुसत्ता का विचार रोमन काल में भी विद्यमान था। रोमन काल के इस विचार ने कि सम्राट की इच्छा ही सर्वोच्च है, प्रभुसत्ता के सिद्धांत के विकास में काफी सहायता पहुँचाई। प्रभुसत्ता के संबंध में मध्ययुग के लेखकों का कोई स्पस्ट विचार न था।

नोट

इसका मुख्य कारण तत्कालीन राजनीतिक अवस्था थी। **कोकर** के शब्दों में, "मध्ययुग में अधिकांश राज्य समाज की प्रधान" संस्था नहीं था वास्तव में प्राचीन यूनानी तथा रोमन कल्पना के अनुसार उस समय राज्य का कोई अस्तित्व ही नहीं था। किसी भी प्रदेश में व्यक्तियों पर संगठित नियंत्रण रोमन चर्च, पवित्र सम्राट, राजा, सामंत, आज्ञापत्र प्राप्त नगर तथा गिल्ड आदि विविध अधिकारियों में विभक्त था। ये विविध सत्ताएँ व्यक्ति पर अपने अधिकार का विस्तार करने के लिए प्रायः परस्पर प्रतियोगिता करती रहती थी । ग्यारहवीं से तेरहवीं शताब्दी तक का काल यूरोप के इतिहास में अराजकता का काल है। इस समय चर्च की शक्ति बहुत बढ़ गई थी और वह जीवन के सभी क्षेत्रों में अपने नियंत्रण का विस्तार करने लगा था। कहने का सार यह है कि साधारणतया मध्ययुग में "राज्य के लिए कोई भावना नहीं थी ; केंद्रीय सत्ता पर कोई सामान्य तथा एकरूप निर्भरता नहीं थी, कोई सर्वशक्तिमान् प्रभुता नहीं थी और न नागरिक कानून का कोई समान दबाव था।"

मध्य युग के उत्तरार्द्ध में राज्य की शक्ति बढ़ गई। उस समय के सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों ने यह आवश्यक कर दिया कि समाज में राज्य की सत्ता सबसे ऊँची रहे। इस काल में धीरे-धीरे सामंतवाद (Feudalism) का नाश होने लगा और उसके स्थान पर सशक्त राष्ट्रीय राज्यों का उत्कर्ष हुआ। राष्ट्रीय राजा अपने लिए अनेक प्रकार के राजनीतिक अधिकारों के उपभोग की माँग करते थे। इन दावों को सार्थक तभी किया जा सकता था जब कि राजाओं के ऊपर पोप या चर्च का कोई नियंत्रण नहीं रहता और साथ ही सामंत, स्वशासित नगर और औद्योगिक संगठन पूर्ण रूप से राज्य के नियंत्रण में आ जाते। चौदहवीं शताब्दी में फ्रांस में लुई एकादश के शासनकाल में यह धारणा काफी स्पष्ट हो गई थी।

वैसे तो वैधानिक परिकल्पना (Legal Fiction) के रूप में **आस्टिन** की प्रभुसत्ता संबंधी मान्यता आज भी सही है, लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से उसका कहीं भी अस्तित्व नहीं है। निरंकुश प्रभुसत्ता के इस परम्परागत सिद्धांत पर अंतर्राष्ट्रवादियों (Internationlists) और बहुवादियों (Pluralist) ने प्रबल आक्रमण किया है। अंतर्राष्ट्रवादियों का कहना है कि जब तक राष्ट्रीय प्रभुसत्ता (National Sovereignty) के सिद्धांत को नहीं त्यागा जाता, तब तक न ही तो एक शक्तिशाली विश्वतंत्र (World Order) की ही स्थापना हो सकती है और न संसार में शांति ही छा सकती है। बहुवादियों (Pluralist) का कहना है कि समाज में प्रभुसत्ता के उपभोग का अधिकार केवल राज्य के पास ही नहीं रहना चाहिए। बहुवादियों (Pluralist) के विचार से समाज में मनुष्यों के विशिष्ट हितों की परिपूर्ति के लिए जो अनेक समुदाय (Association) होते हैं, राज्य की प्रभुसत्ता का कुछ-न-कुछ अंश उन्हें भी उपलब्ध होना चाहिए।

6.5. प्रभुसत्ता की विशेषताएँ (Characteristics of Sovereignty)

प्रभुसत्ता के परम्परागत सिद्धांत का समर्थन करने वाले विद्वानों ने उसकी अधोलिखित 6 विशेषताएँ बतलाई हैं–(1) निरपेक्षता (Absoluteness), (2) स्थायित्व (Permanence), (3) सर्वव्यापकता अथवा सार्वभौमिकता (Comprehensiveness of University), (4) वर्जनशीलता (Exclusiveness), (5) अविच्छेद्यता (Inalienability) और (6) एकता अथवा अविभाजनीयता (Unity of Indivisibility)। नीचे हम प्रभुसत्ता की इन समस्त विशेषताओं पर एक-एक करके जरा विस्तार से विचार करेंगे।

(1) निरपेक्षता (Absoluteness)–राज्य की प्रभुसत्ता असीम और निरपेक्ष होती है। कानूनी दृष्टि से उसके ऊपर कोई भी प्रतिबंध नहीं होता। ऊपर प्रभुसत्ता के अर्थ का विवेचन करते हुए हमने उसकी जो परिभाषाएँ (Definitions) दी हैं, उनसे यह बात बिलकुल स्पष्ट हो जाती है। यह कहना कि प्रभुसत्ता पर किसी भीतरी या बाहरी शक्ति का नियंत्रण है, स्वयं प्रभुसत्ता का ही निषेध करना है।

क्या प्रभुसत्ता बिलकुल ही असीम और निरपेक्ष है या उसके ऊपर कुछ मर्यादाएँ हैं, यह प्रश्न काफी समय से विवाद का विषय रहा है। प्रभुसत्ता के परंपरागत सिद्धांत के समर्थकों का कहना है कि उसके ऊपर किसी भी प्रकार की मर्यादाओं का आरोप नहीं किया जा सकता। इसके विपरीत कुछ लेखक ऐसे भी हुए है जिन्होंने राज्य की प्रभुसत्ता की मर्यादाएँ स्वीकार की हैं। उदाहरण के लिए **ब्लंटश्ली** (Bluntaschli) का कहना है कि, "राज्य की प्रभुसत्ता बाह्य क्षेत्र में दूसरे राज्यों के अधिकारों द्वारा और आंतरिक क्षेत्र में अपनी प्रकृति तथा नागरिकों के अधिकारों द्वारा नियंत्रित होती है।" इसका स्पष्ट आशय यह है चाहे वैधानिक रीति से प्रभुसत्ता को अमर्यादित मान लिया जाए, लेकिन व्यवहार में उसके ऊपर कुछ प्रतिबंध अवश्य रहते हैं। **डायसी** (Dicey) ने राज्य की प्रभुसत्ता का प्रयोग मनमाने ढंग से किया जाए, तो जनता प्रभुसत्ता (Sovereignty) के

छात्र क्रियाकलाप

1. निरपेक्षता से क्या अभिप्राय है?

2. प्रभुसत्ता के दो पहलू कौन-कौन से हैं?

विरुद्ध विद्रोह कर सकती है, और राज्य की प्रभुसत्ता का प्रयोग केवल नैतिक मान्यताओं (Ethical Considerations) की सर्वथा उपेक्षा के लिए नहीं कर सकती। उनके हृदय में लोकाचार के प्रति आदर भावना होती है और जहाँ तक उनसे हो सकता है, उसके पालन का प्रयास करते हैं।

नोट

(2) स्थायित्व (Permanence)—प्रभुसत्ता राज्य के समान ही स्थायी है। राज्य और उसकी प्रभुसत्ता में शरीर और आत्मा का संबंध है। जब तक राज्य जीवित रहता है, उसकी प्रभुसत्ता भी जीवित रहती है। जहाँ राज्य की मृत्यु हुई, वहीं उसकी प्रभुसत्ता का विनाश हो जाता है। तथापि, किसी शासक के पदच्युत या पदत्याग का यह अर्थ नहीं होता कि प्रभुसत्ता समाप्त हो गई। ऐसी स्थिति में प्रभुसत्ता तुरंत ही दूसरे पदाधिकारी के हाथों में आ जाती है। "यह केवल शासन में एक व्यक्तिगत परिवर्तन होता है। इससे राज्य के अजस्त्र प्रवाह में कोई बाधा नहीं आती।"

(3) सर्वव्यापकता अथवा सार्वभौमिकता (All Comprehensiveness or University)—राज्य की प्रभुसत्ता अपने देश में सर्वव्यापी होती है। राज्य के क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) के अंतर्गत जो भी पदार्थ, मनुष्य और समुदाय निवास करते हैं, राज्य की प्रभुसत्ता का उन सब पर अधिकार एवं नियंत्रण रहता है। यह दूसरी बात है कि विदेशी दूतावासों, किसी राज्य के भीतर से गुजरती हुई विदेशी सेनाओं और व्यापारिक प्रतिनिधियों आदि को अंतर्राष्ट्रीय शिष्टाचार के नाते, प्रभुसत्ता के नियंत्रण से मुक्त माना जाता है। **गिलक्राइस्ट** के अनुसार, उस देश की सम्मति है जिस देश का प्रतिनिधित्व वह राजदूतावास करता है। राजदूतावास के सदस्य अपने देश के विधान के ही अधीन होते हैं। पर वास्तव में यह अंतर्राष्ट्रीय शिष्टता की बात है और इसे प्रभुसत्ता से वास्तविक मुक्ति नहीं कह सकते। कोई भी राज्य अपनी प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए इस प्रकार दिए गए विशेषाधिकारों और असुविधाओं को अस्वीकार कर सकता है।

(4) वर्जनशीलता (Exclusiveness)—प्रभुसत्ता की असीमितता का ही एक रूप उसका अनन्यत्व, केवलत्व अथवा वर्जनशीलता है। इसका अर्थ यह है कि एक राज्य में केवल एक ही प्रभुसत्ता रह सकती है। प्रभु यदि चाहे तो अपनी शक्तियों का प्रतिनिधित्व दूसरे घटकों को सौंप सकता है, परंतु वे घटक ही बने रहते हैं और प्रभु के समकक्ष नहीं हो सकते।

(5) अविच्छेद्यता (Inalienaliblity)—प्रभुसत्ता की अविच्छेद्यता का अर्थ यह है कि कोई भी राज्य अपनी तात्विक विशेषताओं में से किसी एक को भी अपना नाश किए बिना अपने से पृथक् नहीं कर सकता। एक अमरीकी लेखक **लीबर** (Lieber) का कहना है, "जैसे एक वृक्ष अपने उगने और पनपने के अधिकार को नहीं छोड़ सकता अथवा एक व्यक्ति अपना विनाश किए बिना अपने जीवन और व्यक्तित्व को अपने से विलग नहीं कर सकता, ठीक इसी प्रकार राज्य से प्रभुसत्ता को अलग नहीं किया जा सकता।" **रूसो** (Rousseau) का भी यही विचार था। उसने कहा है कि, "शक्ति (Power) को हस्तांतरित किया जा सकता है, लेकिन इच्छा (Will) को नहीं। प्रभुसत्ता के अविच्छेद्य (Inalienable) होने का कारण यह है कि प्रभुसत्ता राज्य का प्राणतत्व है और यदि हम उसको पृथक् कर देते हैं तो इसका अर्थ राज्य का विनाश होगा।" कुछ लेखकों ने इसके विपरीत भी मत व्यक्त किया है। उदाहरण के लिए प्रो. **रीट्शे** (Ritchikie) का कहना है कि प्रभुसत्ता की अविच्छेद्यता का सिद्धांत इतिहास के तथ्यों से मिथ्या प्रमाणित होता है। हम यहाँ यह निवेदन कर दें कि प्रभुसत्ता की अविच्छेद्यता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि जब राज्य अपने किसी भूखंड को अपने से अलग कर देता है, तो उस अलग किए हुए भूखंड पर भी उसकी प्रभुसत्ता बनी रहती है।

(6) एकता अथवा अविभाजनीयता (Unity or Indivisibility)—प्रभुसत्ता की एक अन्य प्रमुख विशेषता जिस पर जरा विस्तार से विचार करने की आवश्यकता है, उसकी एकता अथवा अविभाजनीयता (Unity or Indivisibility) है। चूँकि प्रभुसत्ता राज्य में सबसे ऊँची शक्ति है, अतः यह स्पष्ट है कि ऐसी शक्ति केवल एक ही हो सकती है। अन्य शक्तियाँ निश्चय ही उसकी अधीनता में रहेंगी। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर **जेलिनेक** (Jellinek) ने कहा है कि, "विभक्त खंडित, सीमित, मर्यादित और अपेक्षित प्रभुसत्ता का विचार विरोधोक्ति है।" यदि बहुवादियों (Pluralist) के इस सिद्धांत को कि प्रभुसत्ता एक ओर तो राज्य में तथा दूसरी ओर बहुत से समुदायों और समूहों में विभाजित रहती है, व्यावहारिक रूप दिया जाए, तो इसका परिणाम यह होगा कि राज्य में अराजकता छा जाएगी। इसीलिए **हॉब्स** (Hobbes) ने लिखा है कि एक विभाजित राज्य जीवित नहीं रह सकता है। इस विचार को अमरीकी विद्वान **कैलहाउन** ने बड़ी शक्तिशाली भाषा में व्यक्त किया है। उसने लिखा है, "प्रभुसत्ता एक है। इसको विभाजित करना इसको नष्ट करना है। जिस प्रकार अर्थ

त्रिकोण अथवा अर्थ वर्ग की कल्पना नहीं की जा सकती है, उसी प्रकार अर्द्ध-प्रभुसत्ता भी अकल्पनीय है।" **ब्लंटशली, विलोबी, गार्नर, गिलक्राइस्ट, गैटेल** और **ट्रीट्शे** आदि राज्य-वैज्ञानिकों का भी यही मत है कि राज्य की प्रभुसत्ता अविभाज्य है।

नोट

6.6. प्रभुसत्ता के विभिन्न रूप (Various Aspects of Sovereignty)

प्रभुसत्ता के रूप–राजनीतिशास्त्र में प्रभुसत्ता शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में होने लगा है। हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम उनके अंतर को समझ लें। सामान्यतया आलोचकों ने प्रभुसत्ता के निम्न रूपों की चर्चा की है–(1) नाममात्र की प्रभुसत्ता और वास्तविक प्रभुसत्ता (Titular and Actural Sovereignty), (2) न्यायिक और यथार्थ प्रभुसत्ता (De Jure and De Facto Sovereignty) और (3) कानूनी और राजनीतिक प्रभुसत्ता (Legal and Political Sovereignty)।

नाममात्र की प्रभुसत्ता और वास्तविक प्रभुसत्ता–नाममात्र की प्रभुसत्ता (Titular Sovereignty) का अर्थ ऐसे राजा या राजतंत्रीय शासक के संदर्भ में किया जाता है जो भूतकाल में कभी प्रभुसत्ता के अधिकारों का अवश्य प्रयोग करता हो लेकिन जो अब बिलकुल शक्तिहीन हो गया है। नाममात्र की प्रभुसत्ता (Titular Sovereignty) का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण इंग्लैंड का सम्राट है। शासन का संपूर्ण कार्य उसके नाम से चलता है। राज्य के समस्त आदेश उसके नाम से ही निकाले जाते हैं। यदि कोई व्यक्ति या समुदाय राज्य का अपकार करे, तो वादी का स्थान सम्राट ही लेता है। लेकिन यह सब केवल सिद्धांत की बात है। वास्तविकता यह है कि राजा के पास कोई शक्ति नहीं होती, वह मंत्रिमंडल के हाथों का केवल एक खिलौनामात्र है। इंग्लैंड के सम्राट् की शक्तिहीनता के विषय में तो यहाँ तक कहा जाता है कि यदि संसद उससे अपने प्राणदंड के पत्र पर हस्ताक्षर करने के लिए कहे, तब भी वह मुँह नहीं मोड़ सकता। राजा को जो इस प्रकार प्रभु (Sovereignty) कहा जाता है, उसका कारण यह है कि मध्यकाल में ब्रिटेन का राजा वास्तव में प्रभु था। उस समय देश में राजा की इच्छा ही कानून हुआ करती थी। यद्यपि, अब वह दशा नहीं रही है, फिर भी पुराने रिवाज के कारण राजा को 'प्रभु' नाम से ही संबोधित किया जाता है। वास्तविक प्रभुसत्ता (Actual Sovereignty) का प्रयोग उस संस्था के संबंध में किया जाता है जो शासन की शक्तियों का स्वतः प्रयोग करती है। इंग्लैंड में संसद (Parliament) ही वास्तविक प्रभु है।

न्यायिक और यथार्थ प्रभुसत्ता–प्रभुसत्ता का एक अन्य रूप न्यायिक और यथार्थ (De Jure and Do Facto) प्रभुसत्ता है। न्यायिक प्रभुसत्ता (De Jure Sovereignty) विधि सम्मत प्रभुसत्ता है। इसका आधार केवल भौतिक शक्ति (Physical Power) में नहीं होता। जिस व्यक्ति या व्यक्ति-समूह के पास न्यायिक प्रभुसत्ता होती है, वह इस बात को प्रकट कर सकती है कि उसे शासन करने का वैधानिक अधिकार प्राप्त है। विधि की दृष्टि में यही प्रभुसत्ता मान्य होती है और विधि इसी प्रभुसत्ता को आदेश देने एवं आदेश पालन कराने का अधिकार प्रदान करती है। यदि न्यायिक प्रभु को अपनी स्थिति से च्युत कर दिया गया है तब भी उसके पास आदेश देने एवं आदेशों के पालन कराने की वैधानिक शक्ति रहती है। सामाजिक शांति और व्यवस्था की दृष्टि से यह उचित ही है कि प्रत्येक शासक के पास शासन करने का वैधानिक अधिकार होना चाहिए।

कानून और राजनीतिक प्रभुसत्ता–कानूनी प्रभुसत्ता (Legal Sovereignty) के संबंध में एक वकील अथवा न्यायज्ञ की मान्यता है कि यह सदैव निश्चित होती है। एकतंत्र शासन में कानूनी प्रभु एक शासक होता है, प्रजातंत्र (Democracy) में वह एक परिषद् हो सकती है, परंतु परिषद् में भी सदस्य निश्चित संख्या में होते है। राज्य में कानून निर्माण करने वाली जो सर्वोच्च संस्था होती है, जिसके आदेशों पर राज्य में सर्वत्र आचरण होता है, कानूनी दृष्टि से जिसके ऊपर कोई अंकुश नहीं होता, वही कानूनी प्रभु है। यदि कानूनी प्रभु द्वारा निर्मित कानून उचित नहीं होता, अनैतिक होता है, तो भी न्यायालय उसे लागू करने के लिए विवश है। इंग्लैंड में 'सम्राट् सहित संसद' (King in Parliament) ही कानूनी प्रभु है। संसद की शक्तियों पर कोई भी कानूनी प्रतिबंध नहीं है। संसद (Parliament) की सर्वशक्तिमत्ता के बारे में तो यहाँ तक कहा जाता है कि वह सिवाय इसके कि एक स्त्री को पुरुष नहीं बना सकती और एक पुरुष को स्त्री नहीं बना सकती अन्य सब कार्य कर सकती है।

नोट

6.7. प्रभुसत्ता और अंतर्राष्ट्रीय संगठन (Sovereignty and International Order)

राज्यों की प्रभुसत्ता–अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना के मार्ग में बाधा–आज संसार के सामने सबसे बड़ी समस्या युद्ध और शांति की है। यदि मनुष्य युद्ध को समाप्त नहीं करता तो युद्ध मनुष्य को समाप्त कर देगा। आधुनिक युग के चोटी के विचारकों के अनुसार इस अंतर्राष्ट्रीय अराजकता को समाप्त करने का एक ही रास्ता है। वह है–एक प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय संगठन (International Order) की स्थापना। लेकिन इस आदर्श की प्राप्ति में कई बाधाएँ हैं। सबसे बड़ी बाधा है राज्यों की प्रभुसत्ता।

अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों की प्रभुसत्ता का अभिप्राय–अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राज्यों की प्रभुसत्ता के निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं–(1) राज्य का उद्देश्य क्या हो, यह निश्चित करना उसी का काम है, (2) इस उद्देश्य को प्राप्त करने के साधन क्या हों, यह भी निश्चित करना राज्य का ही कार्य है, (3) यदि कभी दो या दो से अधिक राज्यों में किसी विषय पर विवाद खड़ा हो जाए, तो इसका अंतिम निर्णायक युद्ध है, (4) अंतर्राष्ट्रीय संधियाँ और समझौते केवल उसी समय तक बंधनकारी होते हैं जब तक कि संबद्ध राज्य उन्हें अपने हितों के प्रतिकूल नहीं पाते और उन्हें शिरोधार्य करने के लिए तैयार रहते हैं और (5) अपनी नीतियों के अंतिम निर्धारण में कोई भी राज्य दूसरे राज्यों के आदेशों को स्वीकार नहीं कर सकता।

यह सही है कि व्यवहार में राज्यों की प्रभुसत्ता के ऊपर कुछ मर्यादाएँ लग सकती हैं, लेकिन फिर भी सच्चाई यह है कि ये मर्यादाएँ केवल उसी समय तक लागू होती हैं जब तक कि संबद्ध राज्य उन्हें स्वीकार करने के लिए तैयार रहता है। आज की अंतर्राष्ट्रीय राजनीति (International Politics) का मुख्य तत्व यह है कि राज्यों के ऊपर ऐसी कोई बंधनकारी सत्ता नहीं है जो विभिन्न राज्यों के अंतर्विरोधों का शमन कर सके और संपूर्ण मानवता के हितों को ध्यान में रखते हुए प्रत्येक राज्य की कार्यवाही पर कुछ अंकुश लगा सके। राज्यों की प्रभुसत्ता के सिद्धांत को प्रत्यार्पित करने में राष्ट्रीयता के सिद्धांत (The Principle of Nationality) का भी महत्त्वपूर्ण योग रहा है। सच्चाई यह है कि राज्यों की प्रभुसत्ता का सिद्धांत स्वयं राष्ट्रीय भावना (National Spirit) की ही अभिव्यक्ति है। राज्यों की प्रभुसत्ता के सिद्धांत का विकास केवल उसी युग में हुआ है जिसमें राष्ट्रीय राज्यों ने यूरोप के राजनीतिक जीवन पर अपना प्रभुत्व जमाए रखा था। लेकिन अब ज्यों-ज्यों यह समझा जाने लगा है कि राष्ट्रीय राज्य विश्व-शांति के मार्ग में बाधक हैं, राज्यों की प्रभुसत्ता के सिद्धांत को भी चुनौती मिलने लगी है।

6.8. भारतीय संविधान में प्रभुसत्ता की अवधारणा (Concept of Sovereignty in Indian Constitution)

भारतीय संविधान में प्रभुसत्ता (Sovereignty) के संबंध में अलग से कोई विशेष उपबंध नहीं है। समूचे संविधान में उद्देशिका ही वह स्थल है जहाँ प्रभुसत्ता की विद्यमानता तथा संविधान के स्रोत का निश्चय हो सकता है। उद्देशिका में कहा गया है कि, "हम भारत के लोग संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित" करते हैं। इसका अर्थ यह है कि भारत में प्रभुसत्ता भारत की जनता में निहित है। संविधान में भारत को एक अखंड इकाई माना गया है। उद्देशिका में भारत के राज्यों अथवा संघ का उल्लेख नहीं है। इसका अर्थ यह है कि भारत में प्रभुसत्ता संघ अथवा राज्यों के बीच बँटी हुई नहीं है। वह संविधान को रद्द नहीं कर सकता। संविधान के अनुच्छेद 2, 3 और 4 के अधीन संघीय संसद साधारण विधान के द्वारा नए राज्यों को संघ में शामिल कर सकती है या उनकी स्थापना कर सकती है। वह वर्तमान राज्यों के नाम, क्षेत्र और उनकी सीमाओं को बदल सकती है। भारत के सभी लोगों की एक ही नागरिकता है। अमरीका में संघ की नागरिकता अलग है और राज्यों की अलग। भारतीय सांविधानिक व्यवस्था में यह स्पष्ट है कि प्रभुसत्ता स्वयं लोगों में निहित है। संघ तथा राज्य अपनी-अपनी शक्ति भारत के लोगों से प्राप्त करते हैं।

6.9. प्रभुसत्ता और बहुवाद (Sovereignty and Pluralism)

बहुवाद की विशेषताएँ–बहुवादी सिद्धांत (Pluralistic Theory) का बुनियादी विचार यह है कि मनुष्य के जीवन में राज्य ही सब कुछ नहीं है। बहुवाद की मान्यता है कि मनुष्य के पूर्ण आत्म-विकास के लिए यह

छात्र क्रियाकलाप

1. वर्जनशीलता क्या है?

2. ग्रोशियम ने प्रभुसत्ता की क्या परिभाषा दी है?

नोट

आवश्यक है कि समाज में छोटे-छोटे अनेक समुदाय रहने चाहिए। बहुवाद के समर्थक विभिन्न समुदायों के हितों की रक्षा करने के उद्देश्य से राज्य की प्रभुसत्ता को मर्यादित रखना चाहते हैं। उनका कहना है कि विभिन्न सामाजिक और व्यवासायिक समुदायों को भी प्रभुसत्ता का कुछ अंश मिल जाना चाहिए। राज्य को यह अधिकार नहीं है कि वह नागरिकों के ऊपर असीमित अधिकारों का उपयोग करे। तथापि, बहुवादी (Pluralists) अराजकतावादियों की भाँति राज्य के समूल उन्मूलन के पक्षपाती नहीं है। उनका तर्क केवल यही है कि राज्य की प्रभुसत्ता मर्यादित रहनी चाहिए और राज्य की स्थिति अन्य समुदायों के समकक्ष की रहनी चाहिए। **लास्की** (Laski) के विचार से राज्य की प्रभुसत्ता को असीम मानना नैतिकता के विरुद्ध है। उसके मतानुसार मनुष्य को अपनी अंतरात्मा के अनुकूल कार्य करने का और अपने समुदायों के प्रति निष्ठा रखने का पूर्ण अधिकार है। यदि किसी मनुष्य की अंतरात्मा कहे कि राज्य की व्यवस्था न्याय व सदाचार के विरुद्ध है, तो उसे उस राज्य के प्रति विद्रोह करने का अधिकार है। बहुवादी, **आस्टिन** के इस सिद्धांत का भी कि प्रभु का आदेश ही कानून है, खंडन करते हैं। बहुवादी लेखकों के अनुसार कानून का स्थान राज्य से ऊपर है। लोग कानून का पालन इसलिए नहीं करते क्योंकि उसके पीछे राज्य की भौतिक शक्ति रहती है बल्कि इसलिए करते है क्योंकि वे उसे सामाजिक जीवन के लिए हितकारी समझते हैं और इसमें उनकी अपनी स्वीकृति होती है। इस संबंध में **मैकाइवर** (Mac Iver) का यह कहना सही है कि, "कानून की वृहद् पुस्तक में राज्य केवल नूतन वाक्य को जोड़ देता है और पुराने वाक्यों को इधर से उधर अलग कर देता है। पुस्तक का अधिकांश भाग राज्य के द्वारा कभी लिखा ही नहीं जाता। प्रसिद्ध बहुवादी विचारक **लास्की** (Laski) ने इस बात को सिद्ध करने के लिए कि राज्य कहीं भी अनियंत्रित सत्ता का उपयोग नहीं करता, कुछ प्रमाण भी उपस्थित किए हैं। समुदायों के सुदृढ़ विरोध के सामने राज्य को अपनी प्रस्तावित योजनाएँ एवं कानून वापस लेने के लिए विवश होना पड़ता है। 1914–18 के महायुद्ध में ब्रिटिश सरकार वेल्स की खानों में काम करने वाले मजदूरों के विरुद्ध म्यूशन एक्ट को लागू करने में असफल रही थी। अमरीका में रेलवे यूनियन ने आम हड़ताल की धमकी देकर कांग्रेस को आठ घण्टे का दिन स्वीकार करने को बाध्य कर दिया था। अमरीका में मद्य-निषेध (Prohibion) की सफलता और भारत में बंग-विच्छेद का रद्द हो जाना इस बात के श्रेष्ठ उदाहरण हैं कि प्रबल और संगठित लोकमत (Public Opinion) के सम्मुख राज्य को भी झुकना पड़ता है।

6.10. सारांश (Summary)

प्रभुसत्ता वह सर्वोच्च, निरपेक्ष और अनियंत्रित सत्ता है जिसमें राज्य की सबसे ऊँची शक्ति निवास करती है। राज्य की प्रभुसत्ता असीम और निरपेक्ष होती है। कानूनी दृष्टि से उसके ऊपर कोई प्रतिबंध नहीं होता। यह बाह्य क्षेत्र में दूसरे राज्यों के अधिकारों द्वारा और आंतरिक क्षेत्र में अपनी प्रकृति तथा नागरिकों के अधिकारों द्वारा नियंत्रित होती है। भारतीय संविधान में प्रभुसत्ता के संबंध में अलग से कोई विशेष उपबंध नहीं है। भारत में प्रभुसत्ता भारत की जनता में निहित है। लास्की के अनुसार, प्रभुसत्ता को असीम मानना नैतिकता के विरुद्ध है। परंतु व्यवहार में राज्यों की प्रभुसत्ता के ऊपर कुछ मर्यादाएँ लग सकती हैं। अनेक राज्य–वैज्ञानिकों का यही मत है कि राज्य की प्रभुसत्ता अविभाज्य है। इसको विभाजित करना, इसको नष्ट करना है।

6.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. प्रभुसत्ता से क्या अभिप्राय है? अर्थ सहित समझाइए।
2. प्रभुसत्ता की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
3. प्रभुसत्ता के विभिन्न रूप कौन-से हैं? उल्लेख कीजिए।
4. प्रभुसत्ता और अंतर्राष्ट्रीय संगठन को स्पष्ट कीजिए।
5. भारतीय संविधान में प्रभुसत्ता की अवधारणा का वर्णन कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-7

अधिकार
(Right)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

7.1. उद्देश्य (Objectives)
7.2. परिचय (Introduction)
7.3. अधिकारों की विशेषताएँ (Meaning and Definition of Rights)
7.4. अधिकार और राज्य (Rights and State)
7.5. अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Right)
7.6. नागरिकों के कुछ विशिष्ट अधिकार (Some Particular Right of Citizens)
7.7. अधिकारों और कर्त्तव्यों का संबंध (Relation between Right and Duties)
7.8. नागरिक के कर्त्तव्य (Duties of a Citizen)
7.9. भारतीय संविधान में मूल अधिकारों और कर्त्तव्यों की अवधारणाएँ (The Concepts of Fundamental Rights and Duties in Indian Constitution)
7.10. सारांश (Summary)
7.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

7.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आप अधिकार के स्वरूप, विशेषताएँ और वर्गीकरण के अलावा कर्तव्यों के विषय का भी अध्ययन करेंगे।

- अधिकारों के स्वरूप और विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।
- अधिकार और राज्य के बारे में जानेंगे।
- अधिकारों और कर्तव्यों के संबंध के विषय में जानेंगे।
- नागरिक के कर्तव्यों का अध्ययन करेंगे।

7.2. परिचय (Introduction)

अधिकारों का सिद्धांत राजनीतिक दर्शन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। किसी राज्य का क्या स्वरूप है, इसका अंदाज हमें उन अधिकारों द्वारा ही होता है जो राज्य किसी विशेष काल में अपने नागरिकों को प्रदान करता है। राज्य का अस्तित्व केवल इसीलिए नहीं होता कि वह अपने नागरिकों से आज्ञा पालन कराता रहे, उनसे निष्ठा की माँग करता रहे। राज्य का अस्तित्व इसलिए होता है कि वह अपने नागरिकों के आत्म विकास के लिए प्रयत्न करे, ऐसी परिस्थितियाँ पैदा करे जो नागरिक की अंतर्निहित क्षमताओं के

उत्थान में सहयोग दे। संक्षेप में, इस प्रकार की परिस्थितियों को ही हम अधिकार कहते हैं। **लास्की** के शब्दों में, "अधिकार सामाजिक जीवन की वे परिस्थितियाँ हैं जिनके बिना आमतौर से कोई भी व्यक्ति अपना सर्वोत्कृष्ट स्वरूप पाने की आशा नहीं कर सकता।"

नोट

7.3. अधिकारों की विशेषताएँ (Meaning and Definition of Rights)

अधिकारों की कुछ विशेषताएँ होती हैं। प्रथमतः अधिकार एक मनुष्य का या मनुष्य-समूह के सम्पूर्ण समाज के प्रति या कहिए राज्य के प्रति दावा होता है। **वाइल्ड** (wilde) के विचार से यह एक युक्तिसंगत दावा होता है। यह स्वाभाविक ही है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपने कुछ कार्यों को करने की स्वतंत्रता प्राप्त होनी चाहिए। उसकी कुछ विशिष्ट आवश्यकताएँ होती हैं, जिनको कुछ विशिष्ट परिस्थितियों में ही पूरा किया जा सकता है। अपनी आकांक्षाओं को पूरा करने के लिए व्यक्ति जिस प्रकार की परिस्थितियों का दावा करता है, व्यक्ति के ये दावे ही अधिकार की नींव हैं। **लास्की** ने इस संबंध में यह ठीक ही लिखा है, ''स्पष्ट है कि राज्य पर नागरिक के कुछ दावे होते हैं। उसके अधिकारों का राज्य को सम्मान करना चाहिए। राज्य को उसके लिए वे परिस्थितियाँ पैदा करनी चाहिए जिनके बिना वह सर्वोत्कृष्ट स्वरूप प्राप्त नहीं कर सकता–इससे यह गारंटी नहीं हो जाती कि वैसी परिस्थितियाँ मिलने पर वह उस स्वरूप की संप्राप्ति कर ही लेगा। इसका मतलब सिर्फ यह है कि जहाँ तक राज्य के हाथ में है, उसने उसके मार्ग की बाधाएँ दूर कर दी हैं।'' इतिहास साक्षी है कि जिन दावों केा मान्यता मिलनी ही चाहिए, उनका जब परितोष नहीं होता, तब विनाश का चक्र चलता हैं।''[2]

लेकिन, अधिकार केवल एक दावा मात्र ही नहीं है। जब कोई दावा अधिकार का रूप धारण करता है, तब यह आवश्यक है कि वह संपूर्ण समाज द्वारा स्वीकृत हो। यह स्पष्ट है कि कोई भी व्यक्ति शून्य में अपने अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता। अधिकारों का उपभोग तो केवल समाज में ही संभव है। यदि समाज व्यक्ति के दावे को स्वीकार नहीं करता, तो व्यक्ति को इस दावे की पूर्ति के लिए शक्ति की शरण लेनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति में जो व्यक्ति शक्तिशाली होगा, वह तो अपने दावों को अधिकार का रूप दे सकेगा, लेकिन जो व्यक्ति दुर्बल होगा, वह यों ही रह जाएगा। लेकिन यदि कोई दावा समाज द्वारा स्वीकृत हो जाता है, तो उसे संपूर्ण समाज की अनुशस्ति प्राप्त हो जाती है। राज्य के कानून इस बात की व्यवस्था करते हैं कि समाज के सभी सदस्य बिना किसी भेदभाव के इन दावों से लाभ उठा सकें।

अधिकारों के लिए यह भी आवश्यक है कि वह बुद्धि और नैतिकता पर आधारित हों। जो आदर्शों से संबद्ध नहीं होते, उनका कोई मूल्य नहीं है। उदाहरण के लिए, कोई भी व्यक्ति अपनी या दूसरे की हत्या करने का दावा नहीं कर सकता। इस प्रकार का दावा अनैतिक तो है ही, वह तर्क की दृष्टि से भी उचित नहीं है। यह दावा व्यक्ति और समाज–दोनों के लिए बुरा है। भाषण की स्वतंत्रता मिलनी चाहिए, तो उसका यह दावा, नैतिकता और तर्क के अनुकूल होगा। अतः केवल वही दावे अधिकार बन सकते हैं। जो श्रेष्ठ जीवन के लिए आवश्यक हों। **अरस्तु** (Aristotle) का यह कहना सही है कि, ''जीवन केवल जीना भर ही नहीं है, प्रत्युत् अच्छी तरह से जीवन-बसर करना है।'' अधिकारों की सार्थकता इसी बात में है कि वे हमारे इस अच्छे जीवन-बसर का वातावरण पैदा करते हैं।

7.4. अधिकार और राज्य (Rights and State)

राज्य और अधिकारों का संबंध–अधिकारों और राज्य में क्या संबंध है इस प्रश्न के हमें दो उत्तर मिलते हैं। एक उत्तर 'प्राकृतिक अधिकारों' (Natural rights) के सिद्धांत के समर्थकों का है। इस सिद्धांत के अनुसार अधिकार राज्य के पूर्ववर्ती होते हैं। प्रकृति उन्हें मनुष्यों को प्रदान करती है। दूसरे शब्दों में वे जन्मजात होते हैं। अधिकारों और राज्य के संबंध के बारे में दूसरा उत्तर अधिकारों के कानूनी सिद्धांत के समर्थकों का है। इस सिद्धांत के अनुसार अधिकारों की सृष्टि राज्य द्वारा होती हैं। नागरिक केवल उन्हीं अधिकारों का उपभोग कर सकता है जो उसे राज्य द्वारा प्राप्त होते हैं। राज्य के कानून नागरिक को जिस कार्य के करने की अनुमति नहीं देते, वह कार्य अधिकार का रूप नहीं धारण कर सकता।

नोट

यद्यपि प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत में एक महत्त्वपूर्ण सत्य निहित है, लेकिन उसे सर्वांश में स्वीकार नहीं किया जा सकता। यह सही है कि राज्य समस्त अधिकारों की सृष्टि नहीं करता। लेकिन यह भी नहीं माना जा सकता कि अधिकारों का अस्तित्व राज्य-संस्था से पृथक होता है या वे राज्य के नियंत्रण से सर्वथा स्वतंत्र होते हैं। यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि अधिकारों का उपभोग केवल एक सभ्य समाज में ही किया जा सकता है समाज से पृथक् अधिकार नाम की किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं हो सकता। आदिम समाज में मनुष्य शक्तियों का उपभोग करते थे, अधिकारों का नहीं। शक्तियों का मूल शारीरिक बल है जब कि अधिकार संपूर्ण समाज की सामान्य सहमति और सामान्य प्रेरणा पर आधारित होते हैं। इसी प्रकार जंगल के पशु शक्तियों का उपभोग करते हैं, अधिकारों का नहीं। सभ्य समाज में विभिन्न व्यक्तियों की शारीरिक और मानसिक क्षमताओं में आकाश-पाताल का अंतर होता है, लेकिन इस अंतर के होते हुए भी वे सर्वसामान्य अधिकारों का समान रीति से प्रयोग करते हैं उदाहरण के लिए हम जीवन-रक्षा के अधिकार को ले सकते हैं। इस अधिकार का प्रयोग लोग इसीलिए तो कर सकते हैं क्योंकि उनकी पीठ पर राज्य की शक्ति होती है। यदि उनकी पीठ पर राज्य की सत्ता न हो तो इस बात की शंका हो सकती है कि कुछ लोग इस अधिकार का उल्लंघन करें।

सभ्य समाज में यदि कोई व्यक्ति इस अधिकार का उल्लंघन करता है, तो राज्य उसे दंड देता है। इस प्रकार हम यह नहीं कह सकते कि राज्य ही सब अधिकारों का स्रष्टा है। परंतु, हम यह अवश्य कह सकते हैं कि राज्य अधिकारों की रक्षा करता है। इसी बात को **वाइल्ड** (wilde) ने कहा है, ''कानून अधिकारों की सृष्टि नहीं करते परंतु उन्हें स्वीकार करते और उनकी रक्षा करते हैं।'' कहने का सार यह है कि अधिकारों का पालन केवल राज्य में कानूनों के अंतर्गत ही संभव है।

7.5. अधिकारों का वर्गीकरण (Classification of Right)

अधिकारों की विस्तारशीलता–किसी आदर्श राज्य या समाज से नागरिकों को क्या-क्या मिलने चाहिए, इसकी एक सर्वसम्मत सूची तैयार करना मुश्किल है। सभ्यता की उन्नति के साथ-ही-साथ यह विचार भी बल पकड़ता गया है कि नागरिकों को अधिक-से-अधिक अधिकार मिलने चाहिए। सत्रहवीं और अठाहरवीं शताब्दियों में मनुष्य जिन अधिकारों का उपभोग करते थे, वे उन अधिकारों से बिल्कुल भिन्न थे जो उन्हें आदिम युग में प्राप्त थे। इसी तरह मनुष्य आज जिन अधिकारों का उपभोग करते हैं, वे सत्रहवीं और अठाहरवीं शताब्दी के अधिकारों के काफी भिन्न हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अधिकारों का सतत् विकास और विस्तार हो रहा है।

अधिकारों के भेद–आधुनिक लेखकों ने अधिकारों के निम्नलिखित चार भेद माने हैं–(1) प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights), (2) कानून अधिकार (Legal Rights), (3) नैतिक अधिकार (Moral Rights) और (4) मूल अधिकार (Fundamental Rights)

(1) प्राकृतिक अधिकार–प्राकृतिक अधिकारों की ठीक-ठीक परिभाषा करना काफी कठिन है। यह शब्द प्राचीन काल में भी प्रयुक्त होता था, लेकिन उस समय इसका अभिप्राय कुछ ऐसे मूल अधिकारों से समझा जाता था जो युक्तिसम्मत होते थे और सार्वभौम दैवी विधान (Universal Divine Law) पर आधारित होते थे। उदाहरण के लिए, रोमन लोगों का अंतर्राष्ट्रीय विधान (Jus Genttium) इन्हीं प्राकृतिक अधिकारों के ऊपर टिका हुआ था। सत्रहवीं और अठाहरवीं शताब्दियों में यह सिद्धांत विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ। सामाजिक संविदा सिद्धांत (Social Contract Theory) के लेखकों विशेषकर **हॉब्स** (Hobbes), **लॉक** (Locke) और **रूसो** (Rousseau) ने प्राकृतिक अधिकारों के विचार की नए प्रकार से व्याख्या की। इन्होंने कहा कि प्राकृतिक अधिकार वे अधिकार हैं जिनका मनुष्य प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में या राज्य के उद्भव से पूर्व की अवस्था में उपभोग करता है। रूसो (Rousseau) ने तो यहाँ तक कहा है कि "प्राकृतिक अधिकार ही आदर्श अधिकार थे और वे राज्य के उत्पन्न होने के पूर्व भी विद्यमान थे। लेकिन आज इस मत को कोई नहीं मान सकता। अधिकारों के बारे में यह कहना कि वे राज्य या समाज के पूर्ववर्ती हैं, न केवल गलत ही है, प्रत्युत् उपहासास्पद भी है।

नोट

हाल के कुछ राजनीतिक विचारकों ने प्राकृतिक अधिकारों की भिन्न ढंग से व्याख्या की है। उनका कहना है कि प्राकृतिक अधिकार वे जन्मसिद्ध अधिकार या सबसे आवश्यक अधिकार हैं जिनकी प्रत्येक राज्य को चाहे उसकी कुछ भी विचारधारा हो, बिना किसी भेदभाव के अपने समस्त नागरिकों के लिए व्यवस्था करनी चाहिए। उदाहरण के लिए स्वतंत्रता, समानता, बंधुता, उपासना, जीवन और संपत्ति से संबंध रखने वाले अधिकार ऐसे ही अधिकार हैं जो प्रत्येक नागरिक को सुलभ होने चाहिए। **ग्रीन** (Green) के शब्दों में, "आजकल प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धांत को केवल एक ही दृष्टि से स्वीकार किया जा सकता है। अधिकार इस अर्थ में प्राकृतिक हैं कि वे समाज की वर्तमान अवस्था में मनुष्य के नैतिक विकास के लिए राज्य प्रयत्नशील हैं। इस तरह, आजकल प्राकृतिक अधिकारों का सही अर्थ समझा जाता है कि मानव-व्यक्तित्व के विकास के लिए अत्यंत आवश्यक है। आजकल के अधिकांश लोकतंत्रात्मक राज्यों ने अपने संविधानों में इन अधिकारों को स्थान दिया है।

(2) कानूनी अधिकार—Leacock के अनुसार, "कानूनी अधिकार राज्य की प्रभुसत्ता द्वारा स्वीकृत और रक्षित वे सुविधाएँ हैं जिनका उपभोग एक नागरिक अपने साथी नागरिकों के विरुद्ध करता है। परिणामतः यदि कोई व्यक्ति कानूनी अधिकार का उल्लंघन करता है, तो वह कानून द्वारा दंडित होता है। यही कारण है कि हत्या करना अथवा हत्या करने की चेष्टा करना भी दंडनीय अपराध माना जाता है।

कानूनी अधिकारों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—(क) नागरिक अधिकार (Civil Rights) और (ख) राजनीतिक अधिकार (Political Rights)

नागरिक अधिकार वे कानूनी अधिकार हैं जिनके बिना सभ्य जीवन का अस्तित्व असंभव होगा। ये अधिकार नागरिकों को कानून द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर मनचाहा कार्य करने की स्वतंत्रता देते हैं। नागरिक अधिकार अनेक प्रकार के होते हैं। उदाहरण के लिए जीवन, संपत्ति, परिवार, भाषण, लेखन, धर्म और सार्वजनिक सभाओं के अधिकार। यह स्मरणीय है कि नागरिक अधिकारों का एक मुख्य सिद्धांत यह है कि सब व्यक्तियों को समान अवसर मिलने चाहिए।

(3) नैतिक अधिकार—नैतिक अधिकार वे अधिकार हैं जो लोकमत अथवा लोकचेतना (Public Conscience) द्वारा स्वीकृत होते हैं परंतु राज्य के कानूनों द्वारा रक्षित नहीं होते। यदि कोई कानून द्वारा मान्य अधिकारों का उल्लंघन करता है, तो उसे दंड मिलता है, परंतु यदि कोई व्यक्ति नैतिक अधिकार को भंग करता है, तो उसे कोई दंड नहीं मिलता। नैतिक अधिकार का पालन करना या न करना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर है। उदाहरण के लिए एक निर्धन व्यक्ति को यह नैतिक अधिकार है कि वह धनी व्यक्तियों से सहायता की आशा करे। परंतु, यदि धनी व्यक्ति निर्धन व्यक्तियों की सहायता न करे, तो इसके लिए उसे दंड नहीं दिया जा सकता। मेरे पड़ोसी को मुझसे यह आशा करने का नैतिक अधिकार है कि मैं उससे उसी प्रकार स्नेह करूँ जैसे कि मैं स्वयं से प्रेम करता हूँ। लेकिन, यदि मैं ऐसा नहीं करता, तो कारागार में नहीं रखा जा सकता।

(4) मूल अधिकार—मूल अधिकार वे बहुत से महत्त्वपूर्ण और राजनीतिक अधिकार होते हैं जिन्हें राज्य अपने संविधानों में स्थान देते हैं। मूल अधिकार संविधान के एक अभिन्न भाग होते हैं और उन्हें राज्य की कार्यपालिका या व्यवस्थापिका द्वारा नहीं बदला जा सकता। यदि राज्य इन अधिकारों का अतिक्रमण करने वाले कानून बनाए, तो नागरिक अपने अधिकारों की रक्षा के लिए न्यायालयों की शरण ले सकता है। लोकतंत्र एक प्रकार से बहुमत का शासन है, अतः यदि बहुमत प्राप्त सत्तारूढ़ दल अपने विरोधी अल्पसंख्यक दल की स्वतंत्रता का अपहरण करने लगे, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। संविधान में मूल अधिकारों के उल्लेख का प्रयोजन यह है कि इन अधिकारों के उपयोग की सबको समान स्वतंत्रता है। उनके उपभोग से किसी को भी वंचित नहीं किया जा सकता। मूल अधिकारों के अभाव में नागरिक अपनी समस्त क्षमताओं का उत्थान नहीं कर सकते और उनके व्यक्तित्व कुण्ठित हो जाते हैं। यही कारण है कि संसार के अधिकतर प्रगतिशील राज्य अपने संविधानों में इन अधिकारों का निरूपण करते हैं। अमरीका, रूस और बेल्जियम जैसे देशों के संविधान इस कथन के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। भारत के संविधान ने भी अपने नागरिकों के समता-अधिकार, स्वातंत्र्य-अधिकार, शोषण के विरुद्ध अधिकार, धर्म-स्वातंत्र्य का अधिकार, शिक्षा और संस्कृति संबंधी अधिकार, संपत्ति का अधिकार और संविधानिक उपचारों का अधिकार दिया है।

छात्र क्रियाकलाप

1. कानूनी अधिकार को संक्षेप में समझाएँ।

2. नैतिक अधिकार से क्या अभिप्राय है?

नोट

7.6. नागरिकों के कुछ विशिष्ट अधिकार (Some Particular Right of Citizens)

अधिकारों का परिवर्तनीय स्वरूप–किसी राज्य को परखने की सर्वोत्तम कसौटी यह है कि वह राज्य अपने नागरिकों को किस प्रकार के अधिकार देता है और उनकी किस तरह रक्षा करता है। प्राचीनकाल से अब तक राज्यों के स्वरूप-परिवर्तन के साथ ही अधिकारों के स्वरूप में भी परिवर्तन होता गया है। जो अधिकार उदाहरण के लिए दासता की प्रथा एक समय मूलभूत माने जाते थे, आज उनका कोई महत्त्व नहीं है। उसी तरह कुछ अधिकार ऐसे हैं, जिनका प्राचीन काल में कोई उल्लेख नहीं था, लेकिन जिन्हें आज अत्यंत महत्त्व का माना जाता है। जनता के अंदर राजनीतिक भावना की वृद्धि के साथ-ही-साथ अधिकारों का क्षेत्र भी व्यापक होता गया। आधुनिक युग में नागरिक किन-किन अधिकारों का उपयोग करें, इसकी कोई सर्वसम्मत सूची बनाना संभव नहीं है। लेकिन फिर भी हम ऐसे कुछ अधिकारों की गणना तो कर ही सकते हैं जो आजकल नागरिक जीवन के विकास के लिए आवश्यक माने जाते हैं और जिन्हें आजकल के अधिकांश राज्य अपने नागरिकों को देने का यथासंभव प्रयास करते हैं। ये अधिकार संक्षेप में निम्नलिखित हैं–(1) जीवन का अधिकार (Right to Life), (2) वैयक्तिक स्वतंत्रता का अधिकार (Rights to Liberty of Person), (3) स्वतंत्र भाषण और अभिव्यक्ति का अधिकार (Right to Form Associations), (4) धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार (Right to Religious Freedom), (5) अनुबंध का अधिकार (Right to Contract), (6) काम का अधिकार (Right to Work) (7) शिक्षा तथा संस्कृति का अधिकार (Right to Education and Culture), (8) कुटुम्ब का अधिकार (Right to Family Life), (9) समता का अधिकार (Right to Equality), (10) संपत्ति का अधिकार (Right to Property) और (11) राज्य का विरोध करने का अधिकार (Right to Resist State)

7.7. अधिकारों और कर्त्तव्यों का संबंध (Relation between Right and Duties)

कर्त्तव्य अधिकार की कसौटी है–कर्त्तव्यों के विवेचन के बिना अधिकारों का विवेचन अधूरा ही रह जाएगा। सच्चाई यह है कि कर्त्तव्य अधिकार की कसौटी है। प्रत्येक अधिकार के साथ कोई-न-कोई कर्त्तव्य भी जुड़ा होता है। आजकल अधिकारों पर ही अधिकाधिक बल देने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। लोग इस बात को भूल से गए हैं कि अधिकारों और कर्त्तव्यों के संबंध परस्पर-विरुद्ध प्रतीत हों, लेकिन जरा गहराई से देखने पर पता चलेगा कि अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के अथवा पदार्थ के दो पहलू हैं। अधिकारों का आशय है कि मनुष्य का समाज के ऊपर कुछ दावा है। कर्त्तव्यों का अभिप्राय है कि समाज का मनुष्य के ऊपर कुछ ऋण है। गाँधी जी का तो यहाँ तक कहना है कि कर्त्तव्यों का अधिकारों से अधिक महत्त्व है। उनके शब्दों में, "अपने कर्त्तव्य के पालन करने का अधिकार एकमात्र ऐसा मूल्यवान् अधिकार है जिसके लिए मनुष्य जी सकता है और मर सकता है। उसमें सभी उचित अधिकारों का समावेश है।'' गाँधी जी का मत है कि यदि कोई व्यक्ति किसी कर्त्तव्य के पालन की क्षमता प्राप्त कर ले, तो उससे संलग्न अधिकार अनिवार्य रूप से प्राप्त हो जाएगा। उन्होंने स्वयं कहा भी है, "अधिकार का सच्चा स्रोत है कर्त्तव्य ..... यदि हम सब अपने कर्त्तव्यों की उपेक्षा करके हम अधिकारों के पीछे पड़ें, तो हमारी खोज मृगतृष्णा की तरह व्यर्थ होगी। जितना हम अधिकारों का पीछा करेंगे, उतना ही अधिक वह हमसे दूर होंगे।

अधिकारों और कर्त्तव्यों में किस प्रकार के संबंध हैं?–अधिकारों और कर्त्तव्यों में तीन प्रकार का संबंध है। प्रथमतः जो एक व्यक्ति का अधिकार होता है, वही समाज के दूसरे सदस्य का कर्त्तव्य बन जाता है। इस बात को दो-एक उदाहरणों द्वारा अच्छी तरह समझा जा सकता है।

अधिकारों और कर्त्तव्यों के संबंध का एक अन्य पहलू यह है कि जो अधिकार है, वह वास्तव में कर्त्तव्य भी है। यदि किसी व्यक्ति को कोई अधिकार प्राप्त है, तो उसे यह स्मरण रखना चाहिए कि यह अधिकार दूसरे लोगों को भी प्राप्त है। एतदर्थ, उसे अपने अधिकार का उपभोग कुछ इस तरह करना चाहिए कि दूसरे व्यक्ति के अधिकार-उपभोग में भी कोई बाधा न पड़े। यदि 'क' को अपने विचार व्यक्त करने का अधिकार है, तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह 'ख' को भी अपने विचार व्यक्त करने दे और उसके इस अधिकार-उपभोग में कोई हस्तक्षेप उपस्थित न करे। यदि मुझे सार्वजनिक मार्ग पर चलने का अधिकार है, तो मेरा यह कर्त्तव्य भी हो जाता है कि मैं दूसरों के भी इस अधिकार को स्वीकार करूँ। तीसरे, अधिकार का

केवल यही प्रयोजन है कि उसके द्वारा जनसाधारण के सामान्य कल्याण की वृद्धि होनी चाहिए। व्यक्ति के प्रत्येक अधिकार के साथ यह कर्त्तव्य जुड़ा हुआ है कि इस अधिकार का प्रयोग इस तरह होना चाहिए जिससे कि सामान्य कल्याण को कोई चोट न पहुँचे। यदि कोई व्यक्ति अपने अधिकार का ठीक ढंग से प्रयोग नहीं करता, उसका इस ढंग से प्रयोग करता है जिससे कि सामान्य कल्याण को चोट पहुँचती है, तो वह व्यक्ति दंडनीय हो जाता है। उदाहरण के लिए, प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार है। यदि कोई व्यक्ति इस अधिकार का इस तरह से प्रयोग करता है जिससे समाज के विभिन्न वर्गों में विद्वेष फैलता है, तो उस व्यक्ति के साथ अपराधी का सा व्यवहार किया जाता है।

नोट

7.8. नागरिक के कर्त्तव्य (Duties of a citizen)

कर्त्तव्यों का वर्गीकरण–अधिकारों के भाँति ही कर्त्तव्यों का क्षेत्र भी अत्यंत विशाल है। नागरिक के कर्त्तव्यों की कोई सर्वसम्मत सूची बनाना संभव नहीं है क्योंकि सभ्यता के विकास के साथ ही साथ मनुष्य के कर्त्तव्यों में भी वृद्धि होती गई है। तथापि नागरिक के प्रमुख कर्त्तव्यों का इस प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है–(1) अपने प्रति कर्त्तव्य, (2) परिवार के प्रति कर्त्तव्य, (3) ग्राम, नगर तथा प्रांत के प्रति कर्त्तव्य, (4) राज्य के प्रति कर्त्तव्य और (5) मानवता के प्रति कर्त्तव्य।

अपने प्रति कर्त्तव्य–नागरिक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य अपने प्रति होता है। इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक नागरिक को अपनी शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों का पूर्ण विकास करना चाहिए। जिससे वह समाज की अधिक से अधिक सेवा कर सके। प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपना स्वास्थ्य अच्छा रखे और अच्छी से अच्छी शिक्षा पाने का प्रयास करे। यदि नागरिक अपनी शारीरिक और मानसिक उन्नति की ओर उदासीन रहेगा, तो वह समाज की सेवा नहीं कर सकेगा।

परिवार के प्रति कर्त्तव्य–अपने प्रति कर्त्तव्यों के पश्चात् परिवार के प्रति कर्त्तव्यों का स्थान आता है। परिवार ही नागरिक का पालन पोषण करता है, अतः नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह भी अपने परिवार के सदस्यों की सेवा करे। नागरिक को अपने माता-पिता, गुरूजनों, आश्रित व्यक्तियों और बाल-बच्चों का अच्छी तरह से पालन पोषण करना चाहिए।

ग्राम, नगर तथा प्रांत के प्रति कर्त्तव्य–नागरिक के ग्राम, नगर तथा प्रांत के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य होते हैं, नागरिक से यह आशा की जाती है कि वह अपनी योग्यता एवं बुद्धि से ग्राम, नगर तथा प्रांत की सेवा करे और उनके नागरिक जीवन को समृद्ध बनाए। नागरिक को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि वह परिवार की वेदी पर अपने हित का, ग्राम की वेदी पर परिवार के हित का, प्रांत की वेदी पर ग्राम के हित का और देश की वेदी पर प्रांत के हित का बलिदान कर दे।

राज्य के प्रति कर्त्तव्य–नागरिक के राज्य के प्रति अनेक कर्त्तव्य होते हैं जिनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं (1) नागरिक का यह आवश्यक कर्त्तव्य है कि वह राज्य के कानूनों का पालन करे। यदि नागरिक कानूनों का पालन नहीं करेगा, तो समाज में अराजकता फैल जाएगी। लेकिन कानूनों के पालन का यह अभिप्राय नहीं है कि नागरिक राज्य के अनुचित कानूनों को भी शिरोधार्य करे। वास्तव में, जैसा कि **लास्की** ने कहा है ''हमारा पहला कर्त्तव्य है अपनी अंतरात्मा के प्रति सच्चे होना।'' अतः यदि राज्य के कानून अनुचित और अनैतिक हों, तो उनका विरोध करना ही ठीक है। गाँधीजी के अनुसार भी, राजनीतिक कर्त्तव्य का प्रश्न आवश्यक रूप से नैतिक है और ''राज्य के कानून की अवज्ञा निश्चित कर्त्तव्य हो जाता है जब इसका (राज्य के कानून का) ईश्वरीय कानून के साथ संघर्ष होता है।'' गाँधीजी की स्पष्ट राय थी कि ,''ऐसे कानून को मानना जिनको हमारी अंतर्रात्मा स्वीकार न करे, हमारी मर्दानगी के विरुद्ध है–जब तक यह भ्रम दूर नहीं होगा कि मनुष्यों को अन्यायपूर्ण कानूनों का पालन करना चाहिए, तब तक उनकी गुलामी नहीं मिटेगी।" (2) प्रत्येक नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने देश के प्रति निष्ठा रखे। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कभी देश के ऊपर कोई आपत्ति आए, तो नागरिक को सर्वस्व बलिदान करने के लिए तैयार रहना चाहिए। देशद्रोह जघन्यतम् अपराधों में से एक है। लेकिन देशभक्ति या राष्ट्रीयता का यह अर्थ नहीं होना चाहिए कि एक देश दूसरे देश का शोषण करें। राष्ट्रीयता का सच्चा आदर्श तो यह है कि प्रत्येक देश को दूसरे देश का शोषण करके नहीं, उनकी सेवा करके और उनके हित के लिए आत्म-बलिदान करके रहना सीखना चाहिए।

नोट

(3) राज्य-संचालन के लिए कोष या धन अत्यंत आवश्यक हैं। **कौटिल्य** ने संसार में अर्थ को ही प्रधानता दी है। उनके मत से शासन को सर्वप्रथम कोष-वृद्धि का ही चिंतन करना चाहिए। ऐसी स्थिति में नागरिकों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे कर-अपवंचन (Tax Evasion) का प्रयास न करें, प्रत्युत् राज्य के समस्त करों को प्रसन्नतापूर्वक दें। इसके साथ ही साथ राज्य से भी यह आशा की जाती है कि वह नागरिकों के ऊपर अन्यायपूर्ण कर न लगाए। शासन प्रजा पर कर लगाते समय किन बातों को अपने ध्यान में रखे, इस संबंध में प्राचीन भारत के राजनीतिक साहित्य में प्रौढ़ चिंतन मिलता है। उदाहरण के लिए मनु का कहना है कि शासन को प्रजा के ऊपर हल्के-हल्के कर लगाने चाहिए। इस संबंध में वे बछड़ा, जोंक और भ्रमर का उदाहरण देते हैं। बछड़ा थोड़ा-थोड़ा करके अपनी माता गाय का दूध पीता है। लेकिन गाय को पयपान कराने में कोई भी कष्ट नहीं होता। जोंक शरीर से चिपट कर थोड़ा-थोड़ा करके रक्तपान करती है। लेकिन पशु को यह ज्ञान नहीं हो पाता कि उसके शरीर से रक्त का पान किया जा रहा है। भ्रमर फूल पर बैठकर धीरे-धीरे उसका मधुपान करता है, लेकिन फूल को यह पता नहीं चल पाता कि उससे उसका मधु ग्रहण किया जा रहा है। (4) नागरिक का एक अन्य आवश्यक कर्त्तव्य यह है कि वह राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय रुचि ले और अपने मताधिकार का प्रयोग सुदक्षता से करे। आज जनतंत्र का युग है और जनतंत्र में शासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। जनतंत्र की सफलता अंततोगत्वा नागरिकों के चरित्र पर और उनकी राजनीतिक चेतना पर निर्भर है। जनता का यह परम कर्त्तव्य है कि वह अपने मतदान के अधिकार का अत्यंत सावधानी से प्रयोग करे और योग्य से योग्य व्यक्तियों को अपना शासक चुने।

मानवता के प्रति—मनुष्य के जहाँ अपने प्रति, अपने परिवार, ग्राम, नगर, प्रांत और राज्य के प्रति कर्त्तव्य हैं, वहाँ उसके मनुष्य होने के नाते, संपूर्ण संसार के प्रति, मानवता के प्रति भी कुछ कर्त्तव्य हैं। नागरिक को चाहिए कि वह स्वयं को अपने राज्य का एक सदस्य समझने के साथ-साथ, मानव-जाति का भी एक सदस्य समझे और तदनुसार ही आचरण करें।

7.9. भारतीय संविधान में मूल अधिकारों और कर्त्तव्यों की अवधारणाएँ (The Concepts of Fundamental Rights and Duties in Indian Constitution)

भारतीय संविधान के भाग 3, अनुच्छेद 12–35 में नागरिकों के मूल अधिकारों का विवेचन है। इन अधिकारों की जड़ें भारत के स्वतंत्रता-संग्राम में निहित हैं। संविधान सभा में संविधान के इस भाग पर 38 दिनों तक चर्चा हुई–उपसमिति में 11 दिन तक, सलाहकार समिति में 2 दिन तक और संविधान सभा में 25 दिन तक। डॉ. अम्बेडकर ने संविधान के इस भाग को 'सर्वाधिक आलोचित' भाग कहा था। उद्देशिका, मूल अधिकार, राज्य-नीति के निदेशक तत्व तथा मूल कर्त्तव्य भारतीय संविधान के आधारभूत मूल्यों का दिग्दर्शन कराते हैं।

भारतीय संविधान ने मूल अधिकारों को छह श्रेणियों में बाँटा है–

1. समानता का अधिकार,
2. स्वतंत्रता का अधिकार,
3. शोषण के विरुद्ध अधिकार,
4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार,
5. संस्कृति तथा शिक्षा संबंधी अधिकार,
6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार।

1. समानता का अधिकार *(अनुच्छेद 14-18)*

(*i*) कानून के समक्ष समानता (अनुच्छेद 14)—अनुच्छेद 14 के अनुसार भारत के राज्य क्षेत्र में राज्य किसी भी व्यक्ति को कानून के समक्ष समानता या कानून से समान संरक्षण से वंचित नहीं करेगा। इसके द्वारा राज्य पर बंधन लगाया गया है कि वह सभी व्यक्तियों के लिए एक–सा कानून बनाएगा तथा उन्हें एक समान लागू करेगा।

कानून के समक्ष समानता का तात्पर्य यह नहीं है कि औचित्यपूर्ण आधार पर और कानून द्वारा मान्य किसी भेदभाव की भी व्यवस्था नहीं की जा सकती है। यदि कानून पर लगाने के संबंध में धनी और गरीब में और सुविधाएँ प्रदान करने में स्त्रियों और पुरुषों में भेद करता है तो इसे कानून के समक्ष समानता का उल्लंघन नहीं कहा जा सकता।

नोट

(*ii*) धर्म, नस्ल जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर भेदभाव का निषेध (अनुच्छेद 15)–अनुच्छेद 15 में कहा गया है कि ''राज्य के द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान, आदि के आधार पर नागरिकों के प्रति जीवन के किसी क्षेत्र में भेदभाव नहीं किया जाएगा।'' कानून के द्वारा निश्चित किया गया है कि सब नागरिकों के साथ दुकानों, होटलों तथा सार्वजनिक स्थानों; जैसे कुओं, तालाबों, स्नानगृहों, सड़कों आदि के प्रयोग के संबंध में किसी भी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाएगा।

(*iii*) राज्य के अधीन नौकरियों का समान अवसर (अनुच्छेद 16)–अनुच्छेद 16 के अनुसार, ''सब नागरिकों को सरकारी पदों पर नियुक्ति के समान अवसर प्राप्त होंगे और इस संबंध में केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर सरकारी नौकरी या पद प्रदान करने में भेदभाव नहीं किया जाएगा।'' इसके अंतर्गत राज्य को यह अधिकार है कि वह राजकीय सेवाओं के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर दे। संसद कानून द्वारा संघ में सम्मिलित राज्यों को अधिकार दे सकती है कि वे उस पद के उम्मीदवार के लिए राज्य का निवासी होना आवश्यक ठहरा दें। इसी प्रकार सेवा में पिछड़े हुए वर्गों के लिए भी स्थान आरक्षित किये जा सकते हैं।

(*iv*) अस्पृश्यता का निषेध (अनुच्छेद 17)–सामाजिक समानता को और अधिक पूर्णता देने के लिए अस्पृश्यता का निषेध किया गया है। अनुच्छेद 17 में कहा गया है कि **''अस्पृश्यता का अंत किया जाता है और उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध किया जाता है। अस्पृश्यता से उत्पन्न किसी अयोग्यता को लागू करना एक दण्डनीय अपराध होगा।'' हिंदू समाज से अस्पृश्यता के विष को समाप्त करते हुए संसद द्वारा 1955 में 'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम'** (*Untouchability Offences Act*) पारित किया गया जो पूरे भारत में लागू होता है। इस कानून के अनुसार अस्पृश्यता एक दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है।

'अस्पृश्यता अपराध अधिनियम' को 1976 में संशोधित कर इसका नाम **'नागरिक अधिकार संरक्षण अधिनियम, 1955'** कर दिया गया है। 1989 में इस कानून को और अधिक कठोर बनाते हुए इसे **'अनुसूचित जाति व जनजाति निरोधक कानून 89'** का नाम दे दिया गया। यह कानून अस्पृश्यता के अंत के लिए अब तक बनाये गये कानूनों में सबसे अधिक कठोर है। आवश्यकता इस बात की है कि इस कानून का उपयोग अवश्य हो, लेकिन कोई दुरुपयोग न हो।

(*v*) उपाधियों का निषेध (अनुच्छेद 18)–ब्रिटिश शासन काल में संपत्ति के आधार पर उपाधियाँ प्रदान की जाती थीं, जो सामाजिक जीवन में भेद उत्पन्न करती थीं। अतः नवीन संविधान में इनका निषेध कर दिया गया है। अनुच्छेद 18 में व्यवस्था की गई है कि ''सेना अथवा विद्या संबंधी उपाधियों के अलावा राज्य अन्य कोई उपाधियाँ प्रदान नहीं कर सकता।'' इसके साथ ही भारत का कोई नागरिक बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के विदेशी राज्य से भी कोई उपाधि स्वीकार नहीं कर सकता।

अनुच्छेद 18 की उपर्युक्त व्यवस्था के बावजूद भारत में 1950 से ही भारत सरकार द्वारा भारत रत्न, पद्म भूषण और पद्म श्री की उपाधियाँ प्रदान की जाती रही हैं। सर्वोच्च न्यायालय ने इस संबंध में कहा है कि, 'उपाधियाँ प्रदान करने की यह व्यवस्था संविधान के प्रतिकूल नहीं है, लेकिन इस संबंध में शासन का समस्त कार्य विवेक संगत रूप में और उचित मापदंडों पर अधारित होना चाहिए।'

2. स्वतंत्रता का अधिकार *(अनुच्छेद 19-22)*

भारतीय संविधान का उद्देश्य विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वाधीनता सुनिश्चित करना है अतः संविधान के द्वारा नागरिकों को विविध स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई हैं। इस संबंध में अनुच्छेद 19 सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है।

मूल संविधान के अनुच्छेद 19 द्वारा नागरिकों को 7 स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई थीं और इसमें छठी स्वतंत्रता, 'सम्पत्ति की स्वतंत्रता' थी। 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा संपत्ति के मौलिक अधिकार के साथ-साथ 'संपत्ति की स्वतंत्रता' भी समाप्त कर दी गई है और अब 19वें अनुच्छेद के अंतर्गत नागरिकों को 6 स्वतंत्रताएँ ही प्राप्त हैं।

नोट

(*i*) विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता–भारत के सभी नागरिकों को विचार करने, भाषण देने और अपने तथा अन्य व्यक्तियों के विचारों के प्रचार की स्वतंत्रता प्राप्त है। प्रेस भी विचारों के प्रचार का एक साधन होने के कारण इसी में प्रेस की स्वतंत्रता भी शामिल है।

संविधान के **'प्रथम संशोधन अधिनियम 1951'** द्वारा विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को और सीमित कर दिया गया और अब राज्य जिन आधारों पर विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर युक्ति–युक्त, प्रतिबंध लगा सकता है, वे इस प्रकार हैं–**राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों से मित्रतापूर्ण संबंध, सार्वजनिक व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार, न्यायालय अपमान, मानहानि या अपराध के लिए उत्तेजित करना।** 1963 के 16वें संशोधन द्वारा स्वतंत्रता पर एक और प्रतिबंध लगा दिया गया है। अब यदि कोई व्यक्ति भारत राज्य से उसके किसी भाग को अलग करवाने का प्रचार करे, तो राज्य के द्वारा उसकी विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित किया जा सकता है।

अब 44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा व्यवस्था की गई है कि प्रेस संसद तथा राज्य विधान मंडलों की कार्यवाही के प्रकाशन के संबंध में पूर्ण स्वतंत्र है और राज्य के द्वारा इस संबंध में प्रेस पर प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकेगा। मुंबई उच्च न्यायालय की एकल पीठ ने जून '1988 में एक ऐतिहासिक निर्णय देते हुए कहा है कि 'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अधिकार दूरदर्शन पर लागू होता है।' न्यायमूर्ति ने अपने निर्णय में कहा, ''दूरदर्शन पर दिखाए जाने वाले कार्यक्रमों में विशेष तौर पर बातचीत, साक्षात्कार या इसी तरह के कार्यक्रमों में यदि बिना किसी कानूनी आधार पर कोई काट–छांट की जाए तो इस प्रकार की कार्यवाही को अवैध घोषित किया जा सकता है।'

सर्वोच्च न्यायालय ने अपने 10 फरवरी, '1995 के ऐतिहासिक निर्णय में कहा है कि ''विचार और अभिव्यक्ति के अधिकार में शिक्षित करने, सूचना देने और मनोरंजन करने का अधिकार सम्मिलित है। खेल–कूद गतिविधियों के प्रसारण का अधिकार भी इसमें सम्मिलित है।'' सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में यह भी कहा कि 'भारतीय आकाश पर राज्य को एकाधिकार प्राप्त नहीं है, लेकिन अन्य एजेंसियों के प्रसारण अधिकार की सीमाएँ हैं।'

(*ii*) अस्त्र-शस्त्र रहित तथा शांतिपूर्वक सम्मेलन की स्वतंत्रता–व्यक्तियों के द्वारा अपने विचारों के प्रचार के लिए शांतिपूर्वक और बिना किन्हीं शस्त्रों के सभा या सम्मेलन किया जा सकता है तथा उनके द्वारा जुलूस या प्रदर्शन का आयोजन भी किया जा सकता है। यह स्वतंत्रता भी असीमित नहीं है और राज्य के द्वारा सार्वजनिक सुरक्षा के हित में इस स्वतंत्रता को सीमित किया जा सकता है।

(*iii*) समुदाय और संघ के निर्माण की स्वतंत्रता–संविधान के द्वारा सभी नागरिकों को समुदायों और संघ के निर्माण की स्वतंत्रता प्रदान की गई है, परंतु यह स्वतंत्रता भी उन प्रतिबंधों के अधीन है, जिन्हें राज्य साधारण जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए लगा सकता है। इस स्वतंत्रता की आड़ में व्यक्ति ऐसे समुदायों का निर्माण नहीं कर सकता जो षड्यंत्र करें अथवा शांति और व्यवस्था को भंग करें।

(*iv*) भारत राज्य क्षेत्र में अबाध भ्रमण की स्वतंत्रता–भारत के सभी नागरिक बिना किसी प्रतिबंध या विशेष अधिकार–पत्र के संपूर्ण भारत के क्षेत्र में घूम सकते हैं। इस अधिकार पर राज्य सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के हित में उचित प्रतिबंध लगा सकता है।

(*v*) भारत राज्य क्षेत्र में अबाध निवास की स्वतंत्रता–भारत के सभी नागरिक अपनी इच्छानुसार स्थाई या अस्थाई रूप में किसी भी स्थान पर बन सकते हैं। किंतु राज्य के द्वारा सामान्य जनता के हित और अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के हित में यह उचित प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

(*vi*) वृत्ति, उपजीविका या कारोबार की स्वतंत्रता–संविधान ने सभी नागरिकों को वृत्ति, उपजीविका व्यापार अथवा व्यवसाय की स्वतंत्रता प्रदान की है, किंतु राज्य जनता के हित में इन स्वतंत्रताओं पर उचित प्रतिबंध लगा सकता है। राज्य किन्हीं व्यवसायों को करने के लिए आवश्यक योग्यताएँ निर्धारित कर सकता है अथवा किसी कारोबार या उद्योग को पूर्ण अथवा आंशिक रूप से स्वयं अपने हाथ में ले सकता है।

इस प्रकार संविधान द्वारा प्रदान की गई उपर्युक्त स्वतंत्रताएँ असीमित नहीं हैं और इनमें से प्रत्येक पर प्रतिबंध लगा दिए गए हैं। इन प्रतिबंधों के होते हुए भी ये स्वतंत्रताएँ इस दृष्टि से सुरक्षित हैं कि इन स्वतंत्रताओं पर केवल युक्ति–युक्त प्रतिबंध ही लगाए जा सकेंगे और प्रतिबंध की युक्तियुक्तता या औचित्य का निर्णय न्यायालय ही करेगा।

नोट

स्वतंत्रता के अधिकार विशेषतया अनुच्छेद 19 की 6 स्वतंत्रताओं के संबंध में सर्वोच्च न्यायालय ने 1977 में दो महत्त्वपूर्ण निर्णय दिए हैं। प्रथम निर्णय में कहा गया है कि **'टेलीफोन टेपिंग व्यक्ति की गोपनीयता का गंभीर उल्लंघन है।** अतः राज्य के द्वारा टेलीफोन टेपिंग का उस समय तक आश्रय नहीं लिया जाना चाहिए, जब तक कि सार्वजनिक सुरक्षा या सार्वजनिक हित में ऐसा करना आवश्यक न हो जाए।'

दूसरा महत्त्वपूर्ण निर्णय सर्वोच्च न्यायालय ने 13 नवंबर, 1997 को दिया है। इस निर्णय में विशेष उद्देश्य से किसी संगठन द्वारा करवाई गई हड़ताल तथा किसी राजनीतिक दल अथवा संगठन द्वारा जबरन करवाए गए बंद में अंतर करते हुए **बंद को गैर–कानूनी घोषित किया है।** बंद में सार्वजनिक संपत्ति को नष्ट किया जाता व जनजीवन ठप कर दिया जाता है।

अपराध की दोष सिद्धि के विषय में संरक्षण (अनुच्छेद 20)–अनुच्छेद 20 में कहा गया है कि ''किसी व्यक्ति को उस समय तक अपराधी नहीं ठहराया जा सकता है जब तक कि उसने अपराध के समय में लागू किसी कानून का उल्लंघन न किया हो।'' इसके साथ ही एक अपराध के लिए व्यक्ति को एक ही बार दंड दिया जा सकता है और किसी अपराध में अभियुक्त व्यक्ति को स्वयं अपने विरुद्ध गवाही देने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता।

व्यक्तिगत स्वतंत्रता तथा जीवन की सुरक्षा (अनुच्छेद 21)–अनुच्छेद 21 में जीवन के अधिकार को मान्यता प्रदान की गई है। इसमें कहा गया है कि ''**किसी व्यक्ति को उसके जीवन तथा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोड़कर अन्य किसी प्रकार से वंचित नहीं किया जा सकता।**'' सर्वोच्च न्यायालय ने 1977 में अपने एक महत्त्वपूर्ण निर्णय में कहा है कि **'जीवन के अधिकार'** में आवास का अधिकार सम्मिलित है।

44वें संवैधानिक संशोधन (1979) द्वारा जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को और अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। **अब आपातकाल में भी जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को समाप्त या सीमित नहीं किया जा सकता है।**

बंदीकरण की अवस्था में संरक्षण (अनुच्छेद 22)–अनुच्छेद 22 के द्वारा बंदी बनाए जाने वाले व्यक्ति को कुछ अधिकार प्रदान किए गए हैं। इसमें कहा गया है कि उसके अपराध के बारे में अथवा बंदी बनाने के कारणों को बतलाए बिना किसी व्यक्ति को अधिक समय तक बंदीगृह में नहीं रखा जाएगा। उसे वकील से परामर्श करने और अपने बचाव के लिए प्रबंध करने का अधिकार होगा तथा बंदी बनाए जाने के बाद 24 घंटे के अंदर–अंदर (इसमें बंदीगृह से न्यायालय तक जाने का समय शामिल नहीं है) उसे निकटतम न्यायाधीश के सामने उपस्थित किया जाएगा। अनुच्छेद 22 के द्वारा बंदी बनाए जाने वाले व्यक्तियों को जो अधिकार प्रदान किए गए हैं वे दो प्रकार के अपराधियों पर लागू नहीं होंगे। प्रथम, शत्रु देश के निवासियों पर और द्वितीय, 'निवारक निरोध अधिनियम' (*Preventive Detention Act*) के अंतर्गत गिरफ्तार व्यक्तियों पर।

3. शोषण के विरुद्ध अधिकार *(अनुच्छेद 23 और 24)*

अनुच्छेद 23 के द्वारा बेगार तथा इसी प्रकार का अन्य जबरदस्ती लिया हुआ श्रम निषिद्ध ठहराया गया है जिसका उल्लंघन विधि के अनुसार दंडनीय अपराध है। भारत में सदियों से किसी न किसी रूप में दासता की प्रथा विद्यमान थी, जिसके अनुसार हरिजनों, खेतिहर श्रमिकों तथा स्त्रियों पर विभिन्न प्रकार के अनाचार किए जाते थे नवीन संविधान के अंतर्गत मानवीय शोषण के इन सभी रूपों को कानून के अनुसार दंडनीय घोषित कर दिया गया। इस अधिकार का एक महत्त्वपूर्ण अपवाद है। राज्य सार्वजनिक उद्देश्य से अनिवार्य श्रम की योजना लागू कर सकता है, लेकिन ऐसा करते समय राज्य नागरिकों के बीच धर्म, मूलवंश, जाति, वर्ण या सामाजिक स्तर के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करेगा।

नोट

बाल श्रम का निषेध–अनुच्छेद 24 में कहा गया है कि 14 वर्ष से कम आयु वाले किसी बच्चे को कारखानों, खानों या अन्य किसी जोखिम भरे काम पर नियुक्त नहीं किया जा सकता, लेकिन बच्चों को अन्य प्रकार के कार्यों में लगाया जा सकता है। भारत के विभिन्न भागों में शोषण का एक रूप बंधुआ मजदूरी के रूप में प्रचलित था, जिसे समाप्त करने के लिए 1975–76 में कुछ कदम उठाए गए। 1996–97 में न्यायालयों ने बाल श्रम के निषेध पर बल दिया, अतः प्रशासन बाल श्रम की स्थिति समाप्त करने के लिए प्रयत्नशील है। लेकिन बंधुआ मजदूरी हो या बाल–श्रम; ये सभी आर्थिक–सामाजिक परिस्थितियों के परिणाम हैं। अतः मात्र कानूनों या आधे–अधूरे प्रशासनिक प्रयत्नों के आधार पर इन स्थितियों को समाप्त कर पाना संभव नहीं है।

4. धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार *(अनुच्छेद 25-28)*

अंतःकरण की स्वतंत्रता–अनुच्छेद 25 में कहा गया है कि सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य तथा इस भाग के अन्य उपबंधों के अधीन रहते हुए सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता तथा कोई भी धर्म अंगीकार करने, उसका अनुसरण एवं प्रचार करने का अधिकार प्राप्त होगा। सिखों द्वारा कृपाण धारण करना और लेकर चलना धार्मिक स्वतंत्रता का अंग माना गया है।

अनुच्छेद 25 में व्यवस्था की गई है कि सार्वजनिक प्रकृति की हिंदू धार्मिक संस्थाओं (मंदिरों और अन्य स्थानों) में हिंदू समाज के सभी वर्गों को समान रूप से प्रवेश करने का अधिकार होगा अर्थात् इन संस्थाओं में हिंदू समाज के किसी भी व्यक्ति को प्रवेश करने से नहीं रोका जा सकेगा।

धार्मिक मामलों का प्रबंध करने की स्वतंत्रता–अनुच्छेद 26 प्रत्येक धर्म के अनुयायियों को निम्न अधिकार प्रदान करता है–

(क) धार्मिक संस्थाओं तथा दान से स्थापित सार्वजनिक सेवा संस्थाओं की स्थापना तथा उनके पोषण का अधिकार।

(ख) धर्म संबंधी निजी मामलों का स्वयं प्रबंध करने का अधिकार।

(ग) चल और अचल संपत्ति के अर्जन और स्वामित्व का अधिकार।

(घ) उस संपत्ति का विधि के अनुसार संचालन करने का अधिकार।

वस्तुतः अनुच्छेद 26, अनुच्छेद 25 का एक उपसिद्धांत मात्र है।

धार्मिक व्यय के लिए निश्चित धन पर कर की अदायगी से छूट–अनुच्छेद 27 में कहा गया है कि राज्य किसी भी व्यक्ति को ऐसे कर देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है, जिसकी आय किसी विशेष धर्म अथवा धार्मिक सम्प्रदाय के उन्नति या पोषण में व्यय करने के लिए विशेष रूप से निश्चित कर दी गई हो।

राजकीय शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा निषिद–भारत राज्य का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष राज्य का है, जिसे धार्मिक क्षेत्र में निष्पक्ष रहना है। अतः अनुच्छेद 28 में कहा गया है कि **''राजकीय निधि से संचालित किसी भी शिक्षण संस्था में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा प्रदान नहीं की जाएगी। इसके साथ ही राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त या आर्थिक सहायता प्राप्त शिक्षण संस्था में किसी व्यक्ति को किसी धर्म विशेष की शिक्षा ग्रहण करने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकेगा।''**

किंतु अन्य अधिकारों की भाँति ही धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार भी प्रतिबंधरहित नहीं है। राज्य सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता एवं स्वास्थ्य इत्यादि के हित में इसके प्रयोग पर प्रतिबंध लगा सकता है। इसी प्रकार आर्थिक, राजनीतिक या अन्य किसी प्रकार के सार्वजनिक हित की दृष्टि से राज्य धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप कर सकता है। राज्य सामाजिक हित और सुधार संबंधी कार्य भी कर सकता है, चाहे ऐसा करते हुए धार्मिक क्षेत्र में हस्तक्षेप ही क्यों न करना पड़े।

इस प्रकार सार्वजनिक हित की दृष्टि से उचित प्रतिबंधों के साथ संविधान के अंतर्गत सभी व्यक्तियों के लिए धार्मिक स्वतंत्रता की व्यवस्था की गई है।

छात्र क्रियाकलाप

1. नागरिक के परिवार के प्रति क्या कर्तव्य होने चाहिए?

2. समता के अधिकार का संक्षिप्त परिचय दें।

नोट

5. संस्कृति और शिक्षा संबंधी अधिकार *(अनुच्छेद 29 और 30)*

हमारे संविधान के द्वारा भारत में सभी नागरिकों को संस्कृति और शिक्षा संबंधी स्वतंत्रता का अधिकार भी प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 29 के अनुसार, ''**नागरिकों के प्रत्येक वर्ग को अपनी भाषा, लिपि या संस्कृति सुरक्षित रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।**'' यह भी कह दिया गया है कि किसी राजकीय या राजकीय सहायता से संचालित शिक्षण संस्था में प्रवेश के संबंध में मूलवंश, जाति, धर्म और भाषा या इनमें से किसी एक के आधार पर भेदभाव नहीं किया जाएगा।

अनुच्छेद 30 के अनुसार धर्म या भाषा पर आधारित सभी अल्पसंख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शैक्षणिक संस्थाओं के संस्थापना तथा उनके प्रशासन का अधिकार होगा। यह भी व्यवस्था की गई है कि शिक्षण संस्थाओं को अनुदान देने में राज्य इस आधार पर भेदभाव नहीं करेगा कि वे धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसंख्यक वर्ग के अधीन हैं।

44वें संवैधानिक संशोधन द्वारा संपत्ति के मूल अधिकार को समाप्त करने का जो कार्य किया गया है उसके संबंध में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि इससे अल्पसंख्यकों को अपनी रुचि की शिक्षण संस्थाओं की स्थापना तथा इन शिक्षण संस्थाओं के प्रशासन के अधिकार पर कोई आघात नहीं पहुँचेगा।

6. संवैधानिक उपचारों का अधिकार *(अनुच्छेद 32)*

संविधान में मूल अधिकारों के उल्लेख से अधिक महत्त्वपूर्ण बात उन्हें क्रियान्वित करने की व्यवस्था है, जिसके बिना मूल अधिकार अर्थहीन सिद्ध होंगे। संविधान निर्माताओं ने इस उद्देश्य से संवैधानिक उपचारों के अधिकार को भी संविधान में स्थान दिया है, जिसका तात्पर्य यह है कि नागरिक अधिकारों को लागू करने के लिए सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों की शरण ले सकते हैं। इन न्यायालयों के द्वारा व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित उन सभी कानूनों और कार्यपालिका के कार्यों को अवैधानिक घोषित कर दिया जाएगा जो मौलिक अधिकारों के विरुद्ध हों। संवैधानिक उपचारों के अधिकारों की व्यवस्था के महत्त्व को दृष्टि में रखते हुए डॉ. अम्बेडकर ने कहा था, ''**यदि कोई मुझसे यह पूछे कि संविधान का वह कौन–सा अनुच्छेद है जिसके बिना संविधान शून्यप्राय हो जाएगा, तो इस अनुच्छेद (अनुच्छेद 32) को छोड़कर मैं और किसी अनुच्छेद की ओर संकेत नहीं कर सकता यह तो संविधान का हृदय तथा आत्मा है।** भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश गजेंद्र गड़कर ने इसे '**भारतीय संविधान का सबसे प्रमुख लक्षण**' और संविधान द्वारा स्थापित 'प्रजातांत्रिक भवन की आधारशिला' कहा है।

सर्वोच्च न्यायालय और उच्च न्यायालयों के द्वारा नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए निम्न पांच प्रकार के लेख जारी किए जा सकते हैं–

(अ) बंदी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)–व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लिए यह लेख सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह उस व्यक्ति की प्रार्थना पर जारी किया जाता है जो यह समझता है कि उसे अवैध रूप से बंदी बनाया गया है। इसके द्वारा न्यायालय बंदीकरण करने वाले अधिकारी को आदेश देता है कि वह बंदी बनाए गए व्यक्ति को निश्चित समय और स्थान पर उपस्थित करे, जिससे न्यायालय बंदी बनाए जाने के कारणों पर विचार कर सके। दोनों पक्षों की बात सुनकर न्यायालय इस बात का निर्णय करता है कि नजरबंदी वैध है या अवैध और यदि अवैध होती है तो न्यायालय बंदी को फौरन मुक्त करने की आज्ञा दे देता है। इस प्रकार अनुचित एवं गैर–कानूनी रूप से बंदी बनाए गए व्यक्ति बंदी प्रत्यक्षीकरण के लेख के आधार पर स्वतंत्रता प्राप्त कर सकते हैं।

(ब) परमादेश (Mandamus)–परमादेश का लेख उस समय जारी किया जाता है जब कोई पदाधिकारी अपने सार्वजनिक कर्तव्य का निर्वाह नहीं करता। इस प्रकार के आज्ञापत्र के आधार पर पदाधिकारी को उसके कर्तव्य का पालन करने का आदेश जारी किया जाता है।

(स) प्रतिषेध (Prohibition)–यह आज्ञापत्र सर्वोच्च न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों द्वारा निम्न न्यायालयों तथा अर्ध–न्यायिक न्यायधिकरणों को जारी करते हुए आदेश दिया जाता है कि इस मामले में अपने यहाँ कार्यवाही न करें, क्योंकि यह मामला उनके अधिकार क्षेत्र के बाहर है।

नोट

(द) उत्प्रेषण (Certiorari)–यह आज्ञापत्र अधिकांशतः किसी विवाद को निम्न न्यायालय से उच्च न्यायालय में भेजने के लिए जारी किया जाता है, जिससे वह अपनी शक्ति से अधिक अधिकारों का उपभोग न करे या अपनी शक्ति का दुरुपयोग करते हुए न्याय के प्राकृतिक सिद्धांतों को भंग न करे। इस आज्ञापत्र के आधार पर उच्च न्यायालय निम्न न्यायाधीशों से किन्हीं विवादों के संबंध में सूचना भी प्राप्त कर सकते हैं।

(य) अधिकार–पृच्छा (Quo-warranto)–जब कोई व्यक्ति ऐसे पदाधिकारी के रूप में कार्य करने लगता है, जिसके रूप में कार्य करने का उसे वैधानिक रूप से अधिकार नहीं है तो न्यायालय अधिकार–पृच्छा के आदेश द्वारा उस व्यक्ति से पूछता है कि वह किस आधार पर इस पद पर कार्य कर रहा है और जब तक वह इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर नहीं देता, वह कार्य नहीं कर सकता।

व्यक्तियों के द्वारा साधारण परिस्थितियों में ही न्यायालयों की शरण लेकर अपने मौलिक अधिकारों की रक्षा की जा सकती है, लेकिन युद्ध, बाहरी आक्रमण या सशस्त्र विद्रोह जैसी परिस्थितियों में जबकि राष्ट्रपति के द्वारा संकटकाल की घोषणा कर दी गई हो, मौलिक अधिकारों की रक्षा के लिए कोई व्यक्ति किसी न्यायालय से प्रार्थना नहीं कर सकेगा। इस प्रकार संविधान के द्वारा संकटकाल में नागरिकों के मौलिक अधिकारों (जीवन और व्यक्तिगत स्वतंत्रता के अधिकार को छोड़कर) को स्थगित करने की व्यवस्था की गई है।

संपत्ति का अधिकार

भारतीय नागरिकों को वर्तमान समय में (1979 और इसके बाद) संपत्ति का अधिकतर मूल अधिकार के रूप में प्राप्त नहीं है, लेकिन 44वें संवैधानिक संशोधन (30 अप्रैल, 1979) के पूर्व तक संपत्ति का अधिकार मूल अधिकार के रूप में प्राप्त था। 1950 से लेकर 1978 तक इस अधिकार के संबंध में अनेक संवैधानिक संशोधन हुए और यह अधिकार बहुत विवाद का विषय रहा।

संपत्ति के अधिकार के संबंध में स्थिति

संविधान लागू किए जाने के बाद से ही अनेक पक्षों द्वारा यह सोचा जा रहा था कि भारतीय संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किया गया संपत्ति का मूल अधिकार सामाजिक–आर्थिक न्याय की प्राप्ति में बाधक बन रहा है और इस कारण संपत्ति के अधिकारों को मूल अधिकार के रूप में नहीं बनाए रखा जाना चाहिए। 1977 में सत्तारूढ़ जनता पार्टी द्वारा अपने चुनाव घोषणापत्र में भी कहा गया था कि **'संपत्ति का अधिकार एक मूल अधिकार के रूप में नहीं होगा, वरन् यह केवल एक कानूनी अधिकार होगा।'** अतः संपत्ति के अधिकार के संबंध में 44वें संवैधानिक संशोधन (अप्रैल 1979) में निम्न प्रकार से व्यवस्था की गई है–

संपत्ति का अधिकार अब एक मूल अधिकार नहीं रहा है, वरन् केवल एक कानूनी अधिकार है। 'संपत्ति का अधिकार' मूल अधिकार के रूप में न रहने पर भी कानूनी प्रक्रिया के बिना शासन द्वारा किसी व्यक्ति की संपत्ति नहीं छीनी जा सकेगी। जिन व्यक्तियों के पास भूमि समीकरण कानूनी (*Land Ceiling Act*) की सीमा के भीतर भूमि है और इस भूमि पर वे स्वयं कृषि कार्य करते हैं तो बाजार मूल्य पर मुआवजा दिए बिना उन व्यक्तियों की भूमि राज्य द्वारा नहीं ली जा सकेगी।

7.10. सारांश (Summary)

अधिकार केवल एक दावा मात्र नहीं है। जब कोई दावा अधिकार का रूप धारण करता है, तब यह आवश्यक है कि वह संपूर्ण समाज द्वारा स्वीकृत हो। क्योंकि कोई भी व्यक्ति शून्य में अपने अधिकारों का उपयोग नहीं कर सकता। अधिकारों का उपयोग तो केवल समाज में ही संभव है। परंतु कर्त्तव्यों के विवेचन के बिना अधिकारों का विवेचन अधूरा रह जाएगा। सच्चाई यह है कि कर्त्तव्य अधिकार की कसौटी है। प्रत्येक अधिकार के साथ कोई-न-कोई कर्त्तव्य भी जुड़ा होता है। अतः अधिकार और कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यह कहना बिलकुल सच है कि जो एक व्यक्ति का अधिकार होता है, वही समाज के दूसरे सदस्य

का कर्त्तव्य बन जाता है। नागरिक के अधिकार एवं कर्त्तव्यों का विवेचन भारतीय संविधान में भी वर्जित है। आधुनिक लेखकों ने अधिकारों के चार भेदों का वर्णन किया है–प्राकृतिक अधिकार, कानून अधिकार, नैतिक अधिकार और मूल अधिकार। प्रत्येक मनुष्य जिनका अपने जीवन में उपभोग करता है।

नोट

7.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. अधिकारों की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. राज्य और अधिकारों के मध्य संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. अधिकारों के कितने भेद हैं? स्पष्ट कीजिए।
4. अधिकार और कर्त्तव्यों के संबंधों को विवेचित कीजिए।
5. नागरिक के कर्त्तव्यों का उल्लेख कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-8

स्वतंत्रता
(Liberty)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

8.1. उद्देश्य (Objectives)
8.2. परिचय (Introduction)
8.3. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)
8.4. स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता (Liberty and Sovereignty)
8.5. स्वतंत्रता के भेद (Kinds of Liberty)
8.6. स्वतंत्रता और कानून (Liberty and Law)
8.7. भारतीय संविधान में स्वतंत्रता की अवधारणा
(The Concept of Liberty in Indian Constitution)
8.8. सारांश (Summary)
8.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

8.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आपको स्वतंत्रता का अर्थ एवं परिभाषा के अतिरिक्त भारतीय संविधान में स्वतंत्रता की अवधारणा का अध्ययन कराया जाएगा।

- स्वतंत्रता के अर्थ एवं परिभाषा और उसके भेदों का अध्ययन करेंगे।
- स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता के बारे में जानेंगे।
- स्वतंत्रता और कानून से अवगत होंगे।
- भारतीय संविधान में स्वतंत्रता की अवधारणा के बारे में जानेंगे।

8.2. परिचय (Introduction)

'स्वतंत्रता' आधुनिक शब्दावली के सर्वाधिक प्रचलित शब्दों में से एक है। मानव-व्यक्तित्व के सर्वांगीण विकास के लिए जिन अनेक परिस्थितियों की आवश्यकता होती है, स्वतंत्रता भी उनमें से एक है। कभी-कभी तो यहाँ तक कहा जाता है कि मानव समाज ने आज तक जो भी प्रगति की है, वह उसके स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए किए गए प्रयत्नों का ही परिणाम है।

स्वतंत्रता अनेकार्थवाची शब्द है। इसकी उन कुछ शब्दों में गणना की जा सकती है जिन्होंने मानव-समाज के इतिहास पर व्यापक प्रभाव डाला है लेकिन इस पर भी जिनका लोग अक्सर बिना अर्थ समझे हुए ही प्रयोग करते रहे हैं। प्रजातंत्र की तरह इसकी भी कोई सर्वसम्मत परिभाषा देना कठिन है। विभिन्न व्यक्ति इससे विभिन्न अभिप्राय ग्रहण करते हैं। पराधीन देश के निवासियों के लिए स्वतंत्रता का अभिप्राय

नोट

साम्राज्यवाद को नष्ट करना और 'स्वराज्य' प्राप्त करना है। जिन देशों में निरंकुश और अनुत्तरदायी शासन प्रचलित होता है, और वहाँ की जनता निरंकुशता का अंत कर लोकतंत्रात्मक शासन की स्थापना का प्रयास करती है, उसे भी स्वातंत्र्य-आंदोलन के नाम से ही संबोधित किया जाता है। पुनश्च, स्वतंत्र विचारकों की दृष्टि में स्वतंत्रता का अभिप्राय धार्मिक रूढ़ियों और परंपरागत विश्वासों को त्याग देना होता है। फिर, जो व्यक्ति धार्मिक विश्वासों के होते हैं, वे स्वतंत्रता का सच्चा अर्थ : निर्वाण' ही समझते हैं। आत्मा शरीर के बंधनों से मुक्ति प्राप्त करे, उनकी दृष्टि में यही सच्ची स्वतंत्रता है। अंशतः कुछ लोग स्वतंत्रता का यह अर्थ भी लगाते हैं कि मनुष्य के ऊपर किसी भी प्रकार का, सामाजिक, राजनीतिक या नैतिक प्रतिबंध न रहे। उसकी स्वतंत्रता तभी सार्थक हो सकती है जब वह अपनी इच्छानुसार आचरण कर सके।

8.3. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)

स्वतंत्रता शब्द की अनेकार्थता को देखते हुए राजनीतिशास्त्र के छात्रों के लिए यह उपयोगी है कि वे उसकी वास्तविक परिभाषा समझ लें। स्वतंत्रता शब्द का अंग्रेजी पर्याय 'लिबर्टी' (Liberty) है। इसकी उत्पत्ति लैटिन शब्द 'लिबर' (Liber) से हुई है, जिसका अर्थ है–मुक्ति। इस प्रकार स्वतंत्रता का शाब्दिक अर्थ "इच्छानुकूल कार्यों को करने की स्वतंत्रता" है। यदि हम स्वतंत्रता का यह अर्थ ग्रहण करते हैं, तो स्वतंत्रता स्वच्छंदता या उच्छृंखलता की पर्यायवाची बन जाती है। यह स्वतंत्रता की निषेधात्मक मान्यता है। इस दृष्टि से स्वतंत्रता कानून की अनुपस्थिति बन जाती है। किसी भी सभ्य समाज में मनुष्य को जो वह चाहे, उसे करने की स्वतंत्रता के साथ ही साथ दूसरों की स्वतंत्रता का ध्यान रखना पड़ता है। इसका अभिप्राय यह है कि उसे अपनी और दूसरों की सुख-सुविधा के विचार से अपने कार्यों के ऊपर कुछ प्रतिबंधों को स्वीकार करना पड़ता है।

स्वतंत्रता की सकारात्मक परिभाषा–अतः स्वतंत्रता केवल प्रतिबंधों का ही अभाव नहीं है। **गेटेल** के विचार से समाज में स्वतंत्रता के नकारात्मक (Negative) और सकारात्मक (Positive) दोनों पहलू होते हैं। केवल अन्याय युक्त प्रतिबंधों की अनुपस्थिति से ही सच्ची स्वतंत्रता नहीं पैदा होती। हम नहीं कह सकते कि कुरूपता की अनुपस्थिति ही सुंदरता है। सुंदरता उससे कुछ बढ़ कर है। इसी प्रकार अंधकार के अभाव को ही प्रकाश नहीं माना जा सकता। प्रकाश उससे कुछ बढ़कर चीज है। स्वतंत्रता के लिए आवश्यक है कि समाज में केवल प्रतिबंधों का अभाव ही न रहे, प्रत्युत व्यक्ति के आत्म-विकास के लिए आवश्यक साधन भी उपलब्ध होने चाहिए। **ग्रीन** और **लास्की** ने स्वतंत्रता के इसी सकारात्मक पक्ष (Positive Aspect) पर बल दिया है। **ग्रीन** के शब्दों में स्वतंत्रता उस वातावरण को तत्पर भाव से बनाए रखने का नाम है जिसमें व्यक्ति को अपने अधिकतम आत्म-विकास का सुअवसर प्राप्त हो सके। इस दृष्टि से यदि हम यह ज्ञात करना चाहें कि एक राज्य में कहाँ तक स्वतंत्रता है, तो हमें इसका पता इसी बात से लग सकता है कि उस राज्य में नागरिकों को क्या अधिकार प्राप्त हैं, उन्हें अपने आत्म-विकास के लिए क्या-क्या सुविधाएँ उपलब्ध हैं।

स्वतंत्रता के संबंध में प्रमुख विद्वानों के विचार–उक्त विवेचन से स्वतंत्रता की दोनों निषेधात्मक और सकारात्मक मान्यताओं का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। यहाँ हम स्वतंत्रता के संबंध में कुछ प्रमुख विद्वानों के विचारों को उपस्थित करते हैं। इससे स्वतंत्रता का अर्थ समझने में सुविधा होगी। **हॉब्स** (Hobbes) के अनुसार स्वतंत्रता का तात्पर्य विरोध का अभाव है। **लॉक** (Lock) के विचार से, "व्यक्ति की नैसर्गिक स्वतंत्रता यह है कि वह पृथ्वी में प्रत्येक उच्च शक्ति से स्वतंत्र है तथा किसी मनुष्य की इच्छा अथवा विधायिनी शक्ति के अधीन नहीं है।" **लॉक** की दृष्टि में स्वतंत्रता में कानून के अतिरिक्त अन्य नियंत्रणों का अभाव है। **मांटेस्क्यू** (Montesquieu) के अनुसार–"राज्यों में अर्थात् उन समाजों में जो कि कानून द्वारा नियंत्रित हैं, स्वतंत्रता का अर्थ अपनी उचित इच्छा के अनुसार कार्य करने की शक्ति तथा अपनी उचित इच्छा के विपरीत किसी कार्य के लिए बाध्य न किए जाने से हो सकता है।" **ग्रीन** (Green) की स्वतंत्रता संबंधी मान्यता का हम ऊपर उल्लेख कर ही चुके हैं। उसके शब्दों में, "स्वतंत्रता उन कार्यों को करने अथवा उन वस्तुओं के उपभोग करने की शक्ति है जो कि करने अथवा उपभोग के योग्य है।" **लास्की** के मत से, "स्वतंत्रता उन सामाजिक परिस्थितियों पर प्रतिबंधों का अभाव है जो कि आधुनिक सभ्यता में व्यक्ति के सुख-साधन के लिए आवश्यक होती है।" **फ्रेंच** अधिकारों की घोषणा (1789) में कहा गया था कि, "स्वतंत्रता वह सब करने की शक्ति है जिससे दूसरों की हानि नहीं होती। अतः प्रत्येक व्यक्ति के प्राकृतिक अधिकारों के उपभोग करने की इसके अतिरिक्त कोई सीमा नहीं है कि समाज के अन्य सदस्यों के लिए भी इन्हीं अधिकारों के उपभोग की पूर्ण

संभावना हो।" **हर्बर्ट स्पेंसर** (Herbert Spencer) ने लिखा है, "प्रत्येक मनुष्य वह करने को स्वतंत्र है जिसकी वह इच्छा करता है यदि वह किसी मनुष्य की समान स्वतंत्रता का हनन न करता हो। **रैम्जे म्योर** (Ramsay Muir) के अनुसार, ''मेरे विचार से स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति और व्यक्ति-समूह स्वतः आंतरिक प्रेरणा से चिंतन कर सकें। अपने विचारों को व्यक्त कर सकें और उन पर आचरण कर सकें, वे अपनी विशेष प्रतिभाओं का कानून के संरक्षण में अपने ढंग से प्रयोग कर सकें। इस शर्त के साथ कि उनसे दूसरों के तत्स्थायी अधिकारों को कोई चोट नही पहुँचे।" **लॉर्ट एक्टन** (Lord Acton) ने भी स्वंत्रता के संबंध में बहुत कुछ इसी तरह के विचार व्यक्त किए हैं। उन्होंने कहा है कि "स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति को वह कार्य करने दिया जाना चाहिए जिसे वह ठीक समझता है। श्रेष्ठ व्यक्ति यह पसंद कर सकता है कि उसका देश निर्धन और महत्त्वहीन रहे। लेकिन वह यह कभी नहीं चाहेगा कि उसका देश पराधीन हो।" वास्तव में स्वतंत्रता का मूलतत्व स्वतंत्र चिंतन है। यदि मनुष्य अपने मस्तिष्क का प्रयोग नहीं कर सकता, तो उसकी नागरिक स्वतंत्रताएँ निष्फल होती हैं।

नोट

स्वतंत्रता के विभिन्न पक्षों और समस्याओं पर प्रसिद्ध व्यक्तिवादी विचारक **जॉन स्टुअर्ट मिल** (John Stuart Mill) ने अपनी पुस्तक 'On Liberty' में गंभीर विचार किया है। इस पुस्तक की तुलना व्यक्ति की स्वतंत्रता का पक्ष-प्रतिपादन करने के लिए लिखी गई मिल्टन की 'Aeropagitic' तथा **रूसो** की 'Social Contract' जैसी कृतियों से की जाती है। **मिल** का कहना है कि स्वतंत्रता के सिद्धांत का प्रयोग बच्चों, अपरिपक्व व्यक्तियों अथवा पिछड़ी जाति के लोगों के ऊपर नहीं होना चाहिए। पिछड़ी जाति के लोगों के लिए **मिल** ने निरंकुशत को ही उचित ठहराया है। **मिल** की दृष्टि में मनुष्य को विचारों और उनको प्रकट करने की पूरी स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। **मिल** विचार-स्वातंत्र्य को दो आधारों पर समर्थन करता है। **मिल** का कहना है कि आज जिन विचारों को झूठा समझकर दबाने की कोशिश की जाती है हो सकता है कि वे आगे चलकर सच्चे प्रमाणित हों। प्राचीन काल में जिन विचारों को झूठा समझा जाता था, आगे चलकर वे सच्चे प्रमाणित हुए। **ईसा** और **सुकरात** इसके उदाहरण हैं। यदि दबाए जाने वाले विचार झूठे हों, तब भी उन्हें रहने देना चाहिए। यदि वे असत्य हैं, तो सत्य विचारों से टक्कर होने पर वे स्वयं नष्ट हो जाएँगे। सत्य और असत्य विचारों की टक्कर होने पर असत्य विचारों का तो नाश हो जाता है तथा सत्य विचार और भी अधिक पक्षपाती हो जाता है। उसका कहना था कि, "यदि सारी मानव जाति में से एक व्यक्ति को शेष लोगों को अपना मत प्रकट करने से रोकने का अधिकार नहीं है, ठीक उसी प्रकार शेष मानव जाति के लिए भी यह उचित नहीं है कि वह उस व्यक्ति को अपना मत प्रकट करने से रोके।"

8.4. स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता (Liberty and Sovereignty)

प्रभुसत्ता और स्वतंत्रता का विरोध राजनीतिक जीवन की प्रमुख विशेषताएँ यह है कि राज्य की प्रभुसत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता में निरंतर विरोध बना रहता है। राज्य के अंदर यह स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि वह अपनी शक्ति का अधिकाधिक विस्तार करना चहता है। दूसरी ओर व्यक्ति की यह चेष्टा रहती है कि वह राज्य के शक्ति विस्तार का प्रतिरोध करे। राज्य की प्रभुसत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता के इस अंतर्विरोध को दृष्टि में रखते हुए ही **सिंडिकलिस्ट** अराजकतावादी और व्यक्तिवादी विचारकों का मत है कि प्रभुत्व संपन्न राज्य में व्यक्ति स्वतंत्रता का उपभोग नहीं कर सकता। यदि व्यक्ति स्वतंत्रता का उपभोग करना चाहता है तो यह आवश्यक है कि राज्य की प्रभुसत्ता का उन्मूलन किया जाए। लेकिन यह विचार सही नहीं है। यह आवश्यक नहीं है कि राज्य की प्रभुसत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता में अनिवार्य विरोध हो ही। यदि हम इस समस्या पर जरा गम्भीरता से विचार करेंगे, तो हमें ज्ञात होगा कि वास्तव में राज्य की प्रभुसत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता एक-दूसरे की विरोधी नहीं हैं। सच्चाई यह है कि उनमें घनिष्ठ संबंध है और वे काफी हद तक एक दूसरे की पूरक हैं।

हम इस बात का पहले ही उल्लेख कर चुके हैं कि स्वतंत्रता का अस्तित्व केवल सभ्य समाज में ही संभव है। सभ्य समाज में भी किसी व्यक्ति को अनियंत्रित स्वतंत्रता नहीं मिल सकती। स्वतंत्रता के साथ कुछ बंधन आवश्यक रूप से लगे हुए हैं और मनुष्य जिस स्वतंत्रता का उपभोग करते हैं या कर सकते हैं, वह केवल मर्यादित या सीमित स्वतंत्रता ही है। यदि कोई अमर्यादित स्वतंत्रता का उपभोग करना चाहे, तो इसका परिणाम अराजकता या 'मत्स्य-न्याय' की दशा होगी। राज्य की सत्ता, समाज में शांति एवं व्यवस्था की स्थापना करती है और इस बात का प्रयास करती है कि समाज में छोटे-बड़े, धनी-निर्धन, निर्बल-सबल सभी

नोट

लोगों को बिना किसी भेद-भाव के स्वतंत्रता के उपभोग का अवसर मिल सके। यदि राज्य अपनी सत्ता के प्रयोग द्वारा समाज में व्यवस्था बनाए रखने का प्रयास न करे, और व्यक्तियों को अनियंत्रित स्वतंत्रता के उपभोग की छूट दे दे तो सशक्त व्यक्तियों की बन आएगी। वे मनचाही स्वतंत्रता का उपभोग कर सकेंगे और दुर्बल व्यक्तियों को दबा देंगे। राज्य की प्रभुसत्ता समाज में इस तरह की परिस्थितियाँ पैदा करती है कि एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता का उल्लंघन न कर सके। प्रत्येक व्यक्ति अपनी स्वतंत्रता का उपभोग करे लेकिन इस तरह से जिससे कि दूसरे व्यक्ति की स्वतंत्रता में कोई विघ्न उपस्थित न हो।

स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता के संबंध को एक अन्य रीति से और समझा जा सकता है। राज्य की प्रभुसत्ता समाज में ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके, अपनी सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि कर सके। हम इस बात को ऊपर कह आए हैं कि स्वतंत्रता के दो पक्ष होते हैं–नकारात्मक और सकारात्मक। नकारात्मक अर्थों में स्वतंत्रता प्रतिबंधों का अभाव है। लेकिन, यह स्वतंत्रता की शुद्ध परिभाषा नहीं है। केवल प्रतिबंधों के अभाव से ही स्वतंत्रता की स्थापना नहीं हो सकती। वास्तविक स्वतंत्रता के लिए ऐसी परिस्थितियाँ आवश्यक हैं जिनमें व्यक्ति अपने जीवन की विविध आवश्यकताओं को पूरा कर सके और सानंद जीवन व्यतीत कर सके। इन परिस्थितियों का निर्माण केवल राज्य ही कर सकता है। इस बात को स्पष्ट करते हुए **लास्की** ने कहा है, "स्वतंत्रता का तात्पर्य केवल प्रतिबंध की अनुपस्थिति ही नहीं है। प्रकटतः व्यवस्था आपसी सहमति की वृत्ति का परिणाम है क्योंकि बिना सामान्य नियमों के हम साथ-साथ नहीं रह सकते ..... ऐतिहासिक अनुभव ने हमारे लिए ऐसे नियम बना दिए हैं, जो समुचित जीवन की सुविधा देते हैं। उनका पालन करने के लिए विवश करना मनुष्य को परतंत्र करना नहीं है। जब भी आचार-व्यवहार के ऐसे मार्गों को जो सामान्य हित में न हों प्रतिबंधित करना आवश्यक हो जाए तो उनका स्वच्छंद कार्यक्षेत्र से हटाया जाना स्वतंत्रता पर आक्रमण नहीं समझा जाना चाहिए।"

फिर, स्वतंत्रता से हमारा आशय उन अधिकारों अथवा सुविधाओं से है जिनका नागरिक उपभोग करते हैं। राज्य न केवल इन अधिकारों और सुविधाओं का निर्माण ही करता है, वह उनको कायम भी रखता है। राज्य से विलग होकर नागरिक शक्तियों का उपभोग कर सकते हैं, अधिकारों का नहीं। अतः स्वतंत्रता के लिए राज्य की प्रभुसत्ता अनिवार्य है।

8.5. स्वतंत्रता के भेद (Kinds of Liberty)

स्वतंत्रता के पाँच भेद–अधिकांश राजनीतिक विचारकों ने स्वतंत्रता के पाँच भेदों को स्वीकार किया है वे पाँच भेद हैं–प्राकृतिक या नैसर्गिक स्वतंत्रता (Natural Liberty), नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty), राजनैतिक स्वतंत्रता (Political Liberty), आर्थिक स्वतंत्रता (Economic Liberty) और राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National Liberty)। नीचे हम स्वतंत्रता के इन भेदों में से प्रत्येक पर जरा विस्तार से विचार करेंगे।

1. **प्राकृतिक स्वतंत्रता** (Natural Liberty)–प्राकृतिक स्वतंत्रता (Natural Liberty) का सिद्धांत बहुत कुछ अस्पष्ट सा है। यह कहना कठिन है कि इसका वास्तविक अभिप्राय क्या है। साधारणतया 'प्राकृतिक स्वतंत्रता' वाक्यांश का तीन विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है। जन-भाषा में प्राकृतिक स्वतंत्रता का अर्थ यह समझा जाता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपना मनचाहा कार्य करने की छूट होनी चाहिए। इस आशय में प्राकृतिक स्वतंत्रता उच्छृंखलता की पर्याय बन जाती है। व्यावहारिक जीवन में इस प्रकार की स्वतंत्रता का परिणाम सामाजिक जीवन को तहस-नहस करना होगा। यदि हम सामाजिक जीवन को शांति और सुचारु रूप से चलाना चाहते हैं, तो समाज के किसी भी सदस्य को मनचाहा कार्य करने की छूट नहीं मिल सकती। प्राकृतिक स्वतंत्रता का दूसरा आशय उस स्वतंत्रता से समझा जाता है, जिसका मनुष्य सामाजिक संविदा सिद्धांत (Social Contract Theory) के विचारकों के अनुसार सामाजिक और राजनीतिक संगठन के जन्म के पूर्व उपभोग करता था। प्राकृतिक स्वतंत्रता की इस मान्यता के संबंध में सामाजिक संविदा सिद्धांत के तीनों प्रमुख विचारकों-**हॉब्स** (Hobbes), **लॉक** (Lock) और **रूसो** (Rousseau) की अलग-अलग राय हैं। **हॉब्स** (Hobbes) के अनुसार प्राकृतिक अवस्था नितांत जंगलीपन की अवस्था थी और उसमें मनुष्य जिस ढंग से चाहता था, आचरण करता था। उसके ऊपर किसी प्रकार का नियंत्रण नहीं था। **हॉब्स** के विचार से इस अवस्था में मनुष्य की स्वतंत्रता की केवल एक ही कसौटी थी, वह थी–उसकी शक्ति। जिस व्यक्ति के पास जितनी अधिक शक्ति होती थी, वह उतनी ही अधिक स्वतंत्रता का उपभोग करता था।

छात्र क्रियाकलाप

1. स्वतंत्रता का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. स्वतंत्रता के भेदों का वर्णन कीजिए।

नोट

2. नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty)—नागरिक स्वतंत्रता का अर्थ उन अधिकारों एवं सुविधाओं से है जिनका मनुष्य सभ्य समाज के सदस्य के नाते उपभोग करता है। नागरिक स्वतंत्रता के अनेक भेद होते हैं, यथा : विचार और भाषण की स्वतंत्रता, संघ बनाने की स्वतंत्रता और संपत्ति के धारण, व्ययन और अर्जन की स्वतंत्रता आदि। मनुष्य के आत्म-विकास के लिए नागरिक स्वतंत्रताएँ अत्यंत आवश्यक हैं। जहाँ ये स्वतंत्रताएँ राज्य द्वारा निर्मित कानूनों के ऊपर निर्भर होती हैं। संसार के अधिकांश लोकतंत्रात्मक देशों में वहाँ के संविधान व्यक्ति को कतिपय नागरिक स्वतंत्रताएँ प्रदान करते हैं और राज्य अथवा शासन से यह अपेक्षा रखते हैं कि वे इन स्वतंत्रताओं का पालन करेंगे। अमरीका और भारत के संविधान इसके उदाहरण हैं।

लेकिन, नागरिक स्वतंत्रता भी अमर्यादित नहीं होती। प्रत्येक राज्य अपने पास यह अधिकार सुरक्षित रखता है कि वह असाधारण परिस्थितियों में या राष्ट्रीय संकट के कालों में इन नागरिक स्वतंत्रताओं को स्थगित कर सकता है। उदाहरण के लिए भारतीय संविधान ने व्यवस्था की है कि राष्ट्रपति द्वारा निकाली गई आपात की उद्घोषणा (Proclamation of Emergency) के प्रवर्तन काल में राष्ट्रीय सुरक्षा के विचार से नागरिक स्वतंत्रताओं को स्थगित किया जा सकता है।

3. राजनीतिक स्वतंत्रता (Political Liberty)—राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि नागरिक राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय भाग लेते हैं। नागरिक राजनीतिक स्वतंत्रता का उपभोग केवल लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणालियों के अंतर्गत ही कर सकते हैं क्योंकि इन शासन-प्रणालियों के अंतर्गत ही शासन का अंतिम सूत्र जनता के हाथों में रहता है। अधिनायकवादी अथवा सर्वाधिकारवादी देशों में जनता की राजनीतिक स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं रहता क्योंकि वहाँ जनता की अपनी रंचमात्र भी स्वतंत्र इच्छाशक्ति नहीं होती और शासन-तंत्र में उसकी स्थिति केवल कठपुतली की भाँति ही रहती है। राजनीतिक स्वतंत्रता के बारे में **लास्की** ने लिखा है कि "इसका अर्थ राज्य के मामलों में सक्रिय हो पाने की शक्ति है। इसका तात्पर्य यह है कि मैं सार्वजनिक कार्यों के सार तत्वों के बारे में अपना दिमाग, स्वतंत्रतापूर्वक प्रयुक्त कर सकता हूँ। सामान्य सामूहिक अनुभव में अपने विशेष अनुभव का बेरोकटोक योगदान करने की सुविधा मुझे प्राप्त होनी ही चाहिए। मेरे सामने ऐसी कोई अड़चनें न होनी चाहिए जो मुझे सत्ता के स्थानों तक न पहुँचने दे। मुझे अपना मत प्रकट कर पाने और मत की घोषणा में दूसरों से मेल रख पाने के योग्य होना चाहिए।"

4. मतदान का अधिकार—आजकल संसार के अधिकांश देशों में परोक्ष या प्रतिनिधिक लोकतंत्र (Indirect or Representative democracy) प्रचलित है। इसका अभिप्राय यह है कि जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि विधानमंडलों में जाकर जनता के कानूनों का निर्माण करते हैं, जनता के ऊपर शासन करते हैं, लेकिन वे अंतिम रूप से जनता के प्रति उत्तरदायी भी रहते हैं। ऐसी स्थिति में मतदान के अधिकार का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। लोकतंत्र की यह एक आवश्यक शर्त है कि समाज में मतदान का अधिकार केवल कुछ अपवादों, उदाहरण के लिए पागलों, बुद्धिहीनों, अल्पवयस्कों और बड़े अपराधियों को छोड़कर प्रत्येक वयस्क स्त्री-पुरुष को मिलना चाहिए। कुछ लोगों का कहना है कि मतदान के अधिकार के लिए शिक्षा या संपत्ति विषयक योग्यताएँ रखनी चाहिए। यह अनुचित है। मतदान के अधिकार पर उक्त कुछ अपवादों को छोड़कर और किसी प्रकार का बंधन नहीं रहना चाहिए तथा वह सबको इसी प्रकार सहज-सुलभ होना चाहिए जिस प्रकार हवा और पानी। मतदान का अधिकार स्त्रियों को भी पुरुषों के समान उपलब्ध होना चाहिए। दुर्भाग्यवश कुछ लोगों का अब भी यह विचार है कि, "स्त्री का उचित स्थान घर ही है।" यह ठीक नहीं है। आज स्त्री भी जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुष के समान ही अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन कर रही है।

5. निर्वाचन में खड़े होने का अधिकार—सार्वजनिक पद पर नियुक्ति के अधिकार मतदान के अधिकार की ही एक उपसिद्धि है। यदि नागरिक को यह अधिकार दिया जाता है कि वह अपने प्रतिनिधियों को चुन सके तो उसे इस बात का भी अधिकार मिलना ही चाहिए कि वह स्वयं भी निर्वाचन में खड़ा हो सके और प्रतिनिधि चुना जा सके।

6. सार्वजनिक पद पर नियुक्ति का अधिकार—सार्वजनिक पद पर नियुक्ति के अधिकार का आशय यह है कि समाज के छोटे से छोटे व्यक्ति को बड़े से बड़े पद तक पहुँचने का अधिकार होना चाहिए बशर्ते कि व्यक्ति में उस पद के लायक आवश्यक योग्यता हो। यह नहीं होना चाहिए कि सार्वजनिक पद वंश के आधार पर दिए जाएँ या वे समाज के कुछ विशेष वर्गों के लिए सुरक्षित रखे जाएँ। विदेशी शासक अपने अधीन देशों में अक्सर इसी नीति को अपनाते हैं। वे शासन के समस्त महत्त्वपूर्ण पदों पर केवल अपने यहाँ के लोगों को ही नियुक्त करते हैं। भारत में ब्रिटिश शासकों ने यही नीति अपनाई थी। सार्वजनिक पद पर नियुक्ति का

अधिकार सार्थक तभी हो सकता है जब समाज में आर्थिक विषमता न हो। यदि समाज में आर्थिक असमानता रहती है तो निर्धन वर्ग उच्च शिक्षा नहीं पा सकता और इस प्रकार उन योग्यताओं से वंचित रह जाता है जो कभी-कभी उच्च पद पर नियुक्ति के लिए आवश्यक होती है।

नोट

7. शासन-नीति की आलोचना का अधिकार—लोकतंत्रात्मक देशों में जनता को शासन-नीति की रचनात्मक आलोचना का अधिकार भी प्राप्त होना चाहिए। रचनात्मक आलोचना का अभिप्राय यह है कि आलोचना तथ्यों पर आधारित होनी चाहिए केवल भावनाओं पर नहीं। शासक-वर्ग में अक्सर यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि वे अपनी आलोचना सुनना पसंद नहीं करते। इस प्रवृत्ति से अधिनायकवाद का पथ प्रशस्त होता है। अमरीकी सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति **ह्युज** ने कहा है, "यदि हम अपने समाज और संस्थाओं को हिंसा व शक्ति के प्रहारों से सुरक्षित रखना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम जनता को स्वतंत्र भाषण, स्वतंत्र प्रेस और स्वतंत्र सभा के वैधानिक अधिकार दें, जिनसे स्वतंत्र राजनीतिक विचार-विमर्श के लिए अवसर मिल सके, सरकार लोकेच्छा के प्रति उत्तरदायी हो सके और यदि परिवर्तनों की आवश्यकता हो, तो वे शांतिपूर्ण साधनों से किए जा सकें। यही गणराज्य की सुरक्षा का साधन और वैधानिक शासन का आधार है।" यदि व्यक्ति शासन की प्रत्येक नीति को आँख मूँदकर ग्रहण करता है तो उसकी चिंतन शक्ति कुण्ठित हो जाती है और वह लोकतंत्र के योग्य नहीं रहता। **नार्मन एंजेल** के शब्दों में, "एक ओर तो अनुत्तरदायी शक्ति की आदत और दूसरी ओर मौन अधीनता अंततोगत्वा उस नैतिक वातावरण को असंभव बना देती है। जिसमें स्वशासन का सामान्य भाव जीवित रह सकता है और पनप सकता है।"

8. आर्थिक स्वतंत्रता—लोकतंत्र सच्चा तो तभी हो सकता है जबकि वह राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता दोनों पर समान रूप से निर्भर हो। **लेनिन** के शब्दों में, ''राजनीतिक अथवा नागरिक स्वतंत्रता आर्थिक स्वतंत्रता के बिना बिल्कुल बेकार है। आर्थिक स्वतंत्रता वह नहीं है जिसे पूँजीपति "स्वतंत्र प्रतियोगिता" (free compition) के नाम से पुकारते हैं। आर्थिक स्वतंत्रता का अवसर हो कि वह अपने जीविकोपार्जन को पर्याप्त अर्थवत्ता दे सके अर्थात् मुझे बेकारी और अभाव के सतत् भय से, जो अन्य किन्हीं कमियों से नहीं बल्कि व्यक्तित्व को चाट जाती है, मुक्ति हो। आगामी कल की आवश्यकताओं के दानव से मेरी सुरक्षा होनी ही चाहिए। मुझे यह विश्वास होना चाहिए कि मैं एक घर बना सकता हूँ और उस घर को आत्माभिव्यक्ति का माध्यम अपना सकता हूँ। मुझे इस योग्य होना चाहिए कि मैं सेवाओं के उत्पादक के रूप मे अपने प्रयत्नों में अपने व्यक्तित्व का आभास दे सकूँ और उसी प्रयत्नों में समृद्धि पाऊँ। यदि मनुष्यों को इस तरह की स्वतंत्रताएँ नहीं मिलती तो वे उस युग के दासों से कुछ कम नहीं सच्चे अर्थों में दास जब वह खरीद और बेच के लिए बाजार में खड़े किए जाते थे।"

9. राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National Liberty)—राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अर्थ यह होता है कि प्रत्येक राष्ट्र को इस बात का अधिकार है कि वह अपना शासन जिस तरह से करना चाहे कर सकता है। बाहर की किसी शक्ति को यह अधिकार नहीं है कि वह दूसरे देश पर अपनी प्रभुता स्थापित करे। यह कोई भी देश नहीं चाहता कि वो दूसरे देश की अधीनता में रहे। यही कारण है कि जब भी कोई देश परतंत्र हो जाता है। तब वह स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए भरसक प्रयास करता है और बड़े-से-बड़े त्याग करने के लिए प्रस्तुत रहता है। राष्ट्रीय स्वतंत्रता का विचार हाल की उत्पत्ति है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में यह विचार फ्रांस की राज्यक्रांति के पश्चात् ही शक्तिशाली हुआ है। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के कई देशों ने राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त की। 1833 में यूनान तुर्की के आधिपत्य से मुक्त हो गया। कहा जाता है कि प्रथम महायुद्ध अंतर्राष्ट्रीय स्वतंत्रता के सिद्धांत के आधार पर ही लड़ा गया था। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दियों में पश्चिम के शक्तिशाली देशों ने एशिया और अफ्रीका के दुर्बल देशों पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। अब इतिहास करवट बदल रहा है और एशिया तथा अफ्रीका के प्रायः सभी देश एक-एक कर स्वतंत्र हो गए हैं।

8.6. स्वतंत्रता और कानून (Liberty and Law)

कानून और स्वतंत्रता के संबंध में आदर्शवादियों का मत—कानून और स्वतंत्रता के संबंध में दो परस्पर-विरोधी विचार मिलते हैं। पहला विचार आदर्शवादियों (Idealists) का है। ये विचारक कानून और स्वतंत्रता का तभी उपभोग कर सकते हैं जब वे राज्य के आदेशों का चुपचाप पालन करते रहें। आदर्शवादियों की दृष्टि में राज्य संपूर्ण स्वतंत्रता और नैतिकता का मूल है। अतः राज्य का कोई भी आदेश नैतिकता या स्वतंत्रता के प्रतिकूल नहीं हो सकता। यदि व्यक्ति स्वतंत्रता का उपभोग करना चाहता है, तो उसके लिए

नोट

यह अभीष्ट है कि वह अपनी निजता को राज्य के अंदर अधिकाधिक विलीन कर दें। कानून और स्वतंत्रता के इस संबंध पर आदर्शवादी विचारकों ने काफी लिखा है। उदाहरण के लिए **अरस्तू** (Aristotle) ने कहा है, "मनुष्य अपनी पूर्णता में प्राणधारियों में सर्वश्रेष्ठ है। परंतु जब वह कानून तथा न्याय से पृथक् हो जाता है। तब वह सबसे निकृष्ट बन जाता है। **अरस्तू** के इस कथन से यह स्पष्ट है कि वह केवल राज्य में ही राज्य के कानूनों के अंतर्गत ही मानवीय गुणों का पूर्ण प्रस्फुटन संभव मानता था। आधुनिक काल के अनेक विचारकों ने भी इस मत को पुष्ट किया है। राज्य की उत्पत्ति के सामाजिक संविदा (Social Contract) सिद्धांत के प्रतिपादकों का कहना है कि राज्य की उत्पत्ति के पूर्व मनुष्य नितांत जंगलीपन की दशा में रहता था। मनुष्य का सभ्य जीवन राज्य की उत्पत्ति के पश्चात् ही संभव हुआ है। **हींगल** राज्य को स्वतंत्रता का मूर्त रूप मानता है। यद्यपि अंग्रेज विचारक **ग्रीन** (Green) आदर्शवादियों में सबसे अधिक व्यक्तिवादी है, लेकिन स्वतंत्रता के लिए राज्य को एवं उसके कानूनों को उसने भी आवश्यक ठहराया है। **बोसांके** का भी यही विचार है।

8.7. भारतीय संविधान में स्वतंत्रता की अवधारणा (The Concept of Liberty in Indian Constitution)

भारतीय संविधान की उद्देशिका में 'स्वतंत्रता' की सकरात्मक कल्पना प्रस्तुत की गई है। यह विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता है। संविधान का अनुच्छेद–19 भारत के नागरिकों को यह बुनियादी स्वतंत्रताएँ देता है। ये स्वतंत्रताएँ हैं–(1) भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता (2) बिना हथियारों के शांतिपूर्वक सम्मेलन करने की स्वतंत्रता (3) संगत बनाने की स्वतंत्रता (4) भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र आने-जाने की स्वतंत्रता (5) भारत के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतंत्रता, और (6) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता। ये स्वतंत्रताएँ प्रत्येक नागरिक को सुलभ हैं और उसके नैसर्गिक अधिकार हैं। भारतीय न्यायालयों ने इन स्वतंत्रताओं के अतिरिक्त कुछ अन्य स्वतंत्रताओं का भी उल्लेख किया है : जीवित रहने की स्वतंत्रता, मतदान करने तथा चुनाव लड़ने की स्वतंत्रता, समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता, सरकारी कर्मचारियों का नौकरी में बने रहने का अधिकार, हड़ताल करने का अधिकार, जानकारी प्राप्त करने का अधिकार आदि। ये स्वतंत्रताएँ असीमित नहीं हैं। इन्हें बृहत्तर सामाजिक हितों के अधीन माना गया है। सरकार भारत की प्रभुसत्ता तथा अखंडता, राज्य की सुरक्षा, विदेशी राज्यों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध, लोक-व्यवस्था, शिष्टाचार या सदाचार के हित, न्यायालय की अवमानना, मानहानि या अपराध के लिए प्रोत्साहन के संबंध में उचित कानून बनाकर नागरिकों की स्वतंत्रताओं पर युक्तियुक्त प्रतिबंध आरोपित कर सकती है।

संविधान ने "युक्तियुक्त प्रतिबंध" पद की व्याख्या नहीं की है। इसलिए, प्रत्येक मामले का निर्णय उसके गुणावगुण के आधार पर ही हो सकती है।

1. **भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता**–भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता लोकतंत्र की आवश्यक शर्त है। न्यायमूर्ति पतंजलि शास्त्री ने इसका आशय स्पष्ट करते हुए कहा है–मुक्त राजनीतिक विचार-विमर्श के अभाव में कोई भी सार्वजनिक शिक्षा-संभव नहीं है।"

2. **राज्य की सुरक्षा**–राज्य की सुरक्षा लोक अव्यवस्था के गंभीर रूपों की ओर संकेत करती है। विद्रोह, राज्य के विरुद्ध युद्ध, बगावत आदि से राज्य को खतरा हो सकता है और इसका निवारण करने के लिए सरकार विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर अंकुश लगा सकती है।

3. **विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध**–भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर यह प्रतिबंध संविधान (प्रथम संशोधन) अधिनियम,1951 ने लगाया था। इस उपबंध की इस आधार पर आलोचना की गई है कि इसके फलस्वरूप सरकार की विदेश नीति की आलोचना पर भी रोक लगाई जा सकती है।

4. **लोक-व्यवस्था**–उच्चतम न्यायालय ने कहा है कि लोक-व्यवस्था के साधारण उल्लंघनों के आधार पर भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर कोई प्रतिबंध नहीं लगाया जा सकता। लोक-व्यवस्था पद के व्यापक ध्वनितार्थ हैं। इसका अर्थ शांति की वह स्थिति है जो सरकार द्वारा प्रवर्तित आंतरिक विनियमों के परिणामस्वरूप राजनीतिक समाज के सदस्यों में पाई जाती है।

छात्र क्रियाकलाप

1. स्वतंत्रता और कानून को परिभाषित कीजिए।

2. भारतीय संविधान में स्वतंत्रता की क्या अवधारणा है? स्पष्ट कीजिए।

5. शिष्टाचार तथा सदाचार–शिष्टाचार तथा सदाचार के उल्लंघन के आधार पर भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर इसलिए प्रतिबंध लगाया जा सकता है ताकि समाज को दूषित तथा भ्रष्ट व्यवहार से बचाया जा सके।

नोट

6. न्यायालय की अवमानना–संविधान के अनुच्छेद–129 तथा 215 उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों को उनकी अवमानना के लिए दंड देने का अधिकार देते हैं। उच्चतम न्यायालय ने यह माना है कि यदि न्यायपालिका की सद्भावनापूर्ण रीति से आलोचना की जाए तो वह युक्तिसंगत मानी जाएगी। किसी न्यायाधीश के न्यायिक कार्य संबंधी आचरण पर भी उचित और न्यायसंगत टिप्पणी देना ठीक होगा। न्यायालय अवमानना अधिनियम, 1971 ने न्यायालय अवमानना के संबंध में भारतीय विधियों का संहिताकरण किया है।

7. मानहानि–भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता से किसी व्यक्ति को किसी अन्य व्यक्ति की मानहानि करने का अधिकार नहीं मिल जाता। भारतीय दंड संहिता की धारा 499 में मानहानि की व्यवस्था की गई है। किसी व्यक्ति को घृणा, मजाक या तिरस्कार का पात्र बनाकर पेश करना मानहानि है।

8. अपराध के लिए प्रोत्साहन–भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने का यह आधार 1951 में जोड़ा गया था। उच्चतम न्यायालय की राय है कि हिंसक अपराधों को प्रोत्साहन देने पर राज्य की सुरक्षा खतरे में पड़ जाती है। यदि इस आधार पर भाषण और स्वतंत्रता पर कोई प्रतिबंध लगाया जाए तो वह विधिमान्य होगा।

9. भारत की प्रभुसत्ता तथा अखंडता–संविधान के सोलहवें (1963) अनुच्छेद ने भारत की प्रभुसत्ता तथा अखंडता के लिए खतरा होने पर भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाने की स्वीकृति दी है।

10. सम्मेलन की स्वतंत्रता–सभाओं, जलूसों और प्रदर्शनों द्वारा लोकमत को प्रशिक्षित किया जाता है। संविधान ने लोगों को बिना हथियारों के शांतिपूर्वक सम्मेलन करने का अधिकार दिया है।

11. संघ की स्वतंत्रता–यद्यपि संविधान ने नागरिकों को संघ बनाने की स्वतंत्रता दी है, लेकिन स्वतंत्रता पर भारत की प्रभुसत्ता तथा अखंडता, लोक-व्यवस्था या सदाचार के हितों में युक्तियुक्त प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। राजनीतिक दल, समितियाँ, क्लब, कंपनियाँ, मजदूर संघ आदि संस्थाएँ संघों की श्रेणी में आती हैं। मजदूर संघों को हड़ताल करने के निर्बाध अधिकार प्राप्त नहीं हैं। इस अधिकार पर औद्योगिक विधान द्वारा प्रतिबंध लगाया जा सकता है।

12. सर्वत्र आने-जाने और निवास की स्वतंत्रता–भारतीय संविधान ने भारतीय नागरिकों को भारत के राज्यक्षेत्र में अबाध रूप से आने-जाने के अधिकार और भारत के राज्यक्षेत्र के किसी भाग में निवास करने तथा बस जाने के अधिकार की गारंटी दी है। लकिन जन साधारण के हितों में या किसी अनुसूचित जनजाति के हितों की रक्षा के लिए इस अधिकार के प्रयोग पर युक्तियुक्त प्रतिबंध लगाए जा सकते हैं। अनुसूचित जनजातियों के हितों की रक्षा के लिए प्रतिबंध लगाने का उद्देश्य उनकी विशिष्ट भाषा और संस्कृति की रक्षा करना है। यदि उनके इलाके में बाहर के लोगों को बेरोकटोक आने दिया जाए तो उनके हित खतरे में पड़ सकते हैं। न्यायालायों ने वेश्याओं, अभ्यस्त अपराधियों और एड्स से पीड़ित लोगों के आने-जाने पर भी प्रतिबंध लगाना विधिमान्य माना है।

13. वृत्ति तथा व्यापार की स्वतंत्रता–संविधान के अनुसार भारत के प्रत्येक नागरिक को कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार है। किसी भी नागरिक को उसकी इच्छा के विरुद्ध कारोबार करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। स्वतंत्रता के विभिन्न अधिकारों की भाँति यह अधिकार भी निर्बाध नहीं है और राज्य जनसाधारण के हित में इस अधिकार पर युक्तियुक्त प्रतिबंध लगा सकता है। उदाहरण के लिए नशीली दवाओं और मिलावटी खाद्य पदार्थों का व्यापार वर्जित है।

14. जीवन तथा वैयक्तिक स्वतंत्रता का संरक्षण–किसी व्यक्ति को विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया के अलावा उसके जीवन या उसकी वैयक्तिक स्वतंत्रता से वंचित नहीं किया जा सकता। उच्चतम न्यायालय ने कहा कि जीवित रहने का अधिकार केवल शारीरिक अस्तित्व तक सीमित नहीं है। इसमें मानवीय गरिमा के साथ जीवित रहने का अधिकार भी सम्मिलित है। न्यायालय ने यह भी कहा कि श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी का भुगतान न करना उन्हें जीवित रहने के अधिकार से वंचित करना है।

15. धर्म की स्वतंत्रता का अधिकार–भारतीय संविधान की उद्देशिका में भारत को पंथ-निरपेक्ष गणराज्य घोषित किया गया है। इसका अर्थ यह है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं है। वह सभी धर्मों के

प्रति समान आदर की दृष्टि रखता है। अनुच्छेद–25 का उपबंध है कि सभी व्यक्तियों को अंतःकरण की स्वतंत्रता और धर्म को अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने की स्वतंत्रता है। धर्म का प्रचार करने के अधिकार में बलात् धर्म-परिवर्तन का अधिकार सम्मिलित नहीं है। अनुच्छेद–26 में सभी धार्मिक संप्रदायों को यह अधिकार दिया गया है कि वे धार्मिक प्रयोजनों के लिए संस्थाओं की स्थापना और उनका पोषण कर सकते हैं। संविधान राज्य निधि से पोषित शैक्षिक संस्थाओं में धार्मिक शिक्षा का प्रतिरोध करता है। राज्य से मान्यता तथा सहायता प्राप्त संस्थाओं में प्रत्येक व्यक्ति को धार्मिक शिक्षा या उपासना में उपस्थित न होने की स्वतंत्रता हैं।

नोट

8.8. सारांश (Summary)

स्वतंत्रता का अभिप्राय–स्वतंत्रता के अनेक अर्थ हैं। नकारात्मक दृष्टि से स्वतंत्रता कानून की अनुपस्थिति है। सकारात्मक अर्थ में स्वतंत्रता उस वातावरण को तत्पर भाव से बनाए रखने का नाम है जिसमें व्यक्ति अपने अधिकतम आत्म-विकास के अवसर पा सके।

हॉब्स (Hobbes), **लॉक** (Lock), **मोंटेस्क्यू** (Montesquieu), **लास्की** (Laski), **हर्बर्ट स्पेंसर** (Herbert Spencer), **रैम्जे म्योर** (Ramsay Muir), **लॉर्ड एक्टन** (Lord Acton), **रौकी** (Rocke) और **जॉन स्टुअर्ट मिल** (John Stuart Mill) आदि विचारकों ने स्वतंत्रता के संबंध में अपने विचार प्रकट किए हैं। संक्षेप में स्वतंत्रता में निम्न बातें निहित हैं–(1) कानून के अंतर्गत अधिकाधिक स्वतंत्रता, (2) सबको समान स्वतंत्रता, और (3) सभी व्यक्तियों को अपनी शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों के सर्वांगीण विकास की समान सुविधाएँ।

स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता–सिंडिकलिस्ट, अराजकतावादी और व्यक्तिवादी विचारक राज्य की प्रभुसत्ता और व्यक्ति की स्वतंत्रता के बीच विरोध मानते हैं। लेकिन उनकी यह धारणा सही नहीं है। वस्तुस्थिति यह है कि दोनों के बीच घनिष्ठ संबंध हैं और वे काफी हद तक एक दूसरे के पूरक हैं।

स्वतंत्रता का उपभोग केवल सभ्य समाज में ही संभव है। स्वतंत्रता के साथ कुछ बंधन भी लगे हुए हैं। मनुष्य सिर्फ मर्यादित स्वतंत्रता का ही उपभोग कर सकते हैं। उनकी स्वतंत्रता से दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता में कोई विघ्न उपस्थित नहीं होना चाहिए। साथ ही स्वतंत्रता समाज में ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास कर सके। इस परिप्रेक्ष्य में स्वतंत्रता के निर्माण और उसकी रक्षा के लिए राज्य की प्रभुसत्ता अनिवार्य है।

स्वतंत्रता और कानून–आदर्शवादी विचारकों के अनुसार व्यक्ति स्वतंत्रता का तभी उपभोग कर सकते हैं जबकि वे राज्य के आदेशों का चुपचाप पालन करते रहें। आदर्शवादियों की दृष्टि में राज्य संपूर्ण स्वतंत्रता और नैतिकता का मूल है।

स्वतंत्रता और कानून को एक दूसरे से अभिन्न मानना अनुचित है। इस सिद्धांत की आड़ में राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता का नाश कर सकता है।

कानून और स्वतंत्रता के संबंध में व्यक्तिवादियों और अराजकतावादियों का मत आदर्शवादियों के मत से उल्टा है। इस मत के अनुसार कानून व्यक्ति की स्वतंत्रता पर प्रतिबंध लगाता है। इस विचारधारा का दोष यह है कि इसमें कानून के निषेधात्मक पक्ष पर बल दिया गया है। भले ही कानून स्वतंत्रता की सृष्टि न करते हों वे उसकी व्याख्या और रक्षा अवश्य करते हैं।

स्वतंत्रता के भेद–स्वतंत्रता के पाँच भेद हैं–(1) प्राकृतिक स्वतंत्रता (Natural liberty), (2) नागरिक स्वतंत्रता (Civil Liberty), (3) राजनीतिक स्वतंत्रता (Political Liberty), (4) आर्थिक स्वतंत्रता (Economic Liberty) और (5) राष्ट्रीय स्वतंत्रता (National Liberty)।

प्राकृतिक स्वतंत्रता–प्राकृतिक स्वतंत्रता के तीन अर्थ हैं। इसका पहला अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को मनचाहा कार्य करने की छूट। इसका दूसरा अर्थ वह स्वतंत्रता है जिसका मनुष्य सामाजिक और राजनीतिक संगठन का जन्म होने से पहले प्रयोग करता था। सामाजिक संविदा सिद्धांत के तीन प्रमुख विचाारकों **हॉब्स, लॉक** और **रूसो** ने प्राकृतिक अवस्था का अलग-अलग चित्र अंकित किया है। प्राकृतिक अवस्था का तीसरा अर्थ यह समझा जाता है कि स्वतंत्रता मनुष्य के लिए उसी प्रकार प्राकृतिक या स्वाभाविक है जिस प्रकार कि साँस लेना या भूख लगना।

नोट

नागरिक स्वतंत्रता–नागरिक स्वतंत्रता का अर्थ उन अधिकारों एवं स्वतंत्रताओं से है जिनका मनुष्य सभ्य समाज के सदस्य के नाते उपभोग करता है। विचार और भाषण की स्वतंत्रता, संघ बनाने की स्वतंत्रता और संपत्ति के धारण, व्ययन और अर्जन की स्वतंत्रता नागरिक स्वतंत्रताएँ हैं। नागरिक स्वतंत्रता भी अमर्यादित नहीं होती। प्रत्येक राज्य अपने पास यह अधिकार सुरक्षित रखता है कि वह असाधारण परिस्थितियों में नागरिक स्वतंत्रताओं को स्थगित कर सकता है।

राजनीतिक स्वतंत्रता–राजनीतिक स्वतंत्रता में निम्नलिखित बातों को शामिल किया जाता है– (1) प्रतिनिधियों के चुनने अथवा मतदान में भाग लेने का अधिकार, (2) निर्वाचन में खड़े होने का अधिकार (3) सार्वजनिक पद पर नियुक्ति का अधिकार, और (4) सरकार के कार्यों की रचनात्मक आलोचना करने का अधिकार।

आर्थिक स्वतंत्रता–आर्थिक स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति को जीविका-उपार्जन की सुविधा होनी चाहिए और उसे अभाव तथा अनर्हता की दशाओं में छूट मिलनी चाहिए।

राष्ट्रीय स्वतंत्रता–राष्ट्रीय स्वतंत्रता का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपना शासन आप करने का अधिकार है। अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वतंत्रता का विचार फ्रांस की राजक्रांति के बाद उभरा है।

(1) बिना हथियार के शांतिपूर्वक सम्मेलन करने की स्वतंत्रता, (2) संगत बनाने की स्वतंत्रता, (3) भारत के राज्यक्षेत्र में सर्वत्र आने जाने की स्वतंत्रता, (4) भारत के किसी भाग में निवास करने और बस जाने की स्वतंत्रता और (5) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने की स्वतंत्रता।

8.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. स्वतंत्रता के अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।
2. स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता को विवेचित कीजिए।
3. स्वतंत्रता के कितने भेद हैं? स्पष्ट कीजिए।
4. 'स्वतंत्रता और कानून' के बारे में अरस्तू के विचार प्रकट कीजिए।
5. भारतीय संविधान में स्वतंत्रता की क्या अवधारणा है? उल्लेख कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-9

न्याय
(Justice)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

9.1. उद्देश्य (Objectives)
9.2. परिचय (Introduction)
9.3. न्याय का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Justice)
9.4. न्याय की संकल्पना का विकास (Concepts to Development of Justice)
9.5. न्याय के सार्वलौकिक तत्व (Universal Postulates of Justice)
9.6. न्याय की उदारवादी तथा मार्क्सवादी धारणाएँ (Liberal and Marxist Theories of Justice)
9.7. न्याय के विविध रूप (Various Forms of Justice)
9.8. न्याय तथा स्वतंत्रता में संबंध (Relationship between Justice and Liberty)
9.9. भारतीय संविधान में न्याय की व्यवस्था (Management of Justice in Indian Constitution)
9.10. सारांश (Summary)
9.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

9.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आपको न्याय का अर्थ, परिभाषा और न्याय व स्वतंत्रता के विषय में अध्ययन कराया जाएगा।

- न्याय के अर्थ, परिभाषा एवं क्षेत्र का अध्ययन करेंगे।
- न्याय की संकल्पना के विकास के बारे में जानेंगे।
- न्याय के विविध रूपों का अध्ययन करेंगे।
- न्याय एवं स्वतंत्रता में संबंध को जानेंगे।
- भारतीय संविधान में न्याय-व्यवस्था से अवगत होंगे।

9.2. परिचय (Introduction)

राजनीतिक संकल्पनाओं में न्याय की संकल्पना को विशेष महत्त्व प्राप्त है। प्राचीनकाल से ही न्याय की संकल्पना राजनीतिक चिंतन का एक प्रमुख विषय रही है। वस्तुतः मानव सभ्यता के उदय और विकास के साथ ही न्याय की संकल्पना मानव समाज के चिंतन का मुख्य बिंदु रही है। न्याय के अभाव में मानव समाज के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। **लार्ड ब्राइस** के अनुसार, "अगर राज्य में न्याय का दीपक बुझ जाए तो अंधेरा कितना घना होगा, इसकी कल्पना नहीं कर सकते।" इस प्रकार न्याय सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन का महत्त्वपूर्ण आधार है।

नोट

9.3. न्याय का अर्थ तथा परिभाषा (Meaning and Definition of Justice)

हिंदी भाषा का शब्द 'न्याय' अंग्रेजी भाषा के शब्द 'Justice' का हिंदी रूपान्तरण है। किंतु अंग्रेजी भाषा का 'Justice' शब्द अपने आप में मूल शब्द नहीं है। क्योंकि इसकी उत्पति लैटिन भाषा के शब्द 'Justice' से हुई है जिसका अर्थ है जोड़ना, बाँधना अथवा ग्रंथि लगाना। इस आधार पर न्याय का अभिप्राय उस व्यवस्था से है जो व्यक्तियों, समुदायों, समूहों अथवा संकल्पनाओं को एक सूत्र में बाँधती है। किसी व्यवस्था को बनाए रखना ही न्याय है। क्योंकि कोई भी व्यवस्था किन्हीं तत्वों को एक-दूसरे के साथ जोड़ने के बाद ही बनती अथवा पनपती है।

न्याय की संकल्पना की कुछ महत्त्वपूर्ण लेखकों की परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं–

1. **सी. ई. मेरियम** के अनुसार, "न्याय उन मान्यताओं तथा प्रक्रियाओं का योग है जिनके माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति को वे सभी अधिकार और सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जिन्हें समाज उचित मानता है।
2. **रेफेल** के शब्दों में, "न्याय का विचार समाज की सामान्य व्यवस्था से संबद्ध है।"
3. **काहन** के अनुसार, "न्याय का अर्थ संपूर्ण गुण तथा नैतिक आचरण के स्वीकृत ढाँचे के अनुकूल आचरण से है।"
4. **बैन** तथा **पीटर्स** के अनुसार, "न्याय का अर्थ यह है कि जब तक भेद-भाव किए जाने का कोई उचित कारण न हो तब तक सभी व्यक्तियों से समान व्यवहार किया जाए।"

निष्कर्ष–उपरोक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट होता है कि न्याय का सिद्धांत अपने स्वरूप में समाज के अंतर्गत होता है। समाज से बाहर न्याय की संकल्पना के अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। न्याय न केवल समाज में व्यवस्था पर जोर देता है वरन् अधिकार तथा दायित्वों के निर्धारण का भी प्रयत्न करता है।

9.4. न्याय की संकल्पना का विकास (Concepts to Development of Justice)

पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों राजनीतिक चिंतन में न्याय की अवधारणा को विशेष महत्त्व दिया गया है। न्याय की संकल्पना के विकास का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

1. भारतीय राजनीतिक चिंतन में न्याय की अवधारण का विकास–अति प्राचीनकाल से ही भारतीय दर्शन में न्याय के विचार को महत्त्व प्रदान किया जाता रहा है। मनु, बृहस्पति, शुक्र, सोमदेव, कौटिल्य आदि विचारकों ने राज्य की व्यवस्था में न्याय के विचार को प्रमुख स्थान प्रदान किया है। प्राचीन भारतीय चिंतक **कौटिल्य** का कहना था कि न्याय राज्य का प्राण होता है और जो राज्य अपनी प्रजा के लिए न्याय की व्यवस्था नहीं करता, वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

2. पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में न्याय की अवधारण का विकास–पाश्चात्य राजनीतिक चिंतन में न्याय की अवधारणा का सर्वप्रथम व्यवस्थित विवेचन **प्लेटो** के राजनीतिक दर्शन में देखा जा सकता है। **प्लेटो** ने अपनी पुस्तक 'रिपब्लिक' में न्याय के विचार को इतना अधिक महत्त्व प्रदान किया कि उसका उपशीर्षक ही 'न्याय से संबंधित' रखा गया है। **प्लेटो** के समय यूनान में न्याय के संबंध में परंपरावादी, क्रांतिकारी और व्यवहारवादी तीन प्रकार के सिद्धांत प्रचलित थे। इन तीनों सिद्धांतों में कुछ कमियाँ थीं। **प्लेटो** ने इन तीनों सिद्धांतों का खंडन करने के बाद रिपब्लिक में अपने न्याय सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

वार्कर के अनुसार, "न्याय का अर्थ है प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उस कर्त्तव्य का पालन जो उसके प्राकृतिक गुणों और सामाजिक स्थिति के अनुकूल है। नागरिक की अपने धर्म की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।"

प्लेटो ने न्याय शब्द का कानूनी अर्थ में नहीं बल्कि नैतिक अर्थ में प्रयोग किया है। उसने न्याय के व्यक्तिगत तथा सामाजिक दो रूप बताए हैं। व्यक्तिगत रूप में न्याय का अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति में विचार, भावनाएँ तथा इच्छाएँ पाई जाती हैं। इनमें समन्वय बना रहना वैयक्तिक न्याय या मानवीय सद्‌गुण है। न्याय एक सामाजिक गुण भी है। क्योंकि इसके माध्यम से समाज के विभिन्न वर्गों में समन्वय अथवा सामंजस्य उत्पन्न होता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. न्याय के सार्वलौकिक तत्वों का वर्णन कीजिए।

2. न्याय के विविध रूपों का उल्लेख कीजिए।

नोट

प्लेटो की भाँति **अरस्तू** ने भी न्याय को राज्य के लिए महत्त्वपूर्ण माना है। किंतु दोनों के स्वरूप में कुछ भिन्नता है। **अरस्तू** न्याय को सद्‌गुणों का समूह मानता है। प्रत्येक व्यक्ति के न्यायप्रिय होने के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने समुदाय के अन्य सदस्यों के प्रति नैतिक कर्त्तव्यों का पूरा पालन करे। **अरस्तू** ने न्याय के वितरणात्मक न्याय (Distributive Justice) तथा सुधारात्मक न्याय (Coercive or Rectificatory Justice) दो रूप बताए हैं। वितरणात्मक न्याय का अर्थ है कि राज्य अपने नागरिकों में राजनीतिक पदों, सम्मानों तथा अन्य लाभों अथवा पुरस्कारों का बँटवारा न्यायपूर्ण रीति से करे। सुधारात्मक न्याय का अर्थ है कि एक नागरिक से दूसरे नागरिक के संबंध को नियंत्रित करते हुए सामाजिक जीवन को व्यवस्थित रखा जाए।

संत ऑगस्टाइन ने न्याय को 'ईश्वरीय राज्य' (City of God) का महत्त्वपूर्ण तत्व माना है। उसका कहना था कि व्यवस्था के प्रति अनुकूलता और इससे उत्पन्न होने वाले कर्त्तव्यों का पालन न्याय है। **ऑगस्टाइन** ने परिवार, लौकिक राज्य तथा ईश्वरीय राज्य के संदर्भ में न्याय के विचार का विवेचन किया है। उसका कहना था कि अंतिम रूप में न्याय का अभिप्राय ईश्वरीय राज्य के प्रति कर्त्तव्यों के पालन से है।

9.5. न्याय के सार्वलौकिक तत्व (Universal Postulates of Justice)

कुछ ऐसे तत्व हैं जो न्याय के साथ सदैव बने रहते हैं। ये तत्व न्याय के सार्वलौकिक तत्व कहलाते हैं। न्याय के इन सार्वलौकिक अथवा सार्वभौमिक तत्वों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

1. **सत्य**–सत्य न्याय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्व है। सत्य तथा न्याय का घनिष्ठ संबंध होता है। न्याय सत्य में दृष्टिगोचर होता है। झूठ से न्याय का कोई संबंध नहीं होता। न्याय के उचित प्रशासन के लिए तथ्यों की सत्यता आवश्यक होती है।

2. **मूल्यों के आधारभूत क्रम की समानता**–इसका अभिप्राय है कि विभिन्न मामलों के संबंध में विचार करते समय न्याय की एक ही धारणा को लागू किया जाना चाहिए। इसके विपरीत यदि एक मामले में न्याय की एक धारणा को और दूसरे मामले में न्याय की किसी अन्य धारणा को लागू किया जाता है तो सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण होगा।

3. **समानता की भावना**–समानता की भावना का अभिप्राय कानून के समक्ष समानता से है। न्याय में समानता का भाव स्वाभाविक रूप से निहित होता है। इसका अर्थ है कि कानून के अनुसार सभी व्यक्तियों के साथ एक समान व्यवहार होना चाहिए। कानून किसी व्यक्ति के साथ जाति, धर्म, वंश, लिंग आदि के आधार पर भेद-भाव न करे।

4. **स्वतंत्रता**–व्यक्ति की स्वतंत्रता पर सामाजिक हित को छोड़कर अन्य आधारों पर प्रतिबंध नहीं लगाया जाना चाहिए।

5. **असहायों तथा कमजोर व्यक्तियों के साथ उचित व्यवहार**–न्याय का एक प्रमुख सार्वभौमिक तत्व असहायों, प्राकृतिक एवं सामाजिक रूप से कमजोर व्यक्तियों के हितों की रक्षा करना है। न्याय की माँग है कि असहायों तथा कमजोर व्यक्तियों के साथ उचित व्यवहार किया जाए।

6. **प्रकृति की अनिवार्यताओं के प्रति सम्मान**–कोई भी व्यक्ति अपनी क्षमता और सामर्थ्य के अनुसार ही कार्य कर सकता है। अतः किसी भी व्यक्ति को अपनी क्षमता के बाहर कार्य करने के लिए विवश नहीं किया जाना चाहिए। यदि किसी व्यक्ति को कोई ऐसा कार्य करने के लिए विवश किया जाता है, जो कि उसकी सामर्थ्य के बाहर महत्त्वपूर्ण पहलू है–

1. **सांख्यिक** (Numerical)–न्याय के सांख्यिक पहलू का अर्थ है कि न्याय सबको समान मिलना चाहिए। उपयोगतावादी विचारक **जेरमी बेंथम** ने कहा था कि "प्रत्येक व्यक्ति को एक समझा जाए तथा किसी को भी एक से अधिक न समझा जाए।" प्राचीन यूनान के कुछ नगर राज्यों में यह पहलू इतना अधिक प्रचलित था कि सार्वजनिक पद पास डाल कर दिए जाते थे। इससे स्पष्ट है कि सांख्यिक न्याय में किसी सार्वजनिक पद की प्राप्ति के लिए किसी विशेष योग्यता अथवा ज्ञान को आवश्यक नहीं समझा जाता।

2. **ज्यामितीय** (Geometrical)–ज्यामितीय न्याय का अभिप्राय है कि समान व्यक्तियों को समान तथा असमान को असमान समझा जाए। ज्यामितीय न्याय में योग्यता, ज्ञान तथा अनुभव जैसे गुणों के आधारों पर बल दिया जाता है। ज्यामितीय न्याय की धारणा है कि लोगों को अपने से संबंधित कार्यों को करना चाहिए।

उदाहरण के लिए किसान का कार्य खेती करना है। यदि किसान खेती करता है तो यह न्याय है। लेकिन यदि वह व्यापार करता है तो यह न्याय नहीं है। ज्यामितीय न्याय का एक अन्य पहलू वितरणकारी पहलू है, जिसके अनुसार शासन करने की शक्ति उनको दी जानी चाहिए, जिन्हें शासन करना आता हो।

3. **संरक्षात्मक** (Protective)–संरक्षात्मक न्याय विशेष वर्गों एवं समुदायों के संरक्षण का समर्थन करता है। उदाहरण के लिए यदि राज्य कमजोरों की सहायता करके उन्हें अन्य लोगों के समान लाने का प्रयत्न करता है तो यह संरक्षात्मक न्याय है। **जॉन रॉल** ने न्याय के इस विचार का समर्थन किया है।

नोट

9.6. न्याय की उदारवादी तथा मार्क्सवादी धारणाएँ (Liberal and Marxist Theories of Justice)

न्याय के अर्थ, स्वरूप तथा लक्ष्य के विषय में उदारवादी लेखकों के विचारों में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। **जॉन लॉक** ने प्राकृतिक कानून की व्यवस्था को न्याय कहा। **लॉक** ने समानता, औचित्यपूर्णता आदि को न्याय के साथ जोड़ा। **लॉक** का कहना था कि यदि लोग परिश्रम करके अधिक लाभ कमाते हैं तो यह न्याय है। लेकिन यदि परिश्रमी लोगों को आलसी लोगों के समान कर दिया जाए तो यह अन्याय होगा।

जेरमी बेंथम ने न्याय को अधिकतम संख्या के अधिकतम सुख के रूप में पारिभाषित किया। वह न्याय को लोकतांत्रिक व्यवस्था से संबंधित मानता था।

आधुनिक उदारवादी विचारक राज्य द्वारा शोषण युक्त तथा अन्याय प्रेरित विषमताओं को दूर करने तथा लोगों की मौलिक आवश्कयताओं की पूर्त्ति को न्याय मानते हैं।

जॉन रॉल के अनुसार न्याय विषमताओं के दायरे में कमजोर से कमजोर को प्राप्त मानता है। उनके अनुसार लोक-कल्याणकारी राज्य न्याय को प्रोत्साहन देता है। किंतु **नॉजिक** तथा **हेयक** जैसे समकालीन उदारवादी विचारकों ने न्याय को वैयक्तिक हित के रूप में स्पष्ट किया है।

न्याय की मार्क्सवादी धारणा उदारवादी धारणा से भिन्न है। मार्क्सवादी विचारकों ने न्याय को वर्गविहीन व्यवस्था के साथ जोड़ा है। मार्क्सवादियों का मानना है कि वर्ग विभेद वाले समाज में न्याय का अस्तित्व संभव नहीं है। **कार्ल मार्क्स** का कहना था कि न्याय का अस्तित्व वहीं संभव है, जहाँ कोई शोषण न हो। ऐसी स्थिति केवल एक वर्गविहीन समाज में ही संभव है। इसलिए केवल एक वर्गविहीन न्याय उपलब्ध हो सकता है। इस प्रकार उदारवादियों तथा मार्क्सवादियों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से न्याय की संकल्पना की व्याख्या की है।

9.7. न्याय के विविध रूप (Various Forms of Justice)

न्याय के विविध पक्ष होते हैं। न्याय के इन विविध पक्षों का संक्षिप्त विवेचन निम्न प्रकार है–

1. **नैतिक न्याय** (Moral Justice)–राजनीतिक चिंतन में परंपरागत रूप से न्याय के नैतिक स्वरूप को अपनाया जाता रहा है। नैतिक न्याय इस विचार पर आधारित है कि कुछ ऐसे सामान्य अथवा आधारभूत नियम होते हैं जोकि अपने स्वरूप में सर्वव्यापक तथा अपरिवर्तनीय होते हैं। इन प्राकृतिक नियमों के अनुसार जीवन बिताना नैतिक न्याय है। सत्य बोलना, अपने दायित्वों का उचित प्रकार से पालन करना, सहयोग एवं उदारता की भावना के अनुसार कार्य करना ऐसे प्राकृतिक नियमों के कुछ उदाहरण हैं। जब मनुष्य इन नियमों के अनुसार आचरण तथा व्यवहार करता है तो वह नैतिक न्याय होता है, लेकिन जब वह इनके विपरीत आचरण करता है तो वह आचरण नैतिक न्याय के विरुद्ध आचरण माना जाता है।

2. **कानूनी न्याय** (Legal Justice)–न्याय तथा कानून में घनिष्ठ संबंध है। **ऑगस्टाइन** का कहना था कि "यदि न्याय को पृथक् कर दिया जाए तो राज्य एक लुटेरे की संपति के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।" कानूनी न्याय के आधार व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानून होते हैं। यदि कोई इन कानूनों को नहीं मानता है अथवा इन कानूनी न्याय के दो मुख्य अर्थ हैं–(1) कानूनों का निर्माण न्यायोचित होना चाहिए (2) कानूनों को न्यायोचित ढंग से लागू किया जाना चाहिए।

कानूनी न्याय के प्रथम अर्थ के अनुसार राज्य विधानमंडल द्वारा बनाए गए कानून न्यायसंगत तथा तर्कसंगत होने चाहिए। द्वितीय अर्थ के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को निष्पक्ष न्याय तथा कानून का एक समान संरक्षण प्राप्त होना चाहिए।

नोट

3. राजनीतिक न्याय (Political Justice)–राजनीतिक न्याय का अभिप्राय है कि सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के राजनीतिक जीवन में भाग लेने का अवसर प्राप्त होना चाहिए, अर्थात् राज्यसत्ता में जनता की भागीदारी ही राजनीतिक न्याय है।

सार्वजनिक वयस्क मताधिकार, समान नागरिक स्वतंत्रताएँ, कानूनों का शासन, लोकतंत्रिकरण, शक्तियों के विकेंद्रीकरण आदि साधनों के उचित क्रियान्वयन द्वारा राजनीतिक न्याय की प्राप्ति संभव होती है।

4. सामाजिक न्याय (Social Justice)–सामाजिक न्याय का अभिप्राय है कि व्यक्ति तथा व्यक्ति के मध्य सामाजिक स्थिति के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन बिताने के लिए उचित परिस्थितियाँ उपलब्ध होनी चाहिए। इस दृष्टि से समाज की राजनीतिक सत्ता का दायित्व है कि वह अपने वैधानिक तथा प्रशासनिक कार्यक्रमों का इस तरह से संचालन करे कि एक ऐसे समतापूर्ण समाज की स्थापना हो सके जिसमें सभी व्यक्तियों को अपने विकास के उचित अवसर प्राप्त हो सकें।

5. आर्थिक न्याय (Economic Justice)–आर्थिक न्याय, आर्थिक विषमता अथवा आर्थिक शोषण के उन्मूलन पर आधारित है। वस्तुतः आर्थिक न्याय का अभिप्राय है कि समाज में व्यक्तियों के मध्य आर्थिक आधार पर ऐसा भेद-भाव नहीं होना चाहिए कि व्यक्तियों का एक वर्ग अर्थात् धनी वर्ग अन्य व्यक्तियों के श्रम का शोषण करने लगे। आर्थिक न्याय की अवधारणा समाज के एक वर्ग द्वारा दूसरे वर्ग के आर्थिक शोषण का विरोध करती है। यह अवधारणा समान कार्य के लिए समान वेतन के सिद्धांत का समर्थन करती है तथा इस बात पर बल देती है कि समाज में सभी व्यक्तियों को रोजगार के अवसर प्राप्त होने चाहिए। इसके साथ ही अमीर तथा गरीब के अंतर को कम किया जाना चाहिए। क्योंकि इसके द्वारा ही समाज में सभी व्यक्तियों के लिए आर्थिक न्याय का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

9.8. न्याय तथा स्वतंत्रता में संबंध (Relationship between Justice and Liberty)

न्याय तथा स्वतंत्रता में परस्पर घनिष्ठ संबंध है। लेकिन यदि स्वतंत्रता का अर्थ प्रतिबंधों के अभाव से लिया जाता है तो इससे न्याय की अपेक्षा अन्याय को बल मिलता है। सभी बंधनों के अभाव से अन्याय का जन्म होता है, न्याय का नहीं। क्योंकि न्याय नियमों, कानूनों, उचित प्रकार के बंधनों की उपस्थिति में पोषित होता है। वस्तुतः स्वतंत्रता सभी प्रकार के बंधनों का अभाव नहीं है बल्कि यह उचित बंधनों की व्यवस्था है। स्वतंत्रता का अर्थ ऐसे वातावरण के अस्तित्व से है जहाँ व्यक्ति को अपनी क्षमताओं के विकास का उचित अवसर प्राप्त होता है। स्वतंत्रता असीमित तथा अनियंत्रित नहीं होती बल्कि सीमित तथा मर्यादित होती है। न्याय की अवधारणा स्वतंत्रता को व्यापक बनाने पर बल देती है और इस दृष्टि से व्यक्ति की स्वतंत्रता पर लगाए गए उचित प्रतिबंधों का समर्थन करती है। इसके विपरीत यदि व्यक्ति को असीमित स्वतंत्रता प्रदान की जाती है तो उसकी स्वतंत्रता अन्य व्यक्तियों की स्वतंत्रता के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। क्योंकि व्यक्ति मनमाने ढंग से आचरण करके दूसरे व्यक्तियों की स्वतंत्रता के लिए खतरा पैदा कर सकता है। न्याय का सिद्धांत ऐसी असीमित तथा अनियंत्रित स्वतंत्रता का समर्थन नहीं करता।

समानता तथा न्याय का संबंध–न्याय की अवधारणा का समानता के सिद्धांत से भी गहरा संबंध है। समानता का अभिप्राय है कि सभी नागरिकों को विकास के समान अवसर प्राप्त हों। राज्य अपने सभी नागरिकों की शिक्षा, स्वास्थ्य, चिकित्सा आदि के क्षेत्र में समान सुविधाएँ प्रदान करे। सभी नागरिकों को कानून के समक्ष समान समझा जाए तथा सभी नागरिकों को कानून का समान संरक्षण प्राप्त हो। समानता की इन्हीं धारणाओं का न्याय समर्थन करता है और व्यवहार में समानता के ये ही सिद्धांत न्याय का आधार हैं।

स्वतंत्रता और समानता के पारस्परिक संबंध के संदर्भ में न्याय का सिद्धांत–स्वतंत्रता तथा समानता के पारस्परिक संबंध तथा एक-दूसरे से दूरी से न्याय की स्थिति निर्धारित होती है। यदि स्वतंत्रता और समानता को एक दूसरे का विरोधी मान लिया जाए तो स्वतंत्रता समानता स्थापित नहीं कर सकती और समानता स्वतंत्रता को सुदृढ़ नहीं कर सकती। लेकिन गंभीरता से विचार करने पर स्पष्ट होता है कि स्वतंत्रता तथा समानता एक दूसरे के विरोधी नहीं बल्कि पूरक हैं। समानता का अर्थ समान अवसरों की व्यवस्था तथा विशेषाधिकारों का अंत है, जबकि स्वतंत्रता सबके लिए अनुकूल वातावरण तथा अवसरों की व्यवस्था है

छात्र क्रियाकलाप

1. न्याय और स्वतंत्रता में क्या संबंध है? स्पष्ट कीजिए।

2. भारतीय संविधान में न्याय की क्या व्यवस्था है? बताइए।

नोट

जिनका प्रयोग करके कोई भी व्यक्ति अपनी योग्यता तथा क्षमता के अनुसार विकास कर सकता है। इस दृष्टि से स्वतंत्रता समानता को भी बढ़ाता है। न्याय की अवधारणा न तो समान अवसरों की उपलब्धि का विरोध करती है और न ही इस तथ्य का विरोध करती है कि व्यक्तियों को अपनी योग्यताओं के अनुसार विकास के समान अवसर प्राप्त होने चाहिए। इस संबंध में **बार्कर** का कहना है कि "न्याय ही वह अंतिम सिद्धांत है जो स्वतंत्रता व समानता तथा इन दोनों के विविध दावों के बीच ताल-मेल उत्पन्न करता है।"

9.9. भारतीय संविधान में न्याय की व्यवस्था
(Management of Justice in Indian Constitution)

भारतीय संविधान में राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक न्याय की उचित व्यवस्था की गई है। संविधान की प्रस्तावना में सभी नागरिकों को राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक न्याय प्रदान करना संविधान का लक्ष्य घोषित किया गया है। भारत के सभी नागरिकों को राजनीतिक न्याय प्राप्त हो सके, इसके लिए संविधान द्वारा भारत को संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न, लोकतांत्रिक, धर्म निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य बनाया गया है। राजनीतिक न्याय की भावना से ही संविधान के अनुच्छेद–19 द्वारा नागरिकों को विचार, अभिव्यक्ति, शांतिपूर्वक सभा तथा सम्मेलन करने, संगठन बनाने, भारत की सीमा के अंदर भ्रमण करने, निवास करने, व्यवस्था आदि की 6 प्रकार की स्वतंत्रताएँ प्रदान की गई हैं।

भारतीय संविधान के तृतीय भाग में नागरिकों के विभिन्न मौलिक अधिकारों के अंतर्गत तथा चतुर्थ भाग में राज्य के नीति-निर्देशक तत्वों के अंतर्गत सामाजिक न्याय की प्राप्ति के विभिन्न साधनों का उल्लेख किया गया है।

उदाहरण के लिए भारतीय संविधान के अनुच्छेद–15 द्वारा धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेद-भाव का निषेध किया गया है। अनुच्छेद–16 में राज्य के अधीन नौकरी के समान अवसरों का तथा अनुच्छेद–17 द्वारा अस्पृश्यता का अंत किया गया है। राज्य की नीति-निर्देशक तत्वों के अंतर्गत संविधान के अनुच्छेद–41 से अनुच्छेद–47 में नागरिकों के सामाजिक न्याय से संबंधित विभिन्न व्यवस्थाओं का उल्लेख किया गया है।

उदाहरण के लिए अनुच्छेद–41 में नागरिकों को कुछ दशाओं में काम, शिक्षा और लोक सहायता पाने का अधिकार स्वीकार किया गया है। अनुच्छेद–42 राज्य को काम की न्यायसंगत और मानवोचित दशाओं को सुनिश्चित करने और प्रसूति सहायता उपलब्ध करने हेतु निर्देशित किया गया है। अनुच्छेद–43 में कहा गया है कि राज्य सभी कर्मकारों को काम, निर्वाह मजदूरी, शिष्ट जीवन स्तर और अवकाश का संपूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सांस्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद–44 में कहा गया है कि राज्य भारत के समस्त राज्य क्षेत्र में नागरिकों के लिए एक समान सिविल संहिता प्राप्त कराने का प्रयास करेगा। अनुच्छेद–45 में बालकों के लिए निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का उपबंध, अनुच्छेद–46 में अनुसूचित जातियों, अनुसूचित जनजातियों और अन्य दुर्बल वर्गों के शिक्षा और अर्थ-संबंधी हितों की अभिवृद्धि तथा अनुच्छेद–47 में राज्य के अपने लोगों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा लोक-स्वास्थ्य का सुधार करने संबंधी कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया है।

आर्थिक न्याय के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए भी संविधान में कई महत्त्वपूर्ण निर्देशक तत्वों का उल्लेख किया गया है। उदाहरण के लिए संविधान के अनुच्छेद–39 में कहा गया है कि "राज्य अपनी नीति का विशिष्टतया, इस प्रकार संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से–

(क) पुरुष और स्त्री सभी नागरिकों को समान रूप से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अधिकार हो,

(ख) समुदाय के भौतिक संसाधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार से बँटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो,

(ग) पुरुषों और स्त्रियों दोनों का समान कार्य के लिए समान वेतन हो,

(घ) पुरुषों और स्त्री कर्मकारों के स्वास्थ्य और शक्ति का तथा बालकों की सुकुमार अवस्था का दुरूपयोग न हो और आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिकों को ऐसे रोजगारों में न जाना पड़े जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो।

भारत के नागरिकों को न्याय सुलभ हो अथवा विधिक सहायता के अभाव में न्याय से वंचित न रहना पड़े, इसके लिए संविधान के अनुच्छेद–39 'क' में कहा गया है कि "राज्य यह सुनिश्चित करेगा कि विधिक तंत्र इस प्रकार से काम करे कि समान अवसर के आधार पर न्याय सुलभ हो और वह, विशिष्टतया, यह सुनिश्चित करने के लिए कि आर्थिक या किसी अन्य निर्योग्यता के कारण कोई नागरिक न्याय प्राप्त करने के अवसर से वंचित न रह जाए, उपयुक्त विधान या स्कीम द्वारा या अन्य किसी रीति से निःशुल्क विधिक सहायता की व्यवस्था करेगा।''

नोट

भारत में केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर ऐसे विभिन्न कदम उठाए जाते रहे हैं जिनसे नागरिकों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में वांछित सुधार हो। ये कदम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के प्रति सरकारों की प्रतिबद्धता को दर्शाते हैं।

9.10. सारांश (Summary)

हिंदी भाषा का शब्द 'न्याय' अंग्रेजी के शब्द 'Justice' का हिंदी रूपांतरण है। इसका अभिप्राय है–संपूर्ण गुण तथा नैतिक आचरण के स्वीकृत ढाँचे के अनुकूल आचरण। पीटर्स के अनुसार, ''न्याय का अर्थ यह है कि जब तक भेदभाव किए जाने का कोई उचित कारण न हो तब तक सभी व्यक्तियों से समान व्यवहार किया जाए।'' वार्कर ने न्याय का अर्थ कर्त्तव्य का पालन करना बताया है। इसी प्रकार संत ऑगस्टाइन ने भी कर्त्तव्यों के पालन को न्याय बताया है।

आधुनिक उदारवादी लेखकों के विचार में, राज्य द्वारा शोषणयुक्त तथा अन्याय प्रेरित विषमताओं को दूर करने और लोगों की मौलिक आवश्यकताओं की पूर्ति ही न्याय है। अतः न्याय का अस्तित्व वहीं संभव है, जहाँ कोई शोषण न हो। भारत में केंद्र सरकार तथा राज्य सरकारों द्वारा समय-समय पर ऐसे विभिन्न कदम उठाए जाते रहे हैं जिनसे नागरिकों की सामाजिक व आर्थिक स्थिति में वांछित सुधार हो। ये कदम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय के प्रति सरकारों की प्रतिबद्धता दर्शाते हैं।

9.11. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. न्याय के अर्थ एवं परिभाषा को स्पष्ट कीजिए।
2. न्याय के सार्वलौकिक तत्वों का वर्णन कीजिए।
3. न्याय के विविध रूपों का उल्लेख कीजिए।
4. न्याय तथा स्वतंत्रता में संबंधों का विवेचन कीजिए।
5. भारतीय संविधान में न्याय-व्यवस्था का वर्णन कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-10

समानता
(Equality)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

10.1. उद्देश्य (Objectives)
10.2. परिचय (Introduction)
10.3. समानता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Equality)
10.4. समानता की आवश्यक शर्तें (Important Factors of Equality)
10.5. समानता के रूप (Forms of Equality)
10.6. समानता और स्वतंत्रता का संबंध (Relationship between Equality and Liberty)
10.7. भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा (Concepts of Equality in Indian Constitution)
10.8. सारांश (Summary)
10.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

10.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आप समानता के अर्थ, परिभाषा, रूप, उसकी आवश्यक शर्तों आदि का अध्ययन करेंगे।

- समानता का अर्थ एवं परिभाषा का अध्ययन करेंगे।
- समानता के रूप एवं आवश्यक शर्तों से अवगत होंगे।
- समानता और स्वतंत्रता के संबंध को जानेंगे।
- भारतीय संविधान में समानता की अवधरणा का अध्ययन करेंगे।

समानता का अभिप्राय

10.2. परिचय (Introduction)

स्वतंत्रता की भाँति ही समानता शब्द भी राजदर्शन में अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। **लास्की** के अनुसार "राजनीतिक विज्ञान के संपूर्ण क्षेत्र में इससे कठिन विचार और कोई नहीं है।" बहुत से राजनीतिक विचारकों ने स्वतंत्रता की भाँति ही समानता को भी मनुष्य के प्राकृतिक अधिकारों में से एक बताया है। संसार के प्रायः सभी धर्मों ने मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता स्वीकार की है। प्राचीन काल के वे विचारक जो प्राकृतिक विधान (Natural Law) के सिद्धांत में विश्वास रखते थे, समानता के सिद्धांत के भी कायल थे। सामाजिक संविदा सिद्धांत (Social Contract Theory) के तीनों प्रतिपादकों–**हॉब्स, लॉक** और **रूसो** (Hobbes, Lock and

Rousseau) ने प्राकृतिक अवस्था (State of Nature) में सभी मनुष्यों को समान चित्रित किया है। आधुनिक काल में समानता का विचार मुख्य रूप से सामंतवादी व्यवस्था के विरुद्ध उठा है। फ्रांस की राज्यक्रांति ने समानता के सिद्धांत को सबसे पहले क्रियात्मक रूप से स्वीकार किया था। उसमें कहा गया था, "मनुष्य स्वतंत्र और समान पैदा हुए है और वे अपने अधिकारों के विषय में भी स्वतंत्र और समान रहते हैं।" अमरीका के स्वातंत्र्य घोषणा-पत्र में भी इस बात को दोहराया गया है और कहा गया कि, "हम इस सत्य को स्वतः सिद्ध स्वीकार करते हैं कि सब मनुष्य समान बनाए गए हैं।"

नोट

आजकल समानता के सिद्धांत को प्रायः सभी लोकतंत्रात्मक देशों ने स्वीकार कर लिया है और वहाँ के संविधानों में इस आशय के उपबंध रहते हैं।

10.3. समानता का अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition of Equality)

तब फिर समानता क्या है? समानता का अर्थ है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति को आत्म-विकास के समान अवसर मिलने चाहिए। इसका आशय यह है कि व्यक्तित्व के उत्थान के लिए मनुष्य को जिन सुविधाओं की आवश्यकता होती है, राज्य को उन समस्त सुविधाओं का प्रबंध करना चाहिए। समानता का आधार यह है कि समाज के लिए प्रत्येक व्यक्ति का समान महत्त्व है। समानता का सिद्धांत धन और भूमि के अनुचित वितरण का विरोध करता है। समानता के सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने के लिए यह आवश्यक है कि समाज में कुछ विशेष सुविधा-संपन्न वर्ग न रहें। **लास्की** ने समानता को "मूलतः एक खास समतलीकरण" (Fundamentally a Certain leveling Process) बताया है। उसके शब्दों में, "इसका अर्थ है कि समाज में कोई प्रक्रिया उसकी नागरिकता के निषेध का रूप ले ले। इसका अर्थ है कि मेरे सर्वोत्कृष्ट स्वरूप की सिद्धि इस प्रकार हो कि दूसरे लोगों को इस प्रकार की सिद्धि में उसका न्याय परिणाम हो। इसका अर्थ है सामाजिक शक्तियों में इस तरह तालमेल हो जिससे मेहनत के भाग में और उसके द्वारा प्राप्त लाभ के भाग में एक संतुलन रहे। इसमें यह निहित है कि भले ही मेरा मत किसी दूसरे के मुकाबले हल्का हो, लेकिन जब निर्णय किए जाएँ, तब इसका ख्याल रखा जाए।"

10.4. समानता की आवश्यक शर्तें (Important Factors of Equality)

समानता के लिए दो बातों की विशेष आवश्कयता है। (1) खास विशेषाधिकारों का अनस्तित्व (Absence of Special Privilege), और (2) सभी के लिए उचित अवसरों की व्यवस्था (Provision of Adequate Opportunities for All)। विशेषाधिकारों के अनस्तित्व का अभिप्राय है कि समाज में किसी भी व्यक्ति को धन, वंश या पद की दृष्टि से ऐसी कुछ विशेष सुविधाएँ उपलब्ध नहीं होगी जिनसे दूसरे लोग वंचित हों। उचित अवसरों की व्यवस्था का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए ऐसे साधन सुलभ किए जाएँ जिनके द्वारा वह अपनी अंतर्निहित क्षमताओं का पूरा विकास कर सके। आधुनिक संसार में साधारणतया अवसरों की उपलब्धि पैतृक परिस्थितियों के ऊपर निर्भर रहती हैं। जिन बच्चों के माता-पिता धनी और शिक्षित होते हैं, वे बच्चे आसानी से ऊँची शिक्षा प्राप्त करके समाज में अपने लिए महत्त्वपूर्ण स्थान बना सकते हैं। इसके विपरीत मजदूर माता-पिता के बच्चों को आगे चलकर अधिकतर शारीरिक श्रम का ही पल्ला पकड़ना पड़ता है।

10.5. समानता के रूप (Forms of Equality)

समानता के कई पहलू हैं—राजनीतिक समानता, नागरिक समानता, सामाजिक समानता और आर्थिक समानता।

राजनीतिक समानता—राजनीतिक समानता का आशय यह है कि सभी नागरिकों को, अपराधियों और पागलों को छोड़कर, अपने देश के शासन में समान अवसर मिलना चाहिए। लिंग, नस्ल अथवा धन के आधारों पर राजनीतिक अधिकारों का निषेध राजनीतिक समानता पर आक्रमण करना है। राजनीतिक समानता का अर्थ है, "मैं राज्य में ऐसे किसी भी पद पर पहुँच सकता हूँ जिसके लिए लोग मुझे चुनने को प्रस्तुत हों। इसका अर्थ है कि राज्य में ऐसे लोग नहीं होंगे जिनकी सत्ता की कोटि मेरी सत्ता से भिन्न हो। जो भी अधिकार एक

छात्र क्रियाकलाप

1. समानता का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. समानता की आवश्यक शर्तें एवं रूपों का उल्लेख कीजिए।

नागरिक होने के नाते किसी दूसरे को वंशानुगत रूप में मिलेंगे, वही और उसी सीमा तक मुझे भी प्राप्त होने चाहिए।

नागरिक समानता–नागरिक समानता का अभिप्राय यह है कि कानून की दृष्टि में सब नागरिकों को समानता उपलब्ध होनी चाहिए। नागरिक समानता ही राज्य में प्रत्येक नागरिक को इस बात का आश्वासन प्रदान करती है कि उसके साथ न्याय किया जाएगा। नागरिक समानता की एक माँग यह भी है कि साधारण नागरिकों और सरकारी कर्मचारियों के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं रहना चाहिए। दोनों का न्याय एक ही कानून के अनुसार होना चाहिए।

सामाजिक समानता–सामाजिक समानता का अभिप्राय यह है कि समाज में प्रत्येक व्यक्ति के साथ समान व्यवहार होना चाहिए। सामाजिक समानता मुख्य रूप से सामाजिक रीति-रिवाजों के ऊपर आधारित होती है। कुछ समाजों के रीति रिवाज ऐसे होते हैं कि वे जन्म या वंश के आधार पर मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद की चौड़ी खाई उपस्थित कर देते हैं। उदाहरण के लिए हिंदुओं की वर्ण-व्यवस्था सामाजिक असमानता का एक ज्वलंत उदाहरण है। कभी–कभी धर्म भी सामाजिक असमानता को पैदा कर देता है। कुछ धर्मों या संप्रदायों के अनुयायी स्वयं को अन्य धर्मों या संप्रदायों के अनुयायियों से श्रेष्ठ समझते हैं। कभी-कभी लिंग भेद भी सामाजिक असमानता का कारण बन जाता है। स्त्रियों को पुरुषों की अपेक्षा कम अधिकार प्राप्त होते हैं। जहाँ पुरुष का कार्यक्षेत्र जीवन की भाँति ही निस्सीम माना जाता है, वहाँ स्त्री का कार्यक्षेत्र आमतौर से केवल घर की चहारदीवारी तक ही सीमित समझा जाता है।

सामाजिक समानता का ही एक पहलू सांस्कृतिक समानता है। सांस्कृतिक समानता का अभिप्राय यह है कि देश के किसी सांस्कृतिक समूह के साथ पक्षपात नहीं होना चाहिए और सभी सांस्कृतिक समूहों को विकास के समान अवसर सुलभ होने चाहिए।

आर्थिक समानता–समानता का सबसे महत्त्वपूर्ण पहलू आर्थिक समानता है। आर्थिक समानता का आवश्यक रूप से यह अर्थ नहीं है कि सब व्यक्तियों को समान वेतन मिलने चाहिए। यह तो असंभव है क्योंकि इसका परिणाम व्यक्ति की उत्प्रेरणा-शक्ति को नष्ट कर देना होगा। आर्थिक समानता का अभिप्राय यह अवश्य है कि समाज में आर्थिक विषमताएँ कम-से-कम हों। यह नहीं होना चाहिए कि कुछ लोगों के पास तो इतनी अपार धनराशि हो कि वे इस बात को भी न समझ सकें कि इस धन का किस प्रकार प्रयोग किया जाए और कुछ लोगों के पास इतना भी धन न हो कि वे अपने दैनिक जीवन की न्यूनतम प्रारंभिक आवश्कयकताएँ पूरी न कर सकें। आर्थिक समानता का अभिप्राय है कि मुझे रोटी खाने का अधिकार नहीं "यदि मेरा पड़ोसी उस अधिकार के कारण भूखा रहने को लाचार किया जाता है।" **मैथ्यू आर्नल्ड** के शब्दों में "आर्थिक असमानता हमारे उच्च वर्ग को सम्पन्न बनाती है. मध्य वर्ग को कठोर बनाती है और निम्नवर्ग की हत्या करती है।" आर्थिक समानता में यह बात भी निहित है कि एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का और एक वर्ग दूसरे वर्ग का आर्थिक शोषण न कर सके। चरम रूप में आर्थिक समानता का आशय यह है कि उत्पादन और वितरण के साधनों पर संपूर्ण समाज का सामान्य नियंत्रण होना चाहिए।

10.6. समानता और स्वतंत्रता का संबंध (Relationship between Equality and Liberty)

कभी-कभी कहा जाता है कि समानता और स्वतंत्रता परस्पर–विरोधी शब्द हैं। उदाहरण के लिए **लॉर्ड एक्टन** (Lord Acton) और **डी. टोकियावेली** (De Tocqueville) जैसे इतिहासकारों का यही विचार है। **लॉर्ड एक्टन** (Lord Acton) ने लिखा था, "समानता की उत्कंठा स्वतंत्रता की आशा पर तुषारपात है।" लेकिन इस मान्यता के बिना स्वतंत्रता और समानता दोनों एक दूसरे के पूरक शब्द हैं। समानता के बिना स्वतंत्रता और स्वतंत्रता के बिना समानता पूरी नहीं हो सकती। यदि समाज में समानता नहीं है, तो नागरिक, आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता केवल धोखामात्र है। उदाहरण के लिए नागरिक स्वतंत्रता केवल तभी हस्तगत की जा सकती है जबकि कानून की दृष्टि में सबको समान समझा जाए। राजनीतिक स्वतंत्रता का अर्थ यह है कि राजनीतिक दृष्टि में सबको समान समझा जाए। लेकिन, राजनीतिक समानता का अर्थ केवल यह नहीं हो जाता कि व्यक्तियों को मतदान का अधिकार मिल जाए। खाली मतदान के अधिकार का कोई उपयोग नहीं है। जिन लोगों का यह विश्वास है कि लोकतंत्र सार्वभौम व्यस्क मताधिकार से अधिक कुछ नहीं है, वे वास्तविक तथ्यों को अपनी आँखों से ओझल कर देते हैं। जहाँ प्रचंड आर्थिक असमानताएँ हों, वहाँ मतदान

का अधिकार राजनीतिक स्वतंत्रता की गारंटी नहीं दे सकता। हम यह कदापि नहीं कह सकते कि कारखाने में काम करने वाले मजदूर को उतनी ही स्वतंत्रता प्राप्त है जितनी कि एक लक्षाधीश को।

लास्की का यह कहना सही है कि, "राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक सच्ची नहीं हो सकती जब तक कि उसके साथ आर्थिक समानता न मिली हो।" इतिहास के अनुशीलन से यह भली प्रकार ज्ञात हो जाता है कि राजनीतिक सत्ता पर केवल उन लोगों का ही नियंत्रण रहता है जो आर्थिक शक्ति के स्वामी होते हैं। आर्थिक शक्ति के स्वामी "शिक्षा प्रणाली को अपने हित के अनुकूल ढाल लेते हैं। पारितोषिक प्रदान कर ये संपतिहीन बुद्धिजीवी को अपनी सेवा में जुटा लेने योग्य बना लेते हैं। न्यायांग प्रायः सवेतन एडवोकेटों में से चुना जाता है, इसलिए कानूनी निर्णय भी इन्हीं के अनुभवों को परिलक्षित करते हैं। गिरजाधर भी इसी प्रकार के उपदेश देंगे जिसमें यह झलक होगी कि वे सब धनवानों की सहायता से चल रहे हैं।" कहने का सार यह है कि जहाँ आर्थिक असमानताएँ होती हैं. पूँजीपति वर्ग श्रमिक वर्ग पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लेता है।

नोट

जहाँ आर्थिक असमानता होती है, वहाँ समस्त नागरिकों को कानून की समानता मुश्किल से ही मिल पाती है। कानून अकिंचन मजदूर की अपेक्षा लक्ष्मी के कृपापात्र का ही पक्ष अधिक ग्रहण करता है। इसका कारण यह है कि आज के युग में न्याय काफी महँगा है और गरीब मजदूर के पास ऐसे आर्थिक संसाधन नहीं होते कि वह ऊँचे-से-ऊँचे वकीलों की सेवा प्राप्त कर सके। **गैल्सवर्दी** का 'सिल्वर बॉक्स' (Silver Box) नामक नाटक यह स्पष्ट कर देता है कि इंग्लैंड जैसे लोकतंत्रात्मक देश में भी वस्तुतः दो प्रकार के कानून हैं, एक अमीरों के लिए और दूसरा गरीबों के लिए। इसलिए, यह स्पष्ट है कि आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक सभी प्रकार की स्वतंत्रता के लिए समानता जरूरी है।

10.7. भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा (Concepts of Equality in Indian Constitution)

संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 14 से 18 तक नागरिकों के समता-अधिकार का विवरण है। अनुच्छेद 14 में कहा गया है कि राज्य, भारत के राज्यक्षेत्र में किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता (Equality before all) या विधियों के समान संरक्षण (Equal Protection of Laws) से वंचित नहीं करेगा। अनुच्छेद 15 में कहा गया है कि राज्य धर्म, मूलवंश (Race), जाति (Caste), लिंग (Sex), जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक को वंचित नहीं करेगा। कोई नागरिक केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान या इनमें से किसी के आधार पर दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों, होटलों और सार्वजनिक मनोरंजन के स्थानों में प्रवेश या पूर्णतः या भागतः राज्य निधि से पोषित या साधारण जनता के प्रयोग के लिए समर्पित कुओं के उपयोग के संबंध में किसी भी निर्योग्यता (Inability), दायित्व (Liability), निर्वधन (Restriction) या शर्त के अधीन नहीं होगा। इस शर्त के बावजूद राज्य स्त्रियों और बालकों के लिए विशेष व्यवस्था कर सकता है। राज्य सामाजिक और शैक्षिक दृष्टि से पिछड़े हुए नागरिकों के किन्हीं वर्गों की उन्नति के लिए या अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के लिए भी विशेष व्यवस्था कर सकता है।

अनुच्छेद 16 ने राज्य के अधीन किसी पद पर नियोजन (Employment) या नियुक्ति से संबंधित विषयों में सभी नागरिकों को अवसर की समता प्रदान की है। राज्य के अधीन किसी नियोजन या पद के संबंध में केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, उद्‌भव (Descent), जन्म स्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर न तो कोई नागरिक अपात्र (Ineligible) होगा और न उससे विभेद (Discrimination) किया जाएगा। राज्य को अनुसूचित जातियों और अनुसचित जनजातियों के पक्ष में जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय में राज्य के अधीन सेवाओं में पर्याप्त नहीं है, राज्य के अधीन सेवाओं में किसी वर्ग या वर्गों के पदों पर प्रोन्नति (Promotion) के मामलों में, आरक्षण करने की अनुमति है।

अनुच्छेद 17 में अस्पृश्यता (untouchability) का अंत कर दिया है। उसका किसी भी रूप में आचरण निषिद्ध है। अस्पृश्यता से उपजी किसी निर्योग्यता को लागू करना अपराध है जो विधि के अनुसार दंडनीय है।

अनुच्छेद 18 ने उपाधियों का अंत कर दिया है। राज्य सेना या विद्या संबंधी सम्मान के अलावा और कोई उपाधि नहीं दे सकता। इस अनुच्छेद में यह भी उपबंध किया है कि भारत का कोई नागरिक विदेशी राज्य से कोई उपाधि स्वीकार नहीं करेगा।

छात्र क्रियाकलाप

1. समानता और स्वतंत्रता के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

2. भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा का वर्णन कीजिए।

नोट

10.8. सारांश (Summary)

समानता का अभिप्राय–संसार के प्रायः सभी विचारकों ने मनुष्य-मनुष्य के बीच समानता स्वीकार की है। सामाजिक संविदा सिद्धांत के तीनों प्रतिपादकों–**हॉब्स, लॉक** और **रूसो**–ने प्राकृतिक अवस्था में सभी मनुष्यों को समान चित्रित किया है। आधुनिक काल में समानता का विचार मुख्य रूप से सामंती व्यवस्था के विरुद्ध उठा है। फ्रांस और अमरीका की क्रांतियों ने समानता के विचार को बढ़ावा दिया है।

समानता का अर्थ है कि समाज में सब व्यक्तियों को विकास के समान अवसर मिलें। इस सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने के लिए आवश्यक है कि समाज में कुछ विशेष सुविधा सम्पन्न व्यक्ति न रहें।

समानता और स्वतंत्रता का संबंध–लॉर्ड एक्टन और **डी. टोकियावेली** जैसे इतिहासकारों ने समानता और स्वतंत्रता को परस्पर विरोधी माना है। लेकिन उनकी यह मान्यता सही नहीं है। स्वतंत्रता और समानता दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। समानता के बिना स्वतंत्रता और स्वतंत्रता के बिना समानता पूरी नहीं हो सकती। राजनीतिक स्वतंत्रता तब तक सच्ची नहीं हो सकती जब तक कि उसके साथ आर्थिक समानता न हो।

भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा–संविधान के भाग 3 में अनुच्छेद 14 से 18 तक समता अधिकार का विवरण है। संविधान ने भारत के सभी व्यक्तियों को विधि के समझ समता (Euqality before Laws) या विधियों के समान संरक्षण (Equal Protection of Laws) का अधिकार दिया है। अनुच्छेद 15 ने धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग या जन्मस्थान के आधार पर विभेद का प्रतिरोध किया है। अनुच्छेद 16 लोक नियोजन के संबंध में अवसर की समता प्रदान करता है। अनुच्छेद 17 ने अस्पृश्यता का और अनुच्छेद 18 ने उपाधियों का अंत किया है।

10.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. समानता का अर्थ एवं परिभाषा का उल्लेख कीजिए।
2. समानता के रूपों का वर्णन कीजिए।
3. समानता एवं स्वतंत्रता के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
4. समानता की आवश्यक शर्तों को समझाइए।
5. भारतीय संविधान में समानता की अवधारणा का विवेचन कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-11

सरकार के अंग और उनके कार्य
(Organs of the Government and Their Functions)

11.1. उद्देश्य (Objectives)
11.2. परिचय (Introduction)
11.3. सरकार के अंग तथा उनके कार्य (Organs of Government and Their Functions)
11.4. व्यवस्थापिका (Legislature)
11.5. व्यवस्थापिका संगठन (Composition of Legislature)
11.6. व्यवस्थापिका के कार्य (Functions of Legislature)
11.7. कार्यपालिका (Executive)
11.8. कार्यपालिका के कार्य (Functions of Executive)
11.9. न्यायपालिका (Judiciary)
11.10. न्यायपालिका का संगठन (Organisation of Judiciary)
11.11. न्यायपालिका के कार्य (Functions of Judiciary)
11.12. सारांश (Summary)
11.13. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

11.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आपको सरकार के अंग एवं उनके कार्य, व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, न्यायपालिका आदि का अध्ययन कराया जाएगा।

- सरकार के अंग और उसके कार्यों का अध्ययन करेंगे।
- व्यवस्थापिका, उसके संगठन और कार्यों से अवगत होंगे।
- कार्यपालिका और उसके कार्यों को जानेंगे।
- न्यायपालिका, उसके संगठन और कार्यों का अध्ययन करेंगे।

11.2. परिचय (Introduction)

सरकार राज्य का आवश्यक मूल तत्व है। यह राज्य का कार्यवाहक यंत्र है। इसी के माध्यम से राज्य की इच्छा को निर्धारित, व्यक्त और क्रियान्वित किया जाता है। **गार्नर** (Garner) के अनुसार ''राज्य की इच्छाओं की पूर्ति जिस संगठन या एजेंसी के द्वारा होती है उसका नाम सरकार है।'' **सोल्टाऊ** (Soltau) के

अनुसार, ''सरकार से हमारा तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, संस्थाओं और साधनों से होता है जिनके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है।'' **बर्क** (Burke) का मत है कि, ''सरकार मानव बुद्धि का आविष्कार है जिसके द्वारा मनुष्य की इच्छाएँ पूर्ण की जाती हैं।''

नोट

उपरोक्त कथन यह व्यक्त करते हैं कि सरकार वह अभिकरण है जिसके माध्यम से राज्य के संकल्प बनते हैं, उनकी अभिव्यक्ति एवं पूर्ति होती है। राज्य के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण और अपरिहार्य साधन है।

11.3. सरकार के अंग तथा उनके कार्य (Organs of Government and Their Functions)

डॉ. प्रभुदत शर्मा का कथन है कि ''शासन-संगठन के कार्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले मुख्य अंग तीन हैं–व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका। व्यवस्थापिका देश के लिए कानून बनाने का कार्य करती है, कार्यपालिका उन कानूनों को लागू करती है और न्यायपालिका यह देखती है कि लोकतांत्रिक व्यवहार, नियमों और सीमाओं के अनुसार हो रहा है या नहीं। इस प्रकार व्यवस्थापिका राज्य संकल्पों को व्यक्त करती है। कार्यपालिका इन्हें साकार रूप देती है और न्यायपालिका इनकी व्याख्या करती है तथा इनके अनुसार अपने निर्णय देती है।''

सरकार के उपरोक्त तीन अंगों के कार्यों की विस्तार से व्याख्या निम्नांकित है–

11.4. व्यवस्थापिका (Legislature)

विधान मंडल या व्यवस्थापिका या तो एक सदनीय (Uni-cameral) होती है या द्वि-सदनीय (Bi-cameral)। द्वि-सदनीय व्यवस्थापिका के प्रथम सदन को निम्न सदन और दूसरे को उच्च सदन कहते हैं। प्रायः प्रत्येक देश में निम्न सदन जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता है और उच्च सदन जनता के कुछ वर्गों का। जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करने के कारण निम्न सदन उच्च सदन से प्रायः अधिक शक्तिशाली और अधिकार संपन्न होता है।

11.5. व्यवस्थापिका संगठन (Composition of Legislature)

जहाँ तक प्रथम सदन का प्रश्न है सभी जगह उसकी रचना राज्य की जनता द्वारा निर्वाचित सदस्यों द्वारा होती है। द्वि-सदनीय रचना में अवश्य ही भिन्न-भिन्न सिद्धांतों का प्रयोग किया जाता है। यदि ग्रेट ब्रिटेन में 'House of Lords' की रचना वंशानुगत आधार पर होती है तो अमेरिका में द्वितीय सदन पूर्णतया निर्वाचित होता है। कुछ राज्यों में ऐसी भी व्यवस्था होती है कि द्वि-सदन के सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किए जाते हैं। कुछ राज्यों में यह मनोनयन पूर्णतया होती है और कुछ में आंशिक। भारत में द्वितीय सदन 'राज्य परिषद्' की रचना आंशिक मनोनयन के सिद्धांत के साथ-साथ विधान मंडलों द्वारा निर्वाचन के अनुसार होती है।

व्यवस्थापिका सभाओं का कार्यकाल साधारणतया इस सिद्धांत के अनुसार निर्धारित किया जाता है कि न तो वह अधिक लंबा हो और न अत्यंत अल्प। आधुनिक विधायिकाएँ कार्यभार से अत्यधिक दबी रहती हैं। अतः संसार की लगभग सभी विधायिकाएँ अपना अधिकाँश काम समितियों के द्वारा संपन्न करती हैं, ताकि कार्य सुचारू रूप से संचालित हो सके और समय की भी बचत हो सके। भारत में यह प्रणाली प्रचलित है। यदि दोनों सदनों में गतिरोध उत्पन्न हो जाए तो निम्नानुसार उपाय किए जाते हैं–

1. विवाद के निराकरण हेतु सदनों की एक संयुक्त समिति बना दी जाती है।
2. विवाद-ग्रस्त विधेयक पर जनमत लिया जाता है।
3. दोनों सदनों का संयुक्त सम्मेलन बुलाया जाता है।
4. प्रथम सदन द्वारा विवाद-ग्रस्त विधेयक को पुनः प्रसारित किया जाता है।

11.6. व्यवस्थापिका के कार्य (Functions of Legislature)

नोट

1. कानून निर्माण संबंधी कार्य (Legislative Function)—व्यवस्थापिका समाज में शांति और सुव्यवस्था स्थापित करने के लिए आवश्यकताओं और परिस्थितियों के अनुसार कानून बनाती है, उनमें संशोधन करती है तथा उन्हें निरस्त करती है। यह सब काफी विचार-विनिमय के बाद होता है। कानूनों का प्रारूप तैयार होता है, फिर भी सामान्यतः उसके तीन वाचन होते हैं, कभी-कभी विशेष विचार हेतु विधेयक को प्रवर समितियों को सौंप दिया जाता है और जनमत जानने के लिए कानून का जनता में प्रसारण होता है।

2. वित्त (अर्थ) संबंधी कार्य (Financial Functions)—आधुनिक व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य राष्ट्रीय वित्त पर नियंत्रण रखना है। प्रतिवर्ष आगामी वर्ष के आय और व्यय का अनुमानित ब्यौरा (बजट) व्यवस्थापिका के सम्मुख प्रस्तुत किया जाता है और बिना उसकी स्वीकृति के एक रुपया भी व्यय नहीं किया जा सकता। व्यवस्थापिका ही नवीन कर लगाती है और अनावश्यक करों को हटाती है। वही आपूर्तियों (Supplies) को स्वीकृति देती है। विधि-निर्माण में सामान्यतः निचले सदन को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होता है। वित्त विधेयक (Finance Bill) निचले सदन में ही प्रस्तुत किए जाने की परंपरा जड़ जमा चुकी है। 'बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं' (No Taxation without Representation) की अमेरिकी उक्ति व्यवस्थापिका की श्रेष्ठता का प्रमाण है। व्यवस्थापिका के दोनों सदनों में परस्पर विरोध होने पर प्रायः ऊपरी सदन को ही झुकना पड़ता है पर अमेरिका में यदि सम्मिलित अधिवेशन में मतभेद पर कोई सहमति नहीं हो पाती है तो सीनेट के मत को मान्य ठहराया जाता है।

3. प्रशासकीय कार्य (Administrative Function)—व्यवस्थापिका का प्रशासन पर महत्त्वपूर्ण नियंत्रण रहता है। जिन देशों में संसदात्मक शासन-प्रणाली प्रचलित है वहाँ व्यवस्थापिका कार्यपालिका के कार्यों पर प्रत्यक्ष नियंत्रण रखती है, क्योंकि मंत्रिमंडल व्यवस्थापिका के सदस्यों में से चुना जाता है और वह उसी के प्रति उत्तरदायी होता है। संसदीय प्रणाली में व्यवस्थापिका ध्यानाकर्षण प्रस्ताव, प्रश्न और काम रोको प्रस्तावों द्वारा कार्यपालिका पर नियंत्रण रखती है। कार्यपालिका का अस्तित्व व्यवस्थापिका के विश्वास पर निर्भर करता है। इंग्लैंड, भारत आदि देशों में यही व्यवस्था है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली जैसे अमेरिका में भी कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण किसी न किसी रूप में बना रहता है। महाभियोग (Impeachment) का अमोघ अस्त्र व्यवस्थापिका के ही पास है। व्यवस्थापिका का उच्च सदन एक प्रमुख जाँच निकाय का कार्य करता है।

4. न्याय संबंधी कार्य (Judicial Functions)—अनेक देशों में व्यवस्थापिकाएँ न्याय संबंधी कार्य भी करती हैं जैसे इंग्लैंड में 'House of Lords' व अमेरिका में सीनेट, अमेरिका के राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति आदि पर अभियोग के लिए अनुशासन भंग के लिए न्यायालय के रूप में बैठती है जबकि प्रतिनिधि सदन अनुशासन भंग का अभियोग लगाता है। भारत में संसद को राष्ट्रपति व न्यायाधीशों पर महाभियोग लगाने का अधिकार है।

5. निर्वाचन संबंधी कार्य (Electoral Functions)—आधुनिक लोकतांत्रिक व्यवस्थापिकाएँ अनेक निर्वाचन संबंधी कार्य भी करती हैं। उदाहरणार्थ, भारतीय संसद भारतीय गणतंत्र के उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। राष्ट्रपति का चुनाव भी संसद के निर्वाचित सदस्यों तथा राज्यों की विधानसभाओं के निर्वाचित सदस्यों द्वारा किया जाता है। स्विट्जरलैंड में वहाँ की संसद मंत्रिपरिषद्, न्यायाधीशों तथा प्रधान सभापति का चुनाव करती है। अमेरिका में सीनेट और प्रतिनिधि सभा को अपने-अपने निर्वाचन विवरणों और सदस्यों की निर्वाचन संबंधी योग्यताओं का निर्णय करने का अधिकार है।

6. संशोधन संबंधी कार्य (Amendment Functions)—व्यवस्थापिका का सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार संविधान में संशोधन करने का है। यह अधिकार कुछ देशों में आंशिक होता है तो कुछ देशों में पूर्ण। संशोधन की विधि सरल भी हो सकती है और जटिल भी। भारत में संसद ने मौलिक अधिकारों में भी संशोधन का अधिकार ग्रहण कर लिया है। ब्रिटिश संसद साधारण बहुमत से ही संविधान में संशोधन कर सकती है जबकि अमेरिका में संशोधन प्रस्ताव या तो स्वयं दो-तिहाई बहुमत से पारित कर सकती है अथवा तीन-चौथाई राज्यों की प्रार्थना पर बुलाई जाने वाली राष्ट्रीय सभा द्वारा उसकी स्वीकृति आवश्यक होती है। संविधान में संशोधन का यह अधिकार एक प्रकार से संविधान पर भी व्यवस्थापिका की सर्वोच्चता प्रस्थापित कर देता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. सरकार के अंग और उसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

2. व्यवस्थापिका के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

7. विमर्शात्मक कार्य (Functions Relating to Discussion)—व्यवस्थापिका विचार विनिमय संबंधी महत्त्वपूर्ण कार्य संपादित करती है। विधि निर्माण और विचार-विमर्श दोनों कार्य साथ-साथ चलता है। कानून तभी लोकप्रिय हो सकता है जब वह बड़ी सूझ-बूझ के साथ बनाया जाए। इसके लिए विषय पर पर्याप्त विचार-विर्मश होना आवश्यक है। **एतदर्थ**, व्यवस्थापिका को बहुत सी समितियों में बाँट दिया जाता है ताकि विभिन्न विधेयकों पर गंभीरता और बारीकी से विचार हो सके। इसके अतिरिक्त सार्वजनिक विषयों पर तथा राष्ट्रीय व अंतर्राष्ट्रीय विषयों पर जहाँ विचार-विनिमय होता है, सरकार राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय नीति की इसमें चर्चा करती है तदुपरांत इसका अनुमोदन प्राप्त करती है।

नोट

8. अन्य कार्य (Other Functions)—व्यवस्थापिका जनता की शिकायतों को प्रकाश में लाने का साधन है। इसमें प्रायः सभी प्रकार के मामलों की सुनवाई हो सकती है तथा वाद-विवाद और चर्चा द्वारा जनता के महत्त्व की विभिन्न समस्याओं पर प्रकाश डाला जा सकता है। इसकी सभी कार्यवाहियों को समाचार पत्रों में प्रकाशित किया जाता है। इस प्रकार लोकमत को प्रकट करने और इसका निर्माण करने के साधन के रूप में कार्य करती है।

11.7. कार्यपालिका (Executive)

वस्तुतः कार्यपालिका सरकार का दूसरा अंग है। आधुनिक राज्यों में उसका स्थान इतना महत्त्वपूर्ण है कि प्रायः उसी के लिए 'सरकार' (Government) शब्द का प्रयोग किया जाता है। कार्यपालिका शब्द का प्रयोग उन अधिकारियों का उल्लेख करने के लिए किया जाता है जिनका काम कानूनों को क्रियान्वित करना है, किंतु राजनीति विज्ञान में 'कार्यपालिका' शब्द को उसके संकुचित अर्थ में प्रयोग करने की प्रथा है। यह अर्थ राज्य के मुख्य कार्यपालक नेता और उसके परामर्शदाताओं और मंत्रियों को ही संकेत करता है। उदाहणार्थ, भारत में राष्ट्रपति और उसका मंत्रिमंडल 'सरकार' का द्योतक है।

'कार्यपालिका' को परिभाषित करते हुए **गार्नर** (Garner) ने कहा है, ''व्यापक एवं समग्र अर्थ में कार्यपालिका के अंग में उन सब कार्यकर्त्ताओं व संस्थाओं के वर्ग सम्मिलित हैं, जो राज्य की उस इच्छा को कार्यान्वित करते हैं जो कानून के रूप में निर्मित कर व्यक्त की गई है।'' **गिलक्राइस्ट** (Gilchrist) के अनुसार, ''कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप में जनता की अभिव्यक्त इच्छा को कार्य रूप में परिणत करता है। यह वह धूरी है, जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासनिक तंत्र घूमता है।''

महत्त्व—कार्यपालिका के महत्त्व (Significance) को व्यक्त करते हुए **फाइनर** (Finer) का कथन है कि, ''कार्यपालिका को वे सभी शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं जो व्यवस्थापिका और न्यायपालिका में शक्तियों के बँटवारे के बाद बची रहती हैं।'' **कोरी** (Corry) का मत है कि, ''कार्यपालिका सरकार का सार है। व्यवस्थापिका तथा न्यायपालिका इसके संवैधानिक रूप के यंत्र के समान हैं।''

रूप—आधुनिक कार्यपालिका के विभिन्न रूप निम्नांकित हैं—

(*i*) ध्वजमात्र कार्यपालिका

(*ii*) एकल कार्यपालिका

(*iii*) बहुल कार्यपालिका

(*iv*) संसदात्मक कार्यपालिका

(*vi*) अध्यक्षात्मक कार्यपालिका

भारतीय गणतंत्र का राष्ट्रपति भी राज्य का नाम मात्र का नेता है। वास्तविक कार्यपालिका 'मंत्रिपरिषद्' है। अर्थात् यह रूप ध्वजमात्र कार्यपालिका के अनुरूप है। जो कार्यपालिका अपने कार्य के लिए संसद के समक्ष उत्तरदायी होती है और जिसका अस्तित्व संसद के हाथ में होता है उसे संसदात्मक कार्यपालिका कहते हैं। भारत व ब्रिटेन में इसी प्रकार की कार्यपालिका है। दोनों देशों में मंत्रिमंडल (Cabinet) ही वास्तविक कार्यपालिका होती है जो राष्ट्रपति या राजा या रानी के नाम पर समस्त शासनात्मक संचालन करती है। अमेरिका में अध्यक्षात्मक कार्यपालिका है जिसमें संविधान द्वारा कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका की शक्तियाँ विभाजित होती हैं।

नोट

11.8. कार्यपालिका के कार्य (Functions of the Executive)

1. प्रशासकीय कार्य–प्रशासन की नीति निर्धारित करना तथा राज्य का प्रबंध करना किसी भी कार्यपालिका का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। कानूनों को कार्यरूप देने हेतु कार्यपालिका अथवा शासन विभाग द्वारा कर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की जाती है। कार्यपालिका उन्हें उचित आदेश देती है और यह देखती है कि प्रशासन कार्यों का संचालन सुचारू रूप से हो। लगभग सभी राज्यों में स्थायी सिविल कर्मचारियों के विषय में निश्चित नियम होते हैं और उन सभी नियमों का स्रोत कार्यपालिका ही होती है। कार्यपालिका अपनी इच्छानुसार उनमें संशोधन व परिवर्तन कर सकती है। संसदीय प्रणाली में कार्यपालिका का कार्य प्रायः अधिक कुशलता से होता है क्योंकि मंत्रिमंडल का प्रत्येक मंत्री किसी विशेष विभाग या कई विभागों का दायित्व संभालकर उन्हें कुशलतापूर्वक निभाने का प्रत्यन करता है और इसके लिए संसद के प्रति उत्तरदायी होता है।

2. सैनिक कार्य–कार्यपालिका सैन्य अधिकारियों के स्थल, जल एवं वायुसेना की सर्वोच्च कमान होती है। कुछ राज्यों में युद्ध की घोषणा करने का अधिकार इसमें शामिल है। कार्यपालिका विदेशों के साथ संधि व समझौते भी करती है। **काण्ट** के अनुसार, ''सैन्य बल का नियंत्रण एवं अनुप्रयोग, शांति व्यवस्था स्थापित करना तथा बाह्य आक्रमण से देश की सुरक्षा करना स्वाभाविक रूप से कार्यपालिका के ही कार्य हैं।''

3. कूटनीतिक कार्य–प्रत्येक राज्य का दूसरे राज्य के साथ कुछ संबंध स्थापित होते हैं और उनमें पारस्परिक अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर व्यवहार होता है। संधियाँ होती हैं, व्यापारिक समझौते होते हैं तथा राजदूतों का आदान-प्रदान होता है। तत्संबंधी सभी कार्य कार्यपालिका करती है। यद्यपि व्यवस्थापिका का इस संबंध में पर्याप्त नियंत्रण रहता है। कार्यपालिका ही विदेशों के साथ आर्थिक, राजनैतिक, व्यापारिक सभी प्रकार के समझौते संपन्न करती है।

4. विधायी कार्य–कार्यपालिका किसी न किसी रूप में व्यवस्थापिका के साथ विधि निर्माण के कार्यों में अवश्य भाग लेती है अथवा उसे प्रभावित करती है। संसदीय पद्धति वाले राज्यों में मंत्रिपरिषद् संसद का अधिवेशन बुलाती है, उसका सत्रावसान तथा विघटन करती है। यद्यपि कानूनों को सब जगह विधानमंडल ही स्वीकृत करता है, किंतु विधेयकों पर विचार करने के लिए प्रस्ताव रखना, विधेयकों को प्रस्तुत करना तथा पारित करना, किसी विधेयक को कानून का रूप लेने से रोकना आदि कार्यों में कार्यपालिका का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष भाग रहता है। इसके अतिरिक्त लगभग सभी जगह इसे व्यवस्थापिका द्वारा प्रदत्त अपने अधिकार के अंतर्गत कानूनी आदेश एवं नियम जारी करने का भी अधिकार रहता है। व्यवस्थापिका के विश्रांतिकाल में कार्यपालिका आवश्यकता पड़ने पर अध्यादेश जारी करती है। किन्हीं दो राज्यों में ऐसी व्यवस्था है कि अध्यक्ष संकटकालीन घोषणा करके स्वयं सारी शक्तियाँ ग्रहण कर लेता है और व्यवस्थापन कार्य अपने ऐसे अध्यादेशों के माध्यम से संपादित कर सकता है जिनकी मान्यता संसद द्वारा पारित कानूनों के अनुरूप ही होती है।

5. न्यायिक कार्य–प्रत्येक देश की कार्यपालिका के प्रधान कुछ न्यायिक कार्य भी करते हैं, जैसे–न्यायाधीशों की नियुक्ति, अपराधियों को क्षमादान, दंड घटाना आदि। भारत और अमेरिका में राज्याध्यक्षों को ये अधिकार प्राप्त हैं। कुछ देशों में शासन के अधिकारियों और नागरिकों के मध्य कुछ विशेष प्रकार के विवाद के निर्णय का न्यायिक अधिकार कार्यपालिका को रहता है।

6. वित्तीय कार्य–देश के समूचे आय-व्यय का व्यावहारिक रूप में उत्तरदायित्व कार्यपालिका का है। यद्यपि सैद्धांतिक रूप से इस आय-व्यय की स्वीकृति विधानमंडल ही देता है। भारत एवं ब्रिटेन में केबिनेट ही धन-विधेयक को संसद में प्रस्तुत करती है और अपने बहुमत के बल पर संसद से उन्हें पारित करवाती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में संपूर्ण विधि-निर्माण का कार्य कांग्रेस का है, किंतु व्यावहारिक रूप से बजट राष्ट्रपति के निर्देशन से ही तैयार होता है। यद्यपि इसे पारित काँग्रेस ही करती है। राष्ट्रीय कोष की समुचित व्यवस्था के लिए कार्यपालिका के अंतर्गत एक वित्त-विभाग होता है। यह प्रत्येक विभाग के आय-व्यय का निरीक्षण करता है और उस पर नियंत्रण रखता है।

7. अन्य कार्य–कार्यपालिका और भी अनेक कार्यों का संपादन करती है, जैसे–उपाधियों का वितरण, व्यक्तियों का उनकी विशिष्ट सेवाओं के लिए पेंशन या अन्य प्रकार की सहायता आदि। राज्य के कल्याणकारी

स्वरूप के विस्तार के लिए कार्यपालिका का अधिकार कार्यक्षेत्र, मानव जीवन के प्रत्येक पहलू को छूने लगा है। आज व्यवस्थापिका की स्थिति कार्यपालिका के समक्ष गौण हो गई है। कार्यपालिका का स्वरूप इतना जटिल और शक्तिशाली बन गया है इसके समस्त कार्यों को किसी सीमा में बाँधना अत्यंत दुष्कर हो गया है।

नोट

11.9. न्यायपालिका (Judiciary)

डॉ. प्रभुदत्त शर्मा के अनुसार सरकार के अंगों में न्यायपालिका अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। नागरिकों का कल्याण सत्य और पक्षपात रहित न्याय पर ही निर्भर करता है। राजकीय कानूनों के उल्लघनकर्ताओं को दंड देने के लिए एक निर्भीक व निष्पक्ष न्यायिक संस्था का होना अनिवार्य है। आधुनिक न्यायालय न केवल पारंपरिक अभियोगों का निर्णय करती है अपितु उन विवादों का निर्णय भी करती है जो व्यक्तियों तथा राज्यों अथवा एकाधिक राज्यों के मध्य उठ खड़े होते हैं।

मैरियट (Marriot) के अनुसार, ''सरकार के जितने भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण कार्य हैं, उनमें निश्चित रूप से न्याय का कार्य अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यह प्रत्यक्ष रूप से नागरिकों से संबद्ध है। कानून निर्माण की प्रक्रिया कितनी भी विस्तृत व वैज्ञानिक हो तथा कार्यपालिका कितनी भी पूर्ण संगठित हो फिर भी यदि न्याय में विलंब हो जाए या वह दोषपूर्ण हो या कानून की व्याख्या पक्षपातपूर्ण अथवा भ्रामक हो, नागरिकों का जीवन दुःखमय हो सकता है व उनकी संपत्ति को संकट उत्पन्न हो जाता है।'' **गार्नर** के अनुसार, ''न्याय विभाग के अभाव में एक सभ्य व सुसंस्कृत राज्य की कल्पना नहीं की जा सकती है। कोई भी समाज विधानमंडल के बिना रहता है, यह संभव हो सकता है, किंतु इस बात की कल्पना नहीं की जा सकती है कि किसी राज्य में न्यायपालिका की कोई व्यवस्था न हो।'' **ब्राइस** का मत है कि, ''न्याय विभाग की कुशलता से बढ़कर सरकार की श्रेष्ठता की कसौटी कोई दूसरी नहीं हो सकती क्योंकि नागरिक की सुरक्षा व हितों पर प्रभाव इतना अन्य किसी बात का नहीं होता जितना कि उसके इस विश्वास का होता है कि निष्पक्ष न्याय शीघ्र अवश्य होगा।'' **रौले** ने भी कहा है कि, ''अधिकारों को निश्चित करने के लिए, उन पर निर्णय देने के लिए, अपराधियों को दंड देने हेतु, न्याय-प्रशासन करने हेतु–न्याय विभाग अत्यंत आवश्यक है।''

11.10. न्यायपालिका का संगठन (Organization of Judiciary)

प्रायः प्रत्येक देश में केंद्रीय अथवा संघीय स्तर पर सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था होती है जिसके अधीन बहुत से प्रादेशिक, उच्च क्षेत्रीय और जिला न्यायालय होते हैं। ये न्यायालय प्रायः श्रृंखलाबद्ध होते हैं जिसमें सबसे निम्न श्रेणी का न्यायालय छोटे-छोटे विषयों का और उच्च न्यायालय विशिष्ट, बड़े तथा पेचीदे मामलों की सुनवाई करता है। अनेक राज्यों में दीवानी और फौजदारी अभियोगों के लिए पृथक् न्यायालय होते हैं जबकि कुछ राज्यों में एक ही न्यायालय दोनों प्रकार के अभियोगों का निर्णय करता है। उदाहरणार्थ, भारत में जिला स्तरीय न्यायालयों में दीवानी, फौजदारी मुकदमों की सुनवाई अलग-अलग होती है जबकि उच्च न्यायालयों और सर्वोच्च न्यायालयों में दोनों ही प्रकार के मामले सुने जाते हैं। ब्रिटेन में दीवानी न्यायालय अलग है और फौजदारी अलग। फौजदारी मामलों में जूरी प्रथा का प्रयोग अधिक होता है। प्रत्येक राज्य साधारण न्यायालयों के अतिरिक्त विशिष्ट उद्देश्यों के लिए कुछ विशिष्ट न्यायालयों की भी व्यवस्था करता है। जैसे–सैनिक न्यायालय, श्रमिक पंचायत न्यायालय, धार्मिक न्यायालय और दावे के न्यायालय आदि। यूरोप के कुछ राज्यों में प्रशासकीय न्यायालयों की भी अलग स्थापना की गई है।

प्राथमिक न्यायालयों का अधिकार क्षेत्र स्थानीय विभागों के समयानुकूल होता है जबकि उच्च न्यायालयों के अधिकार के अंतर्गत विस्तृत क्षेत्र आ जाते हैं। संघीय राज्यों में दो प्रकार के न्यायालय होते हैं–एक संघीय सरकार द्वारा स्थापित न्यायालय जो राष्ट्रीय कानून को समान रूप से संपूर्ण देश में लागू करते हैं और दूसरा, राज्यों के न्यायालय जो अपने-अपने क्षेत्रों में राजकीय कानूनों के अधीन न्याय की व्यवस्था करते हैं। भारत में न्यायपालिका को संगठन का समन्वित रूप प्राप्त है। यहाँ अमेरिका की भाँति संघ एवं राज्यों के सबसे बड़े न्यायालय को 'सर्वोच्च न्यायालय' (Supreme Court) कहा जाता है जिसके अधीन राज्यों के 'उच्च न्यायालय' (High Court) होते हैं। हर राज्य की न्याय व्यवस्था उस राज्य के उच्च न्यायालय के अधीन होती है और

छात्र क्रियाकलाप

1. सरकार के अंग और उसके कार्यों का वर्णन कीजिए।

2. व्यवस्थापिका के कार्यों का उल्लेख कीजिए।

उच्च न्यायालय के निर्णयों की अपील सर्वोच्च न्यायालय में की जा सकती है। उच्च न्यायालय के अधीन अन्य छोटे न्यायालय होते हैं।

11.11. न्यायपालिका के कार्य (Functions of Judiciary)

नोट

न्यायपालिका के कार्य निम्नांकित हैं–

1. **अभियोग निर्णय** (Case Judgement)–न्यायपालिका का सबसे प्रमुख कार्य कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के विवादों का निर्णय करना है। न्यायालय दीवानी, फौजदारी एवं राजस्व संबंधी सभी पारस्परिक विवादों का निर्णय विधि अनुसार करते हैं। इस संबंध में न्यायालय अपने निर्णय प्रचलित कानूनों के अनुसार करते हैं। वे कानूनों की अच्छाई या बुराई से संबंध नहीं रखते।

2. **कानूनों की व्याख्या** (Interpretation of Law)–यद्यपि न्यायाधीश कानून के औचित्य तथा अनौचित्य से संबंध नहीं रखते, किंतु कानूनों की व्याख्या करने की उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता रहती है। न्यायालयों द्वारा कानूनों के स्पष्टीकरण के लिए की गई व्याख्याओं की स्थिति कानूनों के समान होती है।

3. **औचित्य के सिद्धांत पर निर्णय** (Judgement Based on the Equity)–कभी-कभी न्यायाधीशों के समक्ष ऐसी स्थिति पैदा हो जाती है जब कोई निश्चित कानून लागू नहीं होता। ऐसे समय न्यायाधीश अपने विवेकानुसार जो उसे न्यायसंगत जान पड़ता है, निर्णय कर देता है। इन निर्णयों के आधार पर कानून की परंपरा स्थापित हो जाती है और राज्य में कानूनों के लिए ऐसे प्रकार का विकास होता है जिन्हें न्यायाधीश द्वारा निर्मित कानून कहा जाता है। औचित्य के आधार पर कानून निर्माण के संदर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि न्यायाधीश औचित्य, धर्म व सत्य के आधार पर जो निर्णय करते हैं, वह एक परंपरा को उत्पन्न कर देता है और इससे नए कानून का निर्माण हो जाता है। **लीकॉक** ने इसी तथ्य को इस प्रकार व्यक्त किया है, ''इस प्रकार न्यायाधीश द्वारा दिया गया निर्णय अप्रत्यक्ष रूप से कानून का पूरक होता है। अतः न्यायालय विधानमंडल के समान कार्य कर अनेक वर्तमान कानूनों का सृजन करता है।''

4. **अधिकारों तथा स्वतंत्रता की रक्षा** (Protection of Rights and Liberties)–न्याय विभाग व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा उसके अधिकारों की रक्षा भी करता है जो व्यक्ति को संविधान द्वारा प्राप्त होते हैं। न्यायालय देखता है कि राज्य की शक्ति व्यक्ति की उचित स्वतंत्रता में बाधक न बने। ऐसी स्थिति में व्यक्ति न्याय विभाग से न्याय प्राप्त कर सकता है। न्यायालय व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा अधिकारों के प्रयोग में बाधा उत्पन्न करने वाले किसी भी शासकीय कार्य पर रोक लगा सकता है।

5. **संविधान का संरक्षण** (Conservation of Constitution)–न्यायपालिका का एक प्रमुख कार्य संविधान की पवित्रता तथा उसमें प्रतिवादित व्यवस्था की रक्षा करना है। संघीय व्यवस्था में न्यायालय को व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों तथा कार्यकारिणी की आज्ञाओं को वैध या अवैध घोषित करने का अधिकार होता है। संघीय सरकार व उसकी इकाइयों के मध्य और इकाइयों के आपसी पारस्परिक विवादों का निर्णय भी सर्वोच्च न्यायालय ही करता है। सर्वोच्च न्यायालय के न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार से कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका द्वारा होने वाले अतिक्रमणों के विरुद्ध न्यायापालिका को संविधान के संरक्षक के रूप में कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

6. **परामर्श** (Counselling)–अनेक राज्यों में न्यायपालिका वहाँ के राज्याध्यक्ष को कानूनी प्रश्नों पर परामर्श देती है। इंग्लैंड में न्यायालयों से किसी मामले के संबंध में औपचारिक निर्णय माँगने की प्रथा प्रचलित है। भारत में राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श माँग सकता है। कनाडा, पनामा, आस्ट्रेलिया, स्वीडन आदि देशों में भी न्यायपालिका परामर्शात्मक कार्य का निर्वाह करती है।

7. **प्रशासनिक कार्य** (Administrative Function)–उच्च न्यायालयों को और सर्वोच्च न्यायालय के स्थानीय पदाधिकारियों और अधीनस्थ कर्मचारियों को नियुक्त करने तथा न्यायालय के आंतरिक प्रशासन संबंधी छोटे-छोटे नियमों को लागू करने का अधिकार प्राप्त होता है।

8. **विविध कार्य** (Miscellaneous Function)–**गार्नर** ने न्यायपालिका के अन्य विविध कार्यों में अग्रांकित कार्यों का उल्लेख किया है–''(1) विभिन्न प्रकार के लेख और आदेश जारी करना (2) संबंधित पक्षों की प्रार्थना पर यह निर्णय देना कि क्या ठीक, उचित या अधिकार संगत है और विधि की माँग क्या है (3) न्यायालय के कुछ स्थानीय अधिकारियों को नियुक्त करना, लिपिक तथा अन्य कर्मचारियों को नियुक्त

करना, लाइसेंस देना, संरक्षकों और न्यायाधिकारियों को नियुक्त करना, वसीयतनामों को प्रमाणित करना, मृत व्यक्तियों की संपत्ति का प्रबंध करना, आदाताओं नियुक्त करना आदि।''

वास्तव में न्यायपालिका के महान कार्य की यह मोटी रूपरेखा मात्र ही दी गई है। न्यायपालिका का कार्यक्षेत्र अत्यंत विस्तृत एवं महत्त्वपूर्ण है तथा विभिन्न राज्यों में किसी सीमा तक उनमें न्यूनाधिक भिन्नता भी पाई जाती है।

नोट

11.12. सारांश (Summary)

सरकार से तात्पर्य उन सब व्यक्तियों, संस्थाओं और साधनों से है जिनके द्वारा राज्य की इच्छा अभिव्यक्त होती है तथा उसे क्रियान्वित किया जाता है। सरकार वह अधिकरण है जिसके माध्यम से राज्य के संकल्प बनते हैं, उनकी अभिव्यक्ति एवं पूर्ति होती है। सरकार के प्रमुख तीन अंग हैं–व्यवस्थापिका, कार्यपालिका एवं न्यायपालिका। व्यवस्थापिका में दो सदन होते हैं जो जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करते हैं। इसी प्रकार कार्यपालिका कानून के रूप में जनता की अभिव्यक्त इच्छा को कार्य रूप में परिणत करता है। यह वह धुरी है जिसके चारों ओर राज्य का वास्तविक प्रशासनिक तंत्र घूमता है। कार्यपालिका को सरकार का सार कहा जाता है। सरकार का अत्यंत महत्त्वपूर्ण अंग न्यायपालिका है। इसका सबसे प्रमुख कार्य कानूनों के अनुसार व्यक्तियों के विवादों का निर्णय करना है। इस प्रकार सरकार के तीनों अंग मिलकर देश का संचालन करते हैं।

11.13. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. सरकार के अंग तथा उनके कार्यों का वर्णन कीजिए।
2. व्यवस्थापिका क्या है? उसके कार्यों का उल्लेख कीजिए।
3. कार्यपालिका क्या है? उसके विभिन्न रूपों को लिखिए।
4. कार्यपालिका के कार्यों का विवेचन कीजिए।
5. न्यायपालिका के संगठन एवं उसके कार्यों का विवरण दीजिए।

❑❑❑

इकाई–4

अध्याय–12

नोट

राजनीतिक दल
(Political Parties)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

12.1. उद्देश्य (Objectives)
12.2. परिचय (Introduction)
12.3. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)
12.4. द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति (Double Party and Many Party System)
12.5. एकदलीय पद्धति (Single Party System)
12.6. दलपद्धति के गुण-दोष (Merits and Demerits of Party-system)
12.7. भारत के राजनीतिक दल (Indian Political Parties)
12.8. सारांश (Summary)
12.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

12.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आपको राजनीतिक दल का परिचय, उसका अर्थ एवं परिभाषा के साथ-साथ उसके गुण एवं दोष का भी अध्ययन कराया जाएगा।

- राजनीतिक दल का अर्थ एवं परिभाषा का ज्ञान प्राप्त करेंगे।
- द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति से अवगत होंगे।
- दल पद्धति के गुण-दोषों के बारे में अध्ययन करेंगे।
- भारत के राजनीतिक दलों का अध्ययन करेंगे।

12.2. परिचय (Introduction)

लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता राजनीतिक दलों का उत्कर्ष है। लोकतंत्र के संगठन और निर्माण में उनका निर्णायक भाग रहता है। जनता के अंदर विभिन्न विचारधाराओं का प्रसार करने में वे दलाल का सा कार्य करते हैं। **लार्ड ब्राइर** ने दलों के महत्त्व के विषय में यह ठीक ही लिखा है–''दल अनिवार्य हैं। कोई भी बड़ा स्वतंत्र देश उनके बिना नहीं रह सका है। किसी व्यक्ति ने यह प्रदर्शित नहीं किया है कि प्रतिनिधिक शासन उनके बिना कैसे चल सकता है। वे मतदाताओं की अव्यवस्था में शांति और व्यवस्था उत्पन्न करते हैं, यदि दल कुछ बुराइयाँ उत्पन्न करते हैं, तो वे दूसरी बुराइयों को कुछ कम या दूर भी करते हैं।'' अतः लोकतंत्र के सफल संचालन के लिए राजनीतिक दलों का विशेष महत्त्व है। एकतंत्रात्मक देशों में राजनीतिक दलों का कार्य लोकतंत्रात्मक देशों के राजनीतिक दलों के कार्यों से भिन्न होता है। अधिनायकवादी देश में एक राजनीतिक दल होता है और वह स्वयं को सत्तारूढ़

दल के साथ समीकृत कर देता है। संक्षेप में, आधुनिक राजनीतिशास्त्र का यह एक अटल सिद्धांत है कि, शासन-प्रणाली चाहे कैसी भी क्यों न हो, उसके पीछे मूल शक्ति राजनीतिक दलों की ही होती है।

नोट

12.3. अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)

राजनीतिक–राजनीतिक दल प्रायः संगठित नागरिकों का एक ऐसा समुदाय है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं और अपने मतदान की शक्ति का प्रयोग कर सरकार को नियंत्रित करना और समान नीति को कार्यान्वित करना चाहते हैं। **लीकॉक** के शब्दों में–''राजनीतिक दल संगठित नागरिकों के उस समुदाय को कहते हैं जो इकट्ठे होकर एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनके विचार सार्वजनिक प्रश्नों पर एक से होते हैं और वे एक समान उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके सरकार पर अपना आधिपत्य जमाना चाहते हैं।'' **गिलक्राइस्ट** और **मैकाइवर** ने भी राजनीतिक दलों की बहुत कुछ यही परिभाषा दी है। **बर्क** के अनुसार–''राजनीतिक दल व्यक्तियों का वह समुदाय है जो अपने संयुक्त प्रयास द्वारा किसी विशिष्ट सिद्धांत के आधार पर जिसमें उसके सभी सदस्य सहमत होते हैं, राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करना चाहता है।'' राजनीतिक दलों की इन कुछ प्रतिनिधि परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक राजनीतिक दल की रचना के लिए कुछ चीजों की आवश्यकता होती है : (1) संगठन, (2) सामान्य सिद्धांत, (3) राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का लक्ष्य, (4) शांतिपूर्ण उपायों का प्रयोग, और (5) राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का प्रयास। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक दल गुटों से भिन्न होते हैं। गुटों का लक्ष्य संकुचित होता है और वे अनुचित उपायों द्वारा भी अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। इसके विपरीत राजनीतिक दल केवल शांतिपूर्ण और वैधानिक उपायों द्वारा ही शक्ति प्राप्त करना चाहते हैं और उनका उद्देश्य संपूर्ण राष्ट्र के हितों की अभिवृद्धि करना होता है।

12.4. द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति (Double Party and Many Party System)

द्विदल और बहुदल पद्धतियों का अभिप्राय–किसी भी लोकतंत्रात्मक राज्य में दो या दो से अधिक राजनीतिक दल हो सकते हैं। जहाँ दो दल होते हैं, वहाँ द्विदलीय पद्धति होती है और जहाँ बहुत से दल होते हैं, वहाँ बहुदल पद्धति होती है। द्विदल पद्धति का यह अर्थ नहीं है कि देश में केवल दो ही राजनीतिक दल हों, इससे अधिक नहीं। इसका मंतव्य केवल यही है कि देश में मुख्य रूप से दो ही राजनीतिक दल होते हैं। यदि और राजनीतिक दल होते भी हैं, तो उनका कोई विशेष महत्त्व या प्रभाव नहीं होता। इंग्लैंड और अमेरिका द्विदल पद्धति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इंग्लैंड में इस समय अनुदार दल और श्रमिक दल प्रमुख हैं और देश की संपूर्ण राजनीतिक गतिविधि इन्हीं दलों के ऊपर निर्भर है। पहले इंग्लैंड में अनुदार दल और उदार दल मुख्य थे। इंग्लैंड में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् श्रमिक दल की उन्नति हुई। इससे यह भय होने लगा था कि इंग्लैंड की द्विदलीय पद्धति नष्ट हो जाएगी, परंतु श्रमिक दल की उन्नति के साथ ही साथ उदार दल की अवनति ने इस भय को निराधार सिद्ध कर दिया। अमेरिका में दो सर्वमान्य राजनीतिक दल रिपब्लिकन दल और डेमोक्रेटिक दल हैं।

द्विदल पद्धति के गुण–द्विदल के समर्थकों का कहना है कि संसदीय शासन की सफलता के लिए यह एक आवश्यक शर्त है। द्विदल पद्धति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें सरकार अधिक दृढ़ एवं स्थिर रहती है। विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी रहता है। द्विदल में गंभीर राष्ट्रीय संकटों के अवसर को छोड़कर संयुक्त सरकारों के निर्माण की जो बहुदल पद्धति की एक अभिन्न विशेषता है, कभी आवश्यकता नहीं होती।

12.5. एकदलीय पद्धति (Single Party System)

एकदलीय शासन का स्वरूप–यह निर्विवाद है कि लोकंतत्रात्मक शासन की सफलाता के लिए राजनीतिक दलों का अस्तित्व अपरिहार्य है। अधिनायकवाद की सबसे बड़ी पहचान यह है कि अधिनायक

अपना विरोध करने वाले समस्त राजनीतिक दलों व संगठनों का दमन कर देता है और केवल अपना समर्थन करने वाले दल को ही जीवित रखता है।

एकदलीय पद्धति का उदय प्रथम विश्व-युद्ध के पश्चात् हुआ था। सबसे पहले रूस ने और इसके बाद इटली, जर्मनी और अन्य साम्यवादी या फासिस्ट देशों ने इस प्रणाली को अपनाया था। एकदलीय पद्धति आजकल के सर्वाधिकारवादी राज्यों की एक प्रमुख विशेषता है। इस पद्धति के अंदर शासन की संपूर्ण शक्ति एक दल के हाथों में केंद्रीभूत होती है और इस दल का शासन के समानांतर ही संगठन होता है। रूस में यह दल साम्यवादी दल, जर्मनी में नाजी दल और इटली में फासिस्ट दल थे। साम्यवादियों का एक प्रणाली के समर्थन में कहना था कि विभिन्न राजनीतिक दल समाज के विभिन्न वर्गगत हितों को प्रतिनिधित्व करते हैं। जहाँ वर्ग-संघर्ष का अंत हो गया है और एक वर्ग विहीन समाज की स्थापना हो गई, वहाँ समाज के सभी सदस्यों के हित एक से हो जाते हैं और एक ही राजनीतिक दल इन हितों का प्रतिनिधित्व कर सकता है। फलतः, वहाँ विभिन्न राजनीतिक दलों की कोई आवश्यकता नहीं रहती। जिस भाँति रूस में साम्यवादी दल का सर्वग्रासी नियंत्रण था, इटली और जर्मनी में क्रमशः नाजी और फासिस्ट दलों का पूर्ण प्रभुत्व था। इन सभी एक दलीय शासन-प्रणालियों में विचार-स्वातंत्र्य पर अंकुश रखा जाता था और जनता को केवल वही विचार और मत रखने के लिए बाध्य किया जाता था जो सत्तारूढ़ दल की नीति से मेल खाते थे। एकदलीय पद्धति वाले देशों में निर्वाचन खेल होते थे और सभी प्रत्याशी सत्तारूढ़ दल द्वारा नामनिर्देशित होते थे।

नोट

लोकतंत्रात्मक देशों में प्रत्येक राजनीतिक दल की यह चेष्टा रहती है कि वह अपनी सदस्य-संख्या को अधिक से अधिक करना चाहते हैं। इसके विपरीत अधिनायकवादी देशों के राजनीतिक दल अपनी सदस्य-संख्या को सीमित रखते हैं इसके कई कारण हैं–(1) सीमित सदस्य-संख्या के कारण इन दलों का कठोर अनुशासन बना रहाता है। (2) इससे जनता के सामने यह प्रचार किया जा सकता है कि दल का सदस्य केवल कुछ चुने हुए लोगों को उनके विशिष्ट गुणों के कारण ही बनाया जा सकता है। (3) दल की सदस्यता एक पारितोषिक समझी जाती है और यह केवल उन्हीं लोगों को प्राप्त होती है, जिन्होंने दल की विशेष सेवा की हो।

अधिनायकवादी देशों में राजनीतिक दलों के सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे दल के लिए अपना सब कुछ त्यागने के लिए प्रस्तुत रहें। इस सम्बन्ध में नाजी दल और साम्यवादी दल दोनों के प्रलेख अपने सदस्यों को यह स्पष्ट हिदायत देते हैं कि उन्हें अपने नेताओं के आदेश पर दल के हितार्थ सब कुछ करना होगा। चूँकि इन दलों के नेताओं में अपने को पूर्ण मानने की भावना होती है। अतः वे समय-समय पर दल से अवांछनीय तत्त्वों को निकालते भी रहते हैं या दूसरे शब्दों में दल शुद्धि (Party Purges) करते रहते हैं। इन दल-शुद्धियों में हजारों-लाखों व्यक्तियों को अभियोग का दिखावा करके मौत के घाट उतार दिया जाता है।

लोकतंत्रात्मक देशों के विपरीत अधिनायकवादी देशों के राजनीतिक दलों के पास अपने सैनिक संगठन भी होते हैं। नाजी दल में स्टार्म ट्रूपर्स, एलाइट गार्ड्स और गेस्टापो, फासिस्ट दल में मिलिशिया और ओ.बी.आर.ए. और साम्यवादी दल में रेड गार्ड तथा ओ.जी.यू. बड़े सशक्त सैनिक संगठन थे। ये संगठन दो कार्य करते थे–विरोधी पक्ष का दमन और सैनिक शक्ति द्वारा शासन की रक्षा।

एक दल पद्धति में राजनीतिक दलों के नेता अपने अनुयाइयों की निष्ठा बनाए रखने के लिए भावनात्मक अपीलों और प्रदर्शनपूर्ण समारोहों का आश्रय लेते हैं। इसके साथ ही साथ वे शासन के समस्त महत्त्वपूर्ण पदों पर केवल उन्हीं व्यक्तियों को नियुक्ति करते हैं जिनकी दलगत निष्ठा असंदिग्ध होती है।

12.6. दलपद्धति के गुण-दोष (Merits and Demerits of Party-system)

दलपद्धति के गुण-राजनीतिक दलों के विविध क्रिया-कलापों के वर्णन से यह स्पष्ट है कि प्रतिनिधिक शासन की सफलता के लिए अपरिहार्य हैं। **बर्क** के शब्दों में, ''दलगत भेदों को, चाहे उनसे भलाई हो, या बुराई स्वतंत्र शासन से पृथक् नहीं किया जा सकता।''

(1) जन जागृति–राजनीतिक दलों से सबसे बड़ा लाभ यह है कि वे जनता में राजनीतिक जागृति लाते हैं उसे महत्त्वपूर्ण समसामयिक समस्याओं से अवगत रखते हैं। सामान्यतया राजनीति के विविध प्रश्नों

नोट

पर जनता के विचार बहुत कुछ विशृंखलित और असंबद्ध से होते हैं। राजनीतिक दल इन विचारों में समन्वय और सामंजस्य लाते हैं। नागरिकों की विभिन्न निष्ठाओं के बीच भी उचित समन्वय लाने का श्रेय राजनीतिक दलों को ही प्राप्त हैं। राजनीतिक दल अपनी नीतियों के पक्ष में प्रचार करते हैं और जनता को मूल्यवान राजनीतिक शिक्षा देते हैं। सभी राजनीतिक दल निर्वाचकों से अपने लिए समर्थन की माँग करते हैं। चूँकि विभिन्न राजनीतिक दलों के कार्यक्रमों और सिद्धांतों में एक-दूसरे से काफी भेद होता है, इसलिए निर्वाचकों के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वे सभी राजनीतिक दलों के सिद्धांतों और कार्यक्रमों का तुलनात्मक अध्ययन करें और फिर जिस राजनीतिक दल के सिद्धांत और कार्यक्रम को सबसे अच्छा समझें, उसे अपना मत दें। इस प्रक्रिया से जनता के अंदर राजनीतिक चेतना का प्रसार होता है जो लोकतंत्र की सफलता के लिए अनिवार्य है।

(2) निर्वाचन–राजनीतिक दलों से बड़ा लाभ यह है कि वे निर्वाचनों को सुगम कर देते हैं। यदि देश में सुसंगठित राजनीतिक दल न हों, तो निर्वाचनों में उम्मीदवार बड़ी संख्या में खड़े हो सकते हैं। राजनीतिक दलों के कारण निर्वाचनों में प्रत्याशी सीमित संख्या में ही खड़े होते हैं। इससे जनता को भी सहूलियत रहती है और वह यह आसानी से तय कर सकती है कि किस प्रत्याशी को अपना मत दे। यदि निर्वाचनों में ज्यादा प्रत्याशी खड़े हों, तो मतदाताओं को यह निश्चित करने में कि वे किसे अपना मत दें और किसे ने दें, बड़ी कठिनाई हो सकती है। इसके अलावा यदि अभ्यर्थी स्वतंत्र रूप से खड़े होते हैं, तो उन्हें अपने पक्ष में प्रचार में काफी कठिनाई का सामना करना पड़ सकता है। उनके पास अक्सर उन साधनों का अभाव होता है जिनसे निर्वाचनों में सफलाता प्राप्त की जा सकती है। राजनीतिक दल निर्वाचनों में प्रत्याशियों को सब प्रकार की सहायता देते हैं।

(3) शासन और जनता का संपर्क–राजनीतिक दल शासन और जनता के बीच संपर्क कायम रखने के अचूक साधन हैं। वे शासन की नीतियों की जनता के समाने व्याख्या करते हैं और जनता की शिकायतों व माँगों को सरकार तक पहुँचाते हैं। राजनीतिक दलों के फलस्वरूप सरकार का जनता से संपर्क बना रहता है और वह लोकमत के उतार व चढ़ाव को परखती है। चूँकि दलगत सरकारें जनता के प्रति उत्तरदायी होती हैं, अतः वे लोकमत को अपने पक्ष में रखने के लिए यथासंभव उपाय करती हैं तथा ''बाध्यता की अपेक्षा प्रेरणा को अधिक उचित और शस्त्र-संघर्ष के स्थान पर विचार-संघर्ष को अधिक रचनात्मक समझती हैं।'' राजनीतिक दल सरकार की नीतियों से असंतुष्ट जनता को सरकार के प्रति विरोध प्रकट करने का सुअवसर प्रदान करते हैं। वे सशस्त्र विप्लव की संभावनाओं का अंत कर देते हैं। विरोधी राजनीतिक दलों की उपस्थिति के कारण सत्तारूढ़ दल स्वेच्छाचारी नहीं होने पाता और वह इस बात की निरंतर कोशिश करता है कि उससे कोई ऐसी गलती न हो जिससे विरोधी दल को उसकी तीखी आलोचना करने का अवसर मिले।

(4) शासन के विभिन्न अंगों में संतुलन–संसदीय शासन राजनीतिक दलों के बिना बिल्कुल नहीं चल सकता। इस शासन-प्रणाली में मंत्रिमंडल को इस बात की निरंतर आवश्यकता बनी रहती है कि उसे व्यवस्थापिका के बहुमत के सदस्यों का समर्थन मिलता रहे। जहाँ व्यवस्थापिका का बहुमत इस समर्थन से अपना हाथ खींच लेता है, वहाँ सत्तारूढ़ मंत्रिमंडल को अपना स्थान रिक्त करना पड़ता है और उसके स्थान पर नए मंत्रिमंडल की स्थापना होती है। यदि देश में सुसंगठित राजनीतिक दल न हों तो मंत्रिमंडल को इस प्रकार का जन-समर्थन प्राप्त करने में बड़ी कठिनाई होती है और इस दशा में यह संभव है कि मंत्रिमंडलों का उत्थान-पतन बड़ी शीघ्रता से हुआ करे। इसके परिणाम स्वरूप शासन बिल्कुल अस्तव्यस्त हो सकता है और मंत्रिमंडल में यह शक्ति नहीं रहती कि वह किसी ठोस नीति का अनुसरण कर सके। अध्यक्षात्मक शासन शाक्तियों के पृथ्क्करण के सिद्धांत पर आश्रित होता है। इसमें भी राजनीतिक दलों की बहुत आवश्यकता रहती है क्योंकि जब कभी शासन के विभिन्न विभागों के बीच मतभेद पैदा हो जाता है, तब राजनीतिक दल ही उनमें सामंजस्य और संतुलन लाने की चेष्टा करते हैं। संघात्मक राज्यों में अवयवी एककों की सरकारों व केंद्रीय सरकार के बीच जब-तब मतभेद पैदा होते रहते हैं। राजनीतिक दल यहाँ भी मतभेदों को दूर करने में अग्रसर होते हैं। इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में समन्वय लाते हैं और उनके कार्य को आसान कर देते हैं। अतः शासन के विभिन्न अंगों का सुचारु रूप से संचालन बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि राजनीतिक दलों का संगठन कैसा है। यदि राजनीतिक दलों का संगठन सशक्त और सुव्यवस्थित हुआ, तो शासन के सभी अंग अपना

छात्र क्रियाकलाप

1. राजनीतिक दल का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. द्विदल पद्धति एवं बहुदल पद्धति का वर्णन कीजिए।

कार्य सुसंबद्ध रीति से करेंगे और यदि राजनीतिक दलों के संगठन में शिथिलता हुई, तो शासन में भी अव्यवस्था आ सकती है।

दलपद्धति के दोष–राजनीतिक दलों के जिन लाभों की हमने ऊपर सूची प्रस्तुत की है, वह देखने में बड़ी प्रभावोत्पादक प्रतीत होती है। लेकिन हमें यह समझ लेना चाहिए कि दलपद्धति में कई दोष भी हैं।

नोट

(1) जनता का विरोधी शिविरों में विभाजन–राजनीतिक दलों के ऊपर सबसे बड़ा दोषारोपण यह है कि वे जनता को कई विरोधी शिविरों के बीच विभाजित कर देते हैं और जनता के बीच भेद-भाव की दीवारें खड़ी कर देते हैं। इससे राष्ट्रीय एकता को चोट पहुँचती है। कभी-कभी जनता दलगत प्रभाव में राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा करने लगती है।

नैतिक पतन–राजनीतिक दल-पद्धति राजनीतिक वातावरण को विषाक्त कर देती है। राजनीतिक दलवादियों में दूसरों के विचार-भेद को सहन करने की क्षमता बहुत कम होती है। वे अपने सिद्धांतों को, चाहे उनमें कितनी ही त्रुटियाँ क्यों न हों, अपने प्रतिपक्षियों के सिद्धांतों से श्रेयस्कर समझते हैं। वे अपने विरोधियों के ऊपर कीचड़ उछालते कभी नहीं थकते। इसके परिणामस्वरूप राजनीति एक गंदा खेल हो जाता है और योग्य व ईमानदार व्यक्ति उससे अपना हाथ खींच लेते हैं। आधुनिक दलपद्धति में आमतौर से ऐसे ही व्यक्ति सफल हो पाते हैं जो अवसरवादी होते हैं और जनता को विमोहित करने की शक्ति रखते हैं। राजनीतिक दल अपने नेताओं को निर्भ्रांत महामानवों के रूप में चित्रित करते हैं और अपने प्रचार के द्वारा गलत बातों को सही और सही बातों को गलत सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। फलतः जनता का नैतिक स्तर गिरने लगता है और वह प्रस्तुत प्रश्नों पर निष्पक्ष तथा आलोचनात्मक दृष्टि से विचार करना छोड़ देती है। दल-पद्धति में पक्षपात और भ्रष्टाचार को खुलकर प्रश्रय मिलता है उदाहरण के लिए विभाजन के पूर्व राजनीतिक दलों ने भारत के सामाजिक व राजनीतिक वातावरण को अत्यंत दूषित कर दिया था। राजनीतिक दलों की दृष्टि में मुख्य उद्देश्य सत्ता प्राप्त करना होता है। इस उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वे उचित-अनुचित सभी प्रकार के साधनों का प्रयोग करते हैं।

(2) जनता का अंधानुकरण–दलगत शासन जनता का अनुचर होता है। चूँकि उसकी दृष्टि सदैव निर्वाचनों पर ही लगी रहती है, अतः वह जनता का अधिक से अधिक समर्थन प्राप्त करने के लिए कभी-कभी खराब कानूनों का भी निर्माण कर देता है और इन कानूनों से देश की अपरिमित हानि होती है। यदि कोई कानून आगे चलकर देश के लिए लाभदायक सिद्ध हो, लेकिन फिलहाल उसे जनता पसंद न करती हो, तो दलगत शासन में इतनी शक्ति नहीं होती कि वह उस कानून को पास कर दे और आवश्यकता पड़ने पर जनता के विरोध का सामना कर सके।

(3) दलनिष्ठा के मूल्य पर योग्यता का तिरस्कार–दलपद्धति में एक बड़ा दोष यह है कि इसमें दलनिष्ठा के मूल्य पर योग्यता का तिरस्कर किया जाता है। जिस दल को निर्वाचनों में बहुमत प्राप्त होता है, वही दल शासन पर अपना नियंत्रण रखता है। दूसरे दल के सदस्य चाहे कितने ही योग्य हों, उन्हें शासन-कार्य में कोई स्थान नहीं मिलता। अमरीका में पहले दलपद्धति का एक दूषित रूप यह दिखाई देता था कि ऊँचे सार्वजनिक पदों को विजयी राजनीतिक दलों का पुरस्कार समझा जाता था। जिस राजनीतिक दल का प्रत्याशी राष्ट्रपति निर्वाचित होता था, वह ऊँचे-ऊँचे पदों से पूर्ववर्ती दल से संबंध रखने वाले अधिकारियों को हटाकर उन पर अपने दल के सदस्यों को नियुक्ति करता था। इस प्रथा का शासन के सुचारु संचालन पर बहुत बुरा असर पड़ता है। इस प्रकार, दलपद्धति बहुधा राज्य को सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित कर देती है।

(4) व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात–राजनीतिक दल अपने सदस्यों की व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर आघात करते हैं। यदि सदस्य दल की किसी नीति से सहमत नहीं होता, तो अनुशासन की दुहाई देकर उससे यह माँग की जाती है कि वह दल के आदेशों को शिरोधार्य करेगा। आजकल के राजनीतिक दल **हॉब्स** के 'लेवियाथन' बन गए हैं।

(5) विधानमंडलों की शक्ति का अपव्यय–दलपद्धति के कारण विधान-मंडलों की शक्ति का अपव्यय होता है। **लॉर्ड ब्राइस** का यह कहना सही है कि, ''दलपद्धति के कारण संसद रणभूमि बन जाती है।'' सत्तारूढ़ दल तो स्वयं को सत्तारूढ़ बनाए रखने की चेष्टा करता है और विरोधी दल उससे संघर्ष करने में देश के हित उपेक्षित हो जाते हैं। यदि विधान-मंडल के सदस्य किसी विधेयक को पसंद नहीं करते,

तो वे उसको लेकर घंटों वाद-विवाद करते रहते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीय धन तथा समय का व्यर्थ में ही अपव्यय होता है।

(6) दलपद्धति में सुधार की योजनाएँ–ऊपर हमने दलपद्धति के जिन दोषों की चर्चा की है, वे अधिकांश में सच्चे हैं और उन्होंने हमारे सामाजिक व राजनीतिक जीवन में नई समस्याएँ खड़ी कर दी हैं। दलपद्धति के इन दोषों को दृष्टि में रख कर कुछ लेखकों ने यह सुझाव दिया है कि राजनीतिक दलों का उन्मूलन ही कर देना चाहिए। उदाहरण के लिए **अलैक्जेंडर पोप** ने कहा है कि–''दलपद्धति थोड़े से लाभ के लिए अनेकों का पागलपन है। ''दलपद्धति के आलोचकों का कहना है कि आजकल के राजनीतिक दल अपनी स्वार्थपरता के कारण लोकतंत्र के विकास में साधक नहीं प्रत्युत् बाधक बन गए हैं और सच्चे लोकतंत्र की स्थापना तभी हो सकती है जब राजनीतिक दलों को समाप्त कर दिया जाए और शासन की बागडोर ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहे जो प्रत्येक समस्या पर व्यापक राष्ट्रीय दृष्टि से विचार कर सकें।

नोट

यद्यपि उक्त आलोचना में काफी सच्चाई है लेकिन राजनीतिक और सामाजिक विकास के वर्तमान स्तर पर राजनीतिक दलों का उन्मूलन न संभव है न वांछनीय। राजनीतिक दलों के उन्मूलन का सुझाव तो प्रायः ऐसा ही है कि यदि किसी व्यक्ति के सिर में दर्द हो तो उससे कहा जाए कि वह अपने सिर को ही काट दे। वर्तमान काल में राजनीतिक दल प्रतिनिधिक शासन का अनिवार्य अंग है और उनके अभाव में प्रतिनिधिक शासन का संचालन असंभव है। हाँ, यह अवश्य है कि दलपद्धति के उक्त दोषों को जहाँ तक हो सके कम किया जाए। इसके लिए यह आवश्यक है कि (1) दलों का निमार्ण संप्रदाय, जाति या धर्म के आधार पर न होकर सुनिश्चित आर्थिक और राजनीतिक सिद्धांतों के आधार पर हो, (2) दल का नेतृत्व ऐसे व्यक्तियों के हाथों में रहना चाहिए, जो पहले राष्ट्रवादी हों और बाद में दलवादी (3) जनता सुशिक्षित तथा प्रबुद्ध हो और राजनीतिक समस्याओं में सक्रिय रुचि ले, (4) बहुमत और अल्पमत में सद्भाव हो जहाँ तक हो सके दोनों एक-दूसरे की इच्छाओं का पालन करें और (5) यथासंभव द्विदल प्रणाली को प्रोत्साहन दिया जाए।

12.7. भारत के राजनीतिक दल (Indian Political Parties)

आजादी से पहले भारत में प्रमुख राजनीतिक दल इंडियन नेशनल कांग्रेस था। इस दल की स्थापना 1885 में ए.ओ. ह्यूम नामक एक सेवा निवृत्त पदाधिकारी के प्रयत्नों से हुई थी। शुरू में इस दल की नीति उदारवादी थी और वह प्रस्तावों, वक्तव्यों का प्रतिनिधित्व चाहता था।

समय के साथ इंडियन नेशनल कांग्रेस का प्रभाव बढ़ता गया। ब्रिटिश सरकार ने कांग्रेस के नेतृत्व में संचालित राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव कम करने के लिए मुस्लिम पृथक्तावादियों को प्रोत्साहन दिया। उन्होंने 1906 में मुस्लिम लीग की स्थापना की। मुस्लिम लीग की प्रतिक्रियास्वरूप कुछ वर्ष बाद हिंदू महासभा की स्थापना हुई।

1915 में दक्षिण अफ्रीका में अपना सत्याग्रह आंदोलन की समाप्ति के बाद गाँधी जी भारत वापस लौटे 1920 तक उन्होंने कांग्रेस पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। उदार कांग्रेसी नेता कांग्रेस से बाहर निकल गए और उन्होंने उदारवादी संघ का गठन किया।

असहयोग आंदोलन के दिनों में गाँधी जी ने देश को एक वर्ष के भीतर स्वराज दिलाने का आश्वासन दिया था। उनका यह आश्वासन पूरा नहीं हो सका और 1923 में चितरजंन दास तथा मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस के ही विधायी पक्ष में स्वराज दल की स्थापना की। स्वराजवादियों ने विधानमंडलों में उल्लेखनीय कार्य किया। 1926 के चुनावों में स्वराजदल को विशेष सफलता नहीं मिली और कांग्रेस दल का नेतृत्व फिर से गाँधी के हाथों में आ गया।

ब्रिटिश सरकार के प्रोत्साहन से मुस्लिम लीग की शक्ति बढ़ती गई। 1940 में उसने द्विराष्ट्र सिद्धांत के आधार पर पाकिस्तान की माँग पेश की। 15 अगस्त, 1947 को देश का विभाजन हो गया और भारत तथा पाकिस्तान दो स्वतंत्र राष्ट्रों की स्थापना हुई।

आजादी के बाद प्रायः 20 वर्ष तक कांग्रेस भारत का प्रमुख राजनीतिक दल बना रहा तथा केंद्र और राज्यों में कांग्रेस की सरकारें बनती रहीं।

नोट

1967 में कांग्रेस का विभाजन हो गया। कांग्रेस के एक अंग की नेता श्रीमती इंदिरा गाँधी बनीं तथा दूसरे के नेता मोरारजी देसाई, नीलम संजीव रेड्डी, एस.के. पाटिल, कामराज तथा निजलिंगप्पा आदि। इस बीच देश में समाजवादी, साम्यवादी और प्रादेशिक तत्त्वों का भी उत्कर्ष हुआ। 1977 में आपात-स्थिति के बाद छठी लोकसभा के लिए जो चुनाव हुए, सभी गैर-साम्यवादी विरोधी दल एक मंच पर आ गए। ये दल थे कांग्रेस (संगठन), जनसंघ भारतीय लोकदल और समाजवादी दल। उन्होंने मिलकर जनता पार्टी का निर्माण किया, जिसके नेता जगजीवन राम थे।

1989 में लोकसभा के लिए चुनाव हुए। चुनावों में आठ राष्ट्रीय दलों, बीस राज्य स्तरीय दलों तथा नवासी अन्य पंजीकृत दलों ने भाग लिया। चुनावों से पहले वी.पी. सिंह के नेतृत्व में कांगेस (आई) के कुछ नेताओं ने अपना पुराना दल छोड़कर जनता दल नामक एक नए दल का निर्माण किया था जिसमें जनता पार्टी लोकंतत्र (ए). लोकदल (बी.) तथा कुछ और दल शामिल किए गए थे। कांग्रेस विरोधी विभिन्न दलों ने नेशनल फ्रंट का निमार्ण किया बहुजन समाज पार्टी, फारवर्ड ब्लाक, क्षारखंड मुक्ति मोर्चा, नेशनल कान्फ्रेंस, मुस्लिम लीग (एस), तेलगू देशम् कांग्रेस (एस), इंडियन पीपुल्स फ्रंट, आल इंडिया मजजिले-इत्तदुल मुसलिमीन, केरल कांग्रेस–एस, सिक्किम संग्राम परिषद्, मार्क्सिस्ट कोआर्डिनेशन, महाराष्ट्रवादी गोमंतक पार्टी, शिवसेना, अखिल भारतीय हिंदू महासभा, जी.न.ल.फ. निर्दलीय।

1989 के निर्वाचन परिणामों से यह स्पष्ट हो गया कि कांग्रेस पार्टी का दक्षिण भारत के राज्यों में जोर था। उत्तर भारत के राज्यों में जनता दल तथा भारतीय जनता पार्टी को अधिक स्थान प्राप्त हुए। इस बार लोकसभा में 24 दलों के प्रतिनिधि निर्वाचित हुए थे। भारत के संसदीय इतिहास में यह पहला मौका था जब मतदान में किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं हुआ। वी.पी.सिंह ने भारतीय जनता पार्टी तथा वामपंथी दलों के सहयोग से अल्संख्यक सरकार का निर्माण किया।

जून 1991 में दसवीं लोकसभा के लिए आम चुनाव हुए। इन चुनावों में कांग्रेस को सबसे ज्यादा स्थान मिले। दूसरे नंबर पर भारतीय जनता पार्टी थी और तीसरे नंबर पर जनता दल। पी.वी. नरसिंहराव की अगुवाई में कांग्रेस ने अपनी सरकार बनाई जो 1996 तक चली।

मई 1996 में ग्यारहवीं लोकसभा के लिए आम चुनाव हुए। इन चूनावों में निम्नलिखित राष्ट्रीय दलों ने भाग लिया–(1) अखिल भारतीय इंदिरा कांग्रेस (तिवारी), (2) भारतीय जनता पार्टी, (3) भारतीय कांग्रेस कम्युनिस्ट पार्टी, (4) भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मार्क्सवादी), (5) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, (6) जनता दल, (7) जनता पार्टी और (8) समता पार्टी। चुनावों में 30 राज्य स्तरीय दलों ने भाग लिया। इनके अलावा एक सौ इकहत्तर अन्य पंजीकृत दलों के उम्मीदवार चुनाव के अखाड़े में उतरे। ग्यारहवीं लोकसभा कुल 18 महीने चली। सभा ने तीन सरकारों का बनना-बिगड़ना देखा। अटल बिहारी वाजपेयी के नेतृत्व में बनी भारतीय जनता पार्टी की सरकार सिर्फ 13 दिन चली। इसके बाद क्रमशः एच.डी. देवगौड़ा और इंद्रकुमार गुजराल के नेतृत्व में मिली-जुली सरकारें बनीं। लेकिन दोनों बार कांग्रेस द्वारा समर्थन वापस लिए जाने पर इन सरकारों का पतन हो गया।

बारहवीं लोकसभा के लिए फरवरी-मार्च, 1998 में आम चुनाव हुए। इन चुनावों में सात राष्ट्रीय राजनीतिक दलों, तीस राज्य-स्तरीय राजनीतिक दलों और एक सौ उन्तालीस अन्य पंजीकृत राजनीतिक दलों ने भाग लिया। चुनावों की समाप्ति पर भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व में अटल बिहारी वाजपेयी की गठबंधन का निर्माण हुआ। इसमें भारतीय जनता पार्टी तथा उसके सहयोगी दलों को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। भारतीय जनता पार्टी सबसे बड़े राजनीतिक दल के रूप में उभरी। उसने 23–24 राजनीतिक दलों के सहयोग से गठबंधन सरकार का निर्माण किया जो 2004 तक चली।

वाजपेयी की राष्ट्रीय राजनीतिक गठबंधन सरकार ने अपना कार्यकाल पूरा होने से पहले ही मध्यावधि चुनाव कराए। चुनाव में पासा पलट गया। कांग्रेस और उसके सहयोगी दलों को लोकसभा में सबसे अधिक स्थान प्राप्त हुए। पूर्व वित्तमंत्री, डा. मनमोहन सिंह ने प्रधानमंत्री पद की बागडोर संभाली, जो मुख्य रूप से वामपंथी दलों के सहारे टिकी है।

भारत के केंद्र राज्यों दोनों स्तरों पर संसदीय शासन-प्रणाली को अपनाया है। इस शासन-प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण इंग्लैंड है जो पिछली कई सदियों से द्विदल पद्धति के आधार पर चल रही है। द्विदल पद्धति संसदीय शासन-प्रणाली की सफलता की आवश्यक शर्त है। भारत में अभी तक स्पष्ट द्विदल पद्धति का विकास नहीं हो सका है। इस समय भारत का कोई एक राजनीतिक दल इस स्थिति में नहीं

छात्र क्रियाकलाप

1. दल पद्धति के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए।

2. भारत के राजनीतिक दलों का वर्णन कीजिए।

है कि वह अपने बल पर सरकार बना सके। केंद्र में तथा अनेक राज्यों में मिली-जुली सरकारें चल रही हैं।

भारत के राजनीतिक दलों में सुधार की गुंजाइश है। दलों का आंतरिक संगठन पूरी तरह लोकतंत्रवादी नहीं है। समय पर चुनाव नहीं होते। दलों के आर्थिक स्रोतों की पक्की जानकारी नहीं है। दल व्यक्ति-केंद्रित हैं। प्रादेशिक दलों में अखिल दलों में भारतीय दृष्टि का अभाव है।

नोट

12.8. सारांश (Summary)

राजनीतिक दलों का स्वरूप और कार्य–लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता राजनीतिक दलों का उत्कर्ष है। लोकतंत्र के संगठन और निर्माण में उनका निर्णायक भाग रहता है। राजनीतिक दल प्रायः संगठित नागरिकों का एक ऐसा समुदाय है जो राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। उनका लक्ष्य मतदान की शक्ति के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियंत्रण स्थापित करना और सामाजिक हित के लिए अपने कार्यक्रम को पूरा करना है। राजनीतिक दल की रचना के लिए निम्नलिखित तत्त्वों की आवश्यकता है–(1) संगठन, (2) विचारधारा, (3) राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने का लक्ष्य, (4) शांतिपूर्ण उपायों का प्रयोग, और (5) राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि का प्रयास।

जो राजनीतिक दल वर्तमान परिस्थितियों में परिवर्तन करना चाहते हैं, उन्हें वामपंथी और जो स्थिति को ज्यों का त्यों बनाए रखना चाहते हैं, उन्हें दक्षिणपंथी कहते हैं। राजनीतिक दलों के निर्माण का मुख्य आधार आर्थिक होता है। भारत में साम्प्रदायिक आधार पर भी अनेक दलों का निर्माण हुआ है।

राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर अपना साहित्य तैयार करते हैं। और जनता के बीच उसका प्रचार करते हैं। वे लोकमत को शिक्षित, निर्मित और संगठित करते हैं, निर्वाचनों में भाग लेते हैं। सरकार का निर्माण करते हैं और विपक्ष की भूमिका निभाते हैं। राजनीतिक दलों का एक काम विधानमंडल में निर्वाचित सदस्यों के बीच एकता और अनुशासन बनाए रखना है। वे सरकार तथा जनता के बीच संपर्क-सूत्र साधे रखते हैं।

अधिनायकवादी देशों में राजनीतिक दलों का कार्य लोकतंत्रत्माक देशों के राजनीतिक दलों के कार्यों से भिन्न होता है। वहाँ एक ही राजनीतिक दल होता है और उसका कार्य जैसे भी हो सरकार के लिए जनता का समर्थन जुटाना है।

द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति–जिस देश में दो दल होते हैं, वहाँ द्विदल-पद्धति होती है और जहाँ बहुत से दल होते हैं, वहाँ बहुदल पद्धति होती है। इंग्लैंड और अमरीका द्विदल पद्धति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं। इंग्लैंड इन्हीं दो राजनीतिक दलों के ऊपर निर्भर है। अमरीका में दो सर्वमान्य राजनीतिक दल रिपब्लिकन दल और डेमोक्रेटिक दल हैं।

संसदीय शासन की सफलता के लिए द्विदल पद्धति आवश्यक है। इस पद्धति में सरकार अधिक दृढ़ और स्थिर रहती है। द्विदल के अंतर्गत विरोधी दल भी बहुत शक्तिशाली होता है।

द्विदल पद्धति का सबसे बड़ा दोष यह है कि वह निरंकुश बहुमत की सृष्टि करती है। द्विदल पद्धति के दोष ही बहुदल पद्धति के गुण हैं। इसमें सत्तारूढ़ दल के स्वेच्छाचारी होने का भय नहीं रहता। बहुदल पद्धति में संयुक्त सरकारों का निर्माण होता है। इससे विभिन्न दलों के बीच समझौते की प्रवृत्ति बढ़ती है।

बहुदल पद्धति के दोष बहुत गंभीर हैं। इनमें मंत्रिमंडलों का उत्थान और पतन जल्दी-जल्दी होता है। सत्तारूढ़ दल विधि-निर्माण का कोई सुनिश्चित कार्यक्रम दृढ़ता से लागू नहीं कर सकता। बहुदल पद्धति दलगत अनुशासन को नष्ट कर देती है और राजनीतिक षड्यंत्रों तथा सौदेबाजी को प्रोत्साहित करती है।

एकदलीय पद्धति–एकदलीय पद्धति का उदय प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् साम्यवादी रूस और फासिस्ट देश इटली तथा नाजी जर्मनी में हुआ था। इस पद्धति में शासन की संपूर्ण शक्ति एक राजनीतिक दल के हाथों में केंद्रित होती है। रूस में यह दल साम्यवादी दल था, इटली में फासिस्ट दल और जर्मनी में नाजी दल। एकदलीय प्रणाली में विचार-स्वातंत्र्य पर अंकुश रखा जाता है। जनता को केवल वही विचार और मत रखने होते हैं जो सत्तारूढ़ी चाहते हैं और सभी उम्मीदवार सत्तारूढ़ दल द्वारा नामजद किए जाते हैं। इस पद्धति में राजनीतिक दलों के सदस्यों से पूर्ण निष्ठा की अपेक्षा की जाती है। एक दल

वाले देशों में राजनीतिक दलों के पास अपने सैनिक संगठन भी होते हैं। वे समय-समय पर अवांछनीय तत्त्वों को दल से निकालते रहते हैं। इस प्रक्रिया में हजारों-लाखों लोग मौत के घाट उतार दिए जाते हैं।

दल पद्धति का मूल्यांकन–दल पद्धति के प्रमुख गुण हैं–(1) राजनीतिक दल जनता में जागृति लाते हैं और उसे सम-सामायिक समस्याओं से अवगत कराते हैं। (2) वे निर्वाचनों को सुगम कर देते हैं। यदि देश में सुसंगठित राजनीतिक दल न हों, तो निर्वाचनों में उम्मीदवार बहुत बड़ी संख्या में खड़े हो सकते हैं। (4) राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में संतुलन की स्थापना करते हैं।

नोट

दल पद्धति के मुख्य दोष हैं–(1) वे जनता को कई विरोधी शिविरों के बीच विभाजित कर देते हैं। (2) राजनीतिक दल पद्धति राजनीतिक वातारण को विषाक्त कर देती है। (3) दलगत शासन जनता का अनुचर होता है। वह लोगों का समर्थन पाने के लिए कभी-कभी अनुचित कानूनों का भी निर्माण कर देता है। (4) दलगत शासन में दल-निष्ठा के मूल्य पर योग्यता का तिरस्कार किया जाता है। (5) राजनीतिक दल अपने सदस्यों की स्वतंत्रता पर आघात करते हैं (6) दल पद्धति के कारण विधानमंडलों की शक्ति का अपव्यय होता है।

12.9. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. राजनीतिक दल से क्या अभिप्राय है? परिभाषा सहित स्पष्ट कीजिए।
2. द्विदल पद्धति और बहुदल पद्धति में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. एकदलीय पद्धति क्या है? स्पष्ट कीजिए।
4. दल पद्धति के गुण-दोषों का विवेचन कीजिए।
5. दल पद्धति में सुधार की योजनाओं को लिखिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-13

दबाव समूह
(Pressure Groups)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

13.1. उद्देश्य (Objectives)
13.2. परिचय (Introduction)
13.3. दबाव समूह की परिभाषा (Definition of Pressure Group)
13.4. दबाव समूह के उद्देश्य के कारण (Cause of Rising Pressure Group)
13.5. दबाव समूह की विशेषताएँ (Characteristics of Pressure Group)
13.6. दबाव समूह के प्रकार (Types of Pressure Group)
13.7. दबाव समूह के कार्य (Works of Pressure Group)
13.8. दबाव समूह के गुण (Merits of Pressure Group)
13.9. दबाव समूह के दोष (Demerits of Pressure Group)
13.10. प्रतिनिधित्व समूह के सिद्धांत (Principle of Representation Groups)
13.11. सारांश (Summary)
- अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

13.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आपको दबाव समूह की परिभाषा, उद्देश्य, विशेषताएँ और गुण-दोष आदि का अध्ययन कराया जाएगा।

- दबाव समूह का अर्थ, परिभाषा एवं उद्देश्य का अध्ययन करेंगे।
- दबाव समूह के प्रकार और विशेषताओं से अवगत होंगे।
- दबाव समूह के कार्य और गुण-दोषों के बारे में जानेंगे।
- दबाव समूह के सिद्धांतों का अध्ययन करेंगे।

13.2. परिचय (Introduction)

दबाव समूह उसे कहते हैं जो अपने विशिष्ट हितों की पूर्ति के लिए सरकार की नीति और कार्यों को संपन्न करने में प्रभावित करने की क्षमता रखने वाले समूह को कहा जाता है। प्रत्येक राजनीतिक व्यवस्था में दबाव समूह पाए जाते हैं। इनका अपना अलग अस्तित्व होता है। इनके अपने राजनीतिक सिद्धांत, अपने कार्यक्रम, उद्देश्य होते हैं। जिनके लिए राष्ट्रव्यापी संगठन के रूप में सक्रिय भूमिका निर्वाह करते हैं। राज्य और शासन-नीति को प्रभावित करने की इनमें असीम शक्ति एवं क्षमता होती है।

दबाव समूह विशेष एवं विशिष्ट हितों के लिए बनते हैं। इन्हें संपन्न करने के लिए ही व्यापक क्षेत्र भी निर्धारित करते हैं। ये राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक हितों की पूर्ति के लिए निरंतर कार्यरत रहते हैं। यह प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से राजनीतिक व्यवस्था में लगे हुए व्यक्तियों को प्रभावित करने की संगठनात्मक प्रतीक के समूह को ही दबाव समूह कहा जाता है।

नोट

दबाव समूह राजनीतिक दलों की तरह संगठित नहीं होते हैं। यह चुनाव कभी भी नहीं लड़ते हैं। राष्ट्र की समस्याओं और हितों से ही इनका सीधा संबंध होता है। दबाव समूह राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ प्रशासन पर भी अपना दबाव बढ़ाता रहा है। इससे इसकी प्रभावशाली भूमिका बढ़ गई है।

इसकी श्रृंखला में एक नहीं अनेक संगठन शामिल होते हैं। ऑल इंडिया मजदूर संगठन, रेलवे मजदूर फेडरेशन संघ, ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन संगठन, कर्मचारी संगठन, डॉक्टर एवं इंजीनियर्स संगठन आदि इसी क्रम में माने जाते हैं। इस तरह दबाव समूह को हित समूह भी कहा जाता है। आजकल यही नाम ज्यादा चर्चा का विषय बना हुआ है।

13.3. दबाव समूह की परिभाषा (Definition of Pressure Group)

इसकी परिभाषा निम्न प्रकार से दी गई है–

1. माइनर वीनर के शब्दों में–''दबाव समूह से तात्पर्य प्रशासनिक ढाँचे से बाहर अपनी इच्छा से संगठित ऐसे गुटों से हैं जो प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति चुनाव, विधि निर्माण, और सरकारी नीति को प्रभावित करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील ही रहते हैं।''[1]

2. सत्य नारायण दुबे के शब्दों में–''शासन पर अधिकार जमाने का प्रयास किए बिना विधायकों और प्रशासकों की नीति तथा कार्यों को प्रभावित करने का प्रयास करता है वह दबाव समूह कहलाता है।''

3. हेनरी ए. टर्नर के शब्दों में–''दबाव समूह दरअसल एक गैर राजनीतिक संगठन है जो लोक नीति के लिए कभी भी प्रभावित करने का प्रयास करता रहता है।''

4. एच. जेग्लर के शब्दों में–''दबाव समूह एक ऐसा संगठित समूह है जो अपने सदस्यों को सरकारी पदों पर पदस्थापित किए बिना भी सरकारी निर्णय को प्रभावित करने की तीव्र इच्छा रखता है।''

5. कैसिल्स के शब्दों में–''दबाव समूह उसे कहते हैं जो शासकीय गतिविधियों द्वारा या उनके बिना ही राजनीतिक परिवर्तन लाने का प्रयत्न करे और जो उस समय स्वयं किसी विधायिका में प्रतिनिधित्व प्राप्त राजनीतिक दल के रूप में न हो।''

6. एम. जी. गुप्ता के शब्दों में–''दबाव समूह या हित समूह एक ऐसा माध्यम है जिससे सामान्य उद्देश्य वाले व्यक्तियों द्वारा सार्वजनिक मामलों की कार्यवाही को प्रभावित करने का प्रयत्न किया जाता है। इस दृष्टि से हर सामाजिक समूह जो औपचारिक रूप से शासन पर नियंत्रण किए बिना ही प्रशासकीय एवं विधायी दोनो प्रकार के राजनीतिक पदाधिकारियों के आचरण को प्रभावित करने का प्रयत्न करता है। दबाव समूह या हित समूह कहलाता है।''

7. एक्सटीन के शब्दों में–''दबाव गुट राजनीतिक समूहों के पूर्ण राजनीतिकरण से कुछ कम का और पूर्ण अराजनीतिकरण के बीच एक अंतरवर्ती स्वर का निर्माण करती है।''

8. वी. ओ. की के शब्दों में–''ये शब्द (दबाव समूह) ऐसे बदमाश लाबीबाज की तस्वीर मानस पटल पर उभारते हैं जो सदाचारी विधायक को जनहित में अपने विवेकानुसार आचरण नहीं करने देता और उसे पथभ्रष्ट करने के हथकंडे इस्तेमाल करने की कोशिश करता है।''

इन सभी परिभाषाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि हित समूह का कार्य शासन की नीतियों और प्रशासकों को प्रभावित कर निर्णय परिवर्तन कराने का मुख्य उद्देश्य रखते हैं। यह सार्वजनिक लोक हितों के लिए कभी भी प्रकट हो सकते हैं।

यद्यपि इनका अस्तित्व हमेशा बना रहता है। फिर भी ये अदृश्य शक्ति के रूप में रहकर कार्य करते हैं। यह अपने हितों को स्पष्ट करता है और उन्हीं की रक्षा करने का सर्वोच्च कार्य करता है।

नोट

13.4. दबाव समूह के उद्देश्य के कारण (Cause of Rising Pressure Group)

इनका अस्तित्व अचानक प्रकट नहीं हुआ है। बल्कि इनके लिए निम्न बिंदु उत्तरदायी हैं।

1. औद्योगिक संपन्नता की उपज–पूंजीवादी, समाजवादी, मिश्रित समाजवादी व्यवस्थाओं ने बड़े-बड़े उद्योगों की उत्पति करके मानव सभ्यता को बदलने का प्रयास किया था। इसी तरह औद्योगिक सभ्यता ने मजदूर, कमजोर वर्ग, समूह, समुदायों, में विभाजित करके अपने-अपने हितों की रक्षा करने की क्षमता का विकास करके प्रत्येक को प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से दबाव समूह का उदय करने की पृष्ठभूमि का निर्माण किया गया। सभी के अपने-अपने हितों की रक्षा करने के लिए जागरूक होने से इसकी उत्पत्ति हुई है।

2. राज्यों के कार्यों में प्रगतिशीलता होना–वर्तमान युग प्रगति का युग है। इसलिए राज्य के कार्यों में असीमित वृद्धि हो जाने से दबाव समूह के उत्पन्न होने का कारण माना जाता है। राज्य का व्यापक रूप हो जाने से सही प्रगति हो इसे गतिशीलता बनाए रखने की भूमिका दबाव समूह ही रखते हैं।

3. लोकतंत्र का व्यवहारीकरण होना–आधुनिक युग में लोकतंत्र सैद्धांतिक नहीं होकर व्यवहारिक बनता चला जा रहा है। इसलिए शासन में हितों की रक्षा करने के लिए संगठन का निर्माण भी होना व्यवहारिक बन गया था। लोकतंत्र की सफलता अब इसी पर निर्भर होने लगी है।

4. राजनीतिक दलों की बढ़ती हुई सहभागिता–आधुनिक युग में दो दलीय व्यवस्था, बहुदलीय व्यवस्था में स्थानीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर तक सहभागिता प्रत्येक राजनीतिक दलों की पाई जाती है। मतदाता अपने हितों के प्रति जागरूक बनता है। अपने हितों को स्पष्ट करता है। दबाव समूह अराजनीतिक संगठन होते हुए भी जनता के सदस्यों की भागीदारी प्राप्त कर लेता है।

5. निर्वाचन प्रणाली–आज के युग में निर्वाचन के बिना कोई सी भी राजनीतिक व्यवस्था का संचालन नहीं को रहा है। सभी में चुनावों की अनिवार्यता है। चुनावों के माध्यम से हितों को सुरक्षित रखा जाता है। चुनाव प्रणाली दबाव समूह की उत्पत्ति का कारण है।

6. राजनीति का व्यवसायीकरण होना–आधुनिक युग में राजनीति भौतिकवादी पहलू बनकर रह गई है। जो व्यक्ति राजनीति में लगे हुए हैं वे इसे व्यवसाय के रूप में समझते हैं, इससे अवसरवादी नेताओं की उत्पत्ति होती है। यह स्वार्थ सिद्धि का केंद्र बन गई। इसे रोकने के लिए ही हित समूह की उत्पत्ति हुई है। इससे सार्वजनिक हितों की रक्षा संभव है।

13.5. दबाव समूह की विशेषताएँ (Characteristics of Pressure Group)

इसकी निम्न विशेषताएँ इस प्रकार दी जाती हैं।

1. अनिश्चित साधनों का प्रयोग–दबाव समूह असीमित साधनों का प्रयोग कभी भी कर सकते हैं। यह नैतिक अनैतिक, हिंसात्मक संविधानिक साधनों का प्रयोग भी कर सकते हैं। यह अवसर की तलाश में हमेशा रहते हैं। इसके कार्यक्रम हमेशा गुप्त ही होते हैं। यह हड़तालें, बंद का आह्वान, विरोध, काले झंडों के प्रदर्शन का भी प्रयोग करने से दबाव समूह की शक्ति में वृद्धि निरंतर होती है।

2. परिवर्तनशील उद्देश्य–दबाव समूहों के उद्देश्य हमेशा परिवर्तनशील होते हैं। इनके उद्देश्य कभी पूरे नहीं होते है। एक उद्देश्य में दूसरे पूरक उद्देश्य उत्पन्न हो जाते हैं। इनकी भूमिका भी बार-बार बदलती रहती है। कभी स्थाई नहीं रहती है। इनका मात्र उद्देश्य यही रहता है कि किसी न किसी तरह शासन एवं नीतियों पर दबाव निरंतर डालते रहते हैं और अपने हितों की निरंतर पूर्ति करने में लगे रहते है। इसके उद्देश्य दीर्घकालीन और अल्पकालीन भी हो सकते हैं।

3. संगठनात्मक शक्ति के प्रतीक–दबाव समूह संगठित रहते हैं। अलगाववादी तत्व नहीं पाए जाते हैं। बल्कि संगठनात्मक शक्ति के तत्व पाए जाते हैं। एक संगठन की मांगों की पूर्ति के लिए सभी संगठन समर्थन देते रहते हैं। अपनी मांगो को मनवाने के लिए संगठित हो जाते हैं। इसके सदस्य, गैर सदस्य भी अपनी-अपनी भूमिका निर्वाह कर सकते हैं। यह संगठन सरकार से मान्यता प्राप्त हो, ऐसी अनिवार्यता नहीं होती है। संगठन मनमाने तरीके से कार्य करने के लिए स्वतंत्र होता है। यह बिना सदस्यता के भी शक्तिशाली संगठन माना जाता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. दबाव समूह की शृंखला में कौन-कौन से संगठन आते हैं?

2. एम.जी. गुप्ता द्वारा दी गई दबाव समूह की परिभाषा को लिखें।

नोट

4. शासनतंत्र में भूमिका नहीं–दबाव समूह शासन नहीं करता है और न ही शासन को संचालित करत है। प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से शासन संचालन करने के लिए चुनाव में प्रतिनिधि खड़े करना, चुनाव में विजय करवाना चुनाव में दबाव समूह की मुख्य विशेषता मानी जाती है। चुनाव में दबाव समूह धन व्यय भी करता है। यह हमेशा सर्वव्यापी बने रहते हैं, इसीलिए अपना प्रभाव निरंतर बनाए रखते है।

5. दबाव समूह और राजनीतिक दल में अंतर है–राजनीतिक दल शासन संचालन करने के पक्ष में महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करता है। राजनीतिक दलों के मुख्य कार्य चुनाव जीतना, सत्ता प्राप्त करना, मतदान में जागरूकता स्थापित करना आदि है। दबाव समूह में ऐसा नहीं पाया जाता है। शासन से बाहर रहकर दबाव समूह राजनीतिक व्यवस्था की नीतियों, कार्यक्रमों पर दबाव डालता है। विरोध प्रकट करवाते हैं, आंदोलन चलाए जाते हैं। इसका संचालन कौन कर रहा होता है, यह प्रत्यक्ष रूप से देखा नहीं जाता है। इसका कहीं पर भी संबंध राजनीतिक नहीं होता है। यह भिन्न–भिन्न कार्य करता है।

13.6. दबाव समूह के प्रकार (Types of Pressure Group)

दबाव समूह के प्रकार अलग-अलग राष्ट्रों में अलग-अलग प्रकार के पाए जाते हैं। किसी राष्ट्र में कम, किसी राष्ट्र में ज्यादा पाए जाते हैं। अमरीका, ब्रिटेन, भारत जैसे राष्ट्र में दबाव समूह के प्रकारों में अंतर पाया जाता है। फिर भी दबाव समूह को चार वर्गों में रखा जा सकता है।

1. संस्थागत हित समूह–इस तरह के हित समूह शासकीय प्रक्रिया को प्रभावित करने के लिए होता है। इसमें सरकारी विभागों के स्तर पर अनेक प्रकार के कार्यों को संपन्न किया जाता है। हित समूह संवैधानिक दृष्टि से हितों को प्रभावित करता है। इसमें कानूनी, गैर-कानूनी प्राक्रिया के विरुद्ध भी, हित समूह की भूमिका पाई जाती है। इसमें संस्थागत हितों की रक्षा करना ही मात्र इनका उद्देश्य होता है।

2. जाति, वर्ग, धर्म पर आधारित हित समूह–किसी भी जाति के हितों की रक्षा के लिए कुछ विशिष्ट व्यक्तियों का संगठन हित समूह हो सकता है। इसमें वर्ग, धर्म, को भी आधार बनाया जा सकता है। धार्मिक हितों की रक्षा के लिए, महिला हितों की रक्षा के लिए, समूह कभी-कभी ही अस्तित्व में आते हैं।

3. आकस्मिक हित समूह–ऐसे हित समूह कभी-कभी ही अस्तित्व में आते हैं और हितों को पूरा करने के बाद दूसरे हितों में लीन हो जाते हैं। जैसे बंद का आह्वान कराना, हड़तालों, तालाबंदी, जुलूस, रैलियाँ, आदि का आयोजन, शासन का विरोध करना और नीतियों को प्रभावित करके व्यापक दबाव डालना ही ऐसे हित समूहों का कार्य होता है।

4. औपचारिक और अनौपचारिक हित समूह–ऐसे हित समूह औपचारिक रूप से भी पाए जाते हैं और अनौपचारिक रूप से भी पाए जाते हैं। ऐसे समूह अपने हितों की रक्षा के लिए हमेशा अपना प्रतिनिधित्व करते रहते हैं। यह निरंतर संपर्क बनाए रखते हैं। सार्वजनिक और असार्वजनिक क्षेत्र में भी सक्रिय होते हैं। इसमें उद्योगपति, पूंजीपति, अभिजन वर्ग भी शामिल होते हैं।

यह अवसर मिलने पर अनुचित साधनों का भी प्रयोग करते हैं। यह व्यवसायिक, व्यापारिक भी हो सकते हैं। यह हित समूह लाभ पाने या लाभ पहुँचाने का ही उद्देश्य बनाए हुए रहते हैं।

13.7. दबाव समूह के कार्य (Works of Pressure Group)

दबाव समूह के कार्य स्थिर नहीं होते हैं। इनके कार्यों में गतिशीलता बनी रहती है। दबाव समूह राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सुरक्षा, विकास, सांस्कृतिक, आदि क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न कार्य करते हैं। इस तरह इन सभी क्षेत्रों में ये ऐसे कानूनों को बनवाने का प्रयास करते हैं जो उनके हितों के अनुकूल होते हैं या नीति जो शासन व्यवस्था द्वारा बनाई जाती है उसे किसी न किसी तरह प्रभावित करके संशोधित करवा लेते हैं। इस तरह समूह ऐसे कार्य संपन्न करवा लेता है जिससे कानून के माध्यमों से उसके हितों को बरकरार रखा जा सके। इसी तरह प्रशासन पर भी नियंत्रण रखने एवं उनको प्रभावित करने का कार्य भी निरंतर करता है। ऐसी स्थिति में दबाव समूह के कार्यों को निम्न बिंदुओं में रखा जा सकता है–

1. मांगों को उत्पन्न करना–दबाव समूह अपने हित साधन के लिए मांगें उत्पन्न करके उन्हें मनवाने के लिए समुचित साधनों का प्रयोग करता है। एक बार मांग उठ जाने पर निरंतर मांग को मनवाने के लिए सक्रियता रखी जाती है। इसके लिए बार-बार हड़तालें, बंद, रैलियाँ, आदि का आयोजन किया जाता है।

2. चुनाव में प्रत्याशी खड़े करना एवं निरंतर समर्थन देना–दबाव समूह संसद/विधान सभा के उम्मीदवारों में अपने-अपने उम्मीदवार खड़े करता है। चुनाव क्षेत्र में उम्मीदवार खड़े करने के बाद वह निरंतर विजयी बनाए जाने के लिए समर्थन और धन भी देता रहता है। इसमें जन-शक्ति से भी समर्थन लिया जाता है।

नोट

ऐसा इसलिए किया जाता है कि वे अपने आदमी शासन व्यवस्था में रखेंगे तो नीतियों को बनवाने मे अपनी भूमिका निर्वाह कर सकते हैं। यह विधायकों/सांसदों को हमेशा अपने पक्ष में रखने का प्रयास करता रहता है।

3. संपर्क, भेंट, साक्षात्कार से आग्रह–दबाव समूह अपने हितों की रक्षा के लिए संपर्क निरंतर बनाए रखता है। यह शासन, प्रशासन से हमेशा संपर्क में रहता है। यह आवश्यकतानुसार भेंट, वार्ता, भी करता है। इसमें ध्यान आकर्षित करता रहता है। यदि इसके बाद भी कोई प्रगति नहीं होती है तो अंतिम रूप से न्याय की शरण हेतु न्यायालय में वाद दायर करके अपने हितों की रक्षा करता है।

4. हड़तालें, रैलियाँ, विरोध आयोजन–दबाव समूह शासन की नीतियों के विरुद्ध हड़तालें करवाने में सबसे आगे रहते हैं। कभी-कभी शासन की नीतियों के विरोध में रैलियों का आयोजन करके प्रभावित किया जाता है। दबाव समूह हमेशा असंतुष्ट समूह के रूप में ही रहता है। वह संतुष्ट होने के लिए अन्य राजनीतिक दलों से निरंतर विरोध प्रकट करवाता रहता है।

एक दबाव समूह दूसरे समूह को व्यापक समर्थन देता है इससे मांग को मनवाने में आसानी रहती है।

5. राजनीतिक दलों को आर्थिक सहायता देना–आधुनिक युग में चुनाव लड़ने के लिए धन शक्ति का महत्त्व पाया जाता है। इसलिए राजनीतिक दलों के पास धन कहाँ से आता है और धन कौन चुनावों में देता है। इसका सही-सही लेखा नहीं रखा जाता है। चुनावों में करोड़ों रुपया आर्थिक सहायता के रूप में चुनाव में खर्चा किया जाता है। राजनीतिक दल उद्योगपतियों के सहयोग के बिना सत्ता प्राप्त नहीं कर सकते हैं। इसलिए राजनीतिक दल आर्थिक सहायता के बदले में उनके हितों को सुरक्षित करने का एक जरिया बना हुआ है।

6. समाज और राजनीतिक व्यवस्था में भूमिका–दबाव समूह के हितों को स्थाई रखने के लिए प्रयास करता है। यदि कभी राजनीतिक व्यवस्था और समाज के बीच सीधा संघर्ष कायम हो जाता है तो दबाव समूह समन्वयवादी भूमिका निर्वाह करता है। इसके लिए वार्ता, सुलह का आयोजन करता है। समाज में जातीय संघर्ष, धार्मिक संघर्ष, राजनीतिक संघर्ष पाए जाते हैं। दबाव समूह इसमें भी अपनी भूमिका निर्वाह करता है। यह सरकारी जांच आयोगों के सामने गवाही पेश करता है। कभी-कभी अपना प्रतिनिधित्व भी करता है यह शासन की समस्त सूचनाओं को जनता तक प्रसारित करता है। यह इससे अपने हितों को पूरा करता है।

13.8. दबाव समूह के गुण (Merits of Pressure Group)

आधुनिक युग में दबाव समूह/हित समूह का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इसके होने से अनेक लाभ होते हैं। फिर भी हम यह मान सकते हैं कि दबाव समूह में निम्न गुण पाए जाते हैं–

1. लोकतंत्र के पोषक–हित समूह को लोकतंत्र का पोषक माना जाता है। यह राजनीति और प्रशासन दोनों में जनता की सहभागिता बनाए रखने के लिए निरंतर प्रयास करता है। इसके साथ-साथ जनता को संगठित कर एक शक्ति के रूप में प्रदर्शित करने का भी कार्य करता है। अगर इनका अस्तित्व नहीं होगा तो लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता है। इनके बिना लोकतंत्र नाममात्र का ही रह जाएगा।

2. प्रतिनिधित्व की जागरूकता बढ़ाना–दबाव समूह जनता में प्रतिनिधित्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने का भी कार्य करता है। इससे जनता में सामाजीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होती है। जनता जितनी जागरूक होगी उतनी ही राजनीतिक सफलता प्राप्त होगी। इससे यह हित समूह निरंतर रूप से अपनी भूमिका निर्वाह करता है।

नोट

3. शासकीय सूचनाओं की जानकारी प्रसारित करना–शासन में क्या होता है? कैसे नीतियाँ बनती हैं? कैसे नीतियाँ क्रियान्वित होती हैं? शासन की क्या खामियाँ होती हैं? इसकी क्या-क्या सफलता हो सकती है? इसकी वास्तविकता क्या है? इन सब के बारे मे दबाव समूह सूचना जनता तक पहुँचाता है। इसके बाद जनता सक्रियता की भूमिका निर्वाह करती है। जनता स्वयं रैलियों, विद्रोह का आयोजन स्वयं करने लग जाती है। इसमें दबाव समूह नेतृत्व प्रदान करने का भी कार्य करते हैं। इससे इनका स्थान महत्त्वपूर्ण बन जाता है।

13.9. दबाव समूह के दोष (Demerits of Pressure Group)

दबाव समूहों से अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। इससे शासन व्यवस्था के सामने निरंतर संघर्ष, समस्याएँ भी रहती हैं। जो कार्य जिस समय पर पूर्ण होना चाहिए वह वास्तव में संपन्न होता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में दूसरे ही कार्य संपन्न हो जाते हैं। इससे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

1. भ्रष्टाचार शिष्टाचार का प्रतीक होता है–राजनीति एवं प्रशासन में भ्रष्टाचार व्याप्त होता चला जाता है। इसके बिना कोई कार्य नहीं होता है। राजनेताओं का चरित्र निम्न कोटि के स्तर का हो जाता है। सभी नेता भ्रष्टाचार में लिप्त पाए जाते हैं। इसे आधुनिक युग में शिष्टाचार का प्रतीक माना जाता है शासकीय कार्यालयों में लालफीताशाही बढ़ती रहती है।

2. व्यक्तिगत स्वार्थों, हितों का महत्त्व–इसमें सार्वजनिक हितों को नकारात्मक कर दिया जाता है। इसके स्थान पर व्यक्तिगत लाभ, स्वार्थों और हितों का ही ध्यान रखा जाता है। यह राष्ट्र की सेवा करने के स्थान पर धन संग्रह का कार्य करता है। इससे राष्ट्र का विकास भी प्रभावित होता है। दबाव समूह व्यक्तिगत हितों की पूर्ति सर्वोपरि रखते हैं।

3. अलोकतांत्रिक साधनों का प्रयोग–दबाव समूह अवसरवादी होता है। यह कभी भी हितों, शक्ति एवं असंवैधानिक साधनों का प्रयोग कर सकता है। इससे कानून और शांति व्यवस्था को खतरा उत्पन्न होता है। इससे राष्ट्र के धन, जन-शक्ति को हानि पहुँचती है।

4. अन्य वर्ग के हितों की नगण्यता–दबाव समूह हमेशा अपने ही हितों को प्राथमिकता देता है, दूसरे वर्ग विशेष के हितों को प्राथमिकता नहीं देता है। अन्य वर्ग के हितों को कभी पूरा नहीं करता है। यह हमेशा पक्षपात पूर्ण हितों को पूर्ण करने का प्रयास करता है। इसके हित बदलते रहते हैं।

13.10. प्रतिनिधित्व समूह के सिद्धांत (Principle of Representation Groups)

आधुनिक युग में राजनीतिक व्यवस्थाओं के बढ़ते हुए महत्त्व में राजनीतिक दलों के साथ-साथ समूहों के प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास तेजी से हो रहा है। प्राचीन युगीन राज्य और आधुनिक राज्यों में व्यापक अंतर आ जाने से प्रतिनिधित्व प्रणाली का महत्त्व और बढ़ जाता है इससे इसके स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है। प्रत्येक राष्ट्र में अलग-अलग प्रतिनिधित्व के सिद्धांत विकसित हो रहे हैं। इससे राजनीतिक स्वतंत्रता का विस्तार भी हुआ है।

किसी भी राष्ट्र में चाहे कैसी भी शासन व्यवस्था स्थापित की गई हो फिर भी उसमें प्रतिनिधित्व के सिद्धांत अवश्य पाए जाते हैं। दरअसल यह प्रणाली 13वीं शताब्दी के बाद में विकसित की गई है। प्राचीन युग में सम्राट या शासक वसूली के लिए अपने प्रतिनिधि की नियुक्ति करता था। सबसे पहले ब्रिटेन के संसदीय प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास हुआ था। भारत में भी ब्रिटेन कालीन शासन व्यवस्था में प्रतिनिधित्व प्रणाली का विकास हुआ था। इसके बाद स्वतंत्र भारत में इसका संबंध प्रतिनिधित्व एवं निर्वाचन से जोड़ दिया गया। आधुनिक युग में प्रतिनिधित्व वयस्क मताधिकार प्रणाली का महत्त्वपूर्ण हिस्सा बन चुका है।

प्रतिनिधित्व का अर्थ एवं परिभाषा–प्रतिनिधित्व के अनेक अर्थ लिए जाते हैं फिर भी हम इसको राजनीतिक क्षेत्र के संदर्भ में भी समझने का प्रयास करेंगे तभी इसको सही अर्थों में समझा जा सकता है। इस संबंध में इसकी निम्न परिभाषा इस प्रकार दी जाती है।

छात्र क्रियाकलाप

1. दबाव समूह कितने प्रकार के हैं? वर्णन कीजिए।

2. दबाव समूह के गुण एवं दोषों का उल्लेख कीजिए।

1. **ए. एच. बिच के अनुसार**–''राजनीतिक प्रतिनिधित्व एक ऐसा व्यक्ति है जो परंपरागत या कानून द्वारा एक राजनीतिक व्यवस्था में प्रतिनिधि का स्तर रखता है और प्रतिनिधि की भूमिका निभाता है।''

2. **लार्ड एक्टन के अनुसार**–''प्रतिनिधित्व आधुनिक समय की महत्त्वपूर्ण खोज है।''

3. **एक अन्य अर्थ एवं परिभाषा के रूप में वर्णित है**–''प्रतिनिधित्व एक ऐसी प्रक्रिया

नोट

13.11. सारांश (Summary)

दबाव समूह से तात्पर्य प्रशासनिक ढाँचे से बाहर अपनी इच्छा से संगठित ऐसे गुटों से है जो प्रशासनिक अधिकारियों की नियुक्ति, चुनाव, विधि निर्माण और सरकारी नीति को प्रभावित करने के लिए निरंतर प्रयत्नशील ही रहते हैं। दबाव समूह अपने हितों की रक्षा के लिए संपर्क निरंतर बनाए रखता है। यह आवश्यकतानुसार भेंटवार्ता भी करता है। ये शासन की नीतियों के विरुद्ध हड़तालें करवाने में सबसे आगे रहते हैं। दबाव समूह जनता में प्रतिनिधित्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने का भी कार्य करता है। इससे जनता में सामाजीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होती है। आधुनिक युग में दबाव समूह का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। इसे लोकतंत्र का पोषक माना जाता है। इसके बिना लोकतंत्र सफल नहीं हो सकता।

13.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. दबाव समूह क्या है? परिभाषा सहित स्पष्ट कीजिए।
2. दबाव समूह कितने प्रकार के होते हैं? बताइए।
3. दबाव समूह के कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. दबाव समूह के गुण एवं दोषों का विशद वर्णन कीजिए।
5. दबाव समूह के सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-14

जनमत
(Public Opinion)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

14.1. उद्देश्य (Objectives)
14.2. परिचय (Introduction)
14.3. लोकमत का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Public Opinion)
14.4. लोकमत की विशेषताएँ (Characteristics of Public Opinion)
14.5. लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति (Formation and Expression of Public Opinion)
14.6. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की बाधाएँ
(Hindrances to Formation of Healthy Public Opinion)
14.7. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियाँ
(Necessary Conditon for the Formation of Healthy Public Opinion)
14.8. लोकमत का मापन (Measurement of Public Opinion)
14.9. सारांश (Summary)
14.10. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

14.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आपको जनमत का अर्थ, परिभाषा, विशेषताओं एवं इसके निर्माण की आवश्यक परिस्थितियों का अध्ययन कराया जाएगा।

- लोकनिर्माण के अर्थ, परिभाषा एवं विशेषताओं का अध्ययन करेंगे।
- लोकमत के निर्माण और निर्माण में आने वाली बाधाओं से अवगत होंगे।
- स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियों के बारे में जानेंगे।
- लोकमत के मापन का अध्ययन करेंगे।

14.2. परिचय (Introduction)

वर्तमान युग लोकतंत्र का युग है। लोकतांत्रिक शासन प्रणाली जनमत पर आधारित होती है। लोकतांत्रिक शासन जनता द्वारा, जनता के लिए, जनता का शासन होता है। लोकतांत्रिक व्यवस्था के अंतर्गत जनता की इच्छा को शासन द्वारा कार्यान्वित किया जाता है। किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि अन्य प्रकार की शासन प्रणालियों के लिए लोकमत की आवश्यकता नहीं होती। वस्तुतः प्रत्येक प्रकार की शासन व्यवस्था के संचालन के लिए लोकमत की आवश्यकता किसी न किसी प्रकार से होती है। सैद्धांतिक रूप से राजतंत्रात्मक शासन प्रणाली के अंतर्गत राजा की इच्छा और कुलीनतंत्रात्मक शासन प्रणाली में देश के कुलीन

वर्ग की इच्छा सर्वोपरि होती है। किंतु राजा या कुलीन वर्ग द्वारा किए जाने वाले इस प्रकार के शासन को स्थायित्व उसी समय प्राप्त हो सकता है, जबकि शासन वर्ग द्वारा लोकमत के आधार पर शासन किया जाए।

राजतंत्रात्मक या कुलीनतंत्रात्मक शासन के अंतर्गत शासक वर्ग यह जानकारी प्राप्त करने की चेष्टा करता है कि जनता उसके शासन के बारे में क्या सोचती है? क्योंकि इसी जानकारी के आधार पर वह शासन की त्रुटियों को दूर करके विरोधी प्रवृत्तियों को उत्तेजित होने से पूर्व उनका प्रतिरोध कर सकता है। लेकिन ऐसी जानकारी के अभाव में शासन को भयंकर विरोध का सामना करने की प्रबल संभावना रहती है।

नोट

अधिनायकवादी शासन में भी लोकमत का महत्त्व होता है। इस व्यवस्था में अधिनायक स्वयं लोकमत को नष्ट करके अपनी राय के अनुकूल लोकमत के निर्माण का प्रयास करता है। महत्वाकांक्षी शासक सही या गलत तरीकों से लोकमत का समर्थन प्राप्त करके अधिनायक बनने में सफल होते हैं। केवल इतना ही नहीं, विदेशी शासन भी लोकमत की सहायता बिना अधिक दिनों तक नहीं चल सकता है। विभिन्न देशों में उपनिवेशवादी शासन इसका प्रमाण है। इस प्रकार (राजतंत्रात्मक, कुलीनतंत्रात्मक, लोकतंत्रात्मक, अधिनायकवादी तथा विदेशी शासन) सभी प्रकार की शासन प्रणालियों में लोकमत का महत्त्व होता है। **ए. ओ. ह्यूम** के शब्दों में, ''लोकमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को शासन का आधार बनाकर पृथ्वी पर कभी कोई शासन नहीं कर सका है।''

14.3. लोकमत का अर्थ व परिभाषा (Meaning and Definition of Public Opinion)

शाब्दिक दृष्टि से लोकमत दो शब्दों से मिलकर बना है–'लोक' (Public) और 'मत' (Opinion)। अतः लोकमत को समझने के लिए इन दोनों शब्दों के अर्थ को पृथक्-पृथक् रूप से समझना आवश्यक हो जाता है। लोक का अर्थ है जनता अथवा 'जनसमूह' (People)। **किम्बाल यंग** के शब्दों में, "सामान्य रुचि वाले व्यक्तियों के एक ढीले रूप से संगठित और संयुक्त स्वरूप को जनता कहते हैं।"

मत (Opinion) का शाब्दिक अर्थ है। राय। वस्तुतः मत शब्द विचार, अनुभव और विश्वास की ओर संकेत करता है। **किम्बाल यंग** के अनुसार, "यह शब्द मत, विचार अनुभव या विश्वास की ओर संकेत करता है जो पूर्ण निश्चयात्मकता का संक्षिप्त है।"

विभिन्न विद्वानों ने लोकमत को भिन्न-भिन्न प्रकार से समझाने का प्रयास किया है।

कुछ प्रमुख विद्वानों की लोकमत से संबंधित परिभाषाएँ निम्नवत हैं–

1. **जेम्स ब्राइस** के अनुसार, "समाज के हित संबंधी विषयों पर लोगों के कुछ विचार होते हैं। आरम्भ में वे असंगठित और अस्पष्ट होते हैं। विषय का भली-भाँति ज्ञान न होने के जनता के विचारों में अस्थिरता भी रहती है। ज्यों-ज्यों विषय पर प्रकाश पड़ता है, विचारों में परिवर्तन होता रहता है। कुछ समय पश्चात् कुछ समस्याएँ सबको अपनी ओर खींच लेता है। उनके संबंध में पहले अस्थिर और अस्पष्ट विचार आगे चलकर निश्चित रूप धारण कर लेते हैं। जनता के विचारों को इस निश्चित रूप को यदि बहुमत द्वारा निर्धारित किया गया हो, लोकमत कहते हैं।''

2. **एल. डब्ल्यू. डूब** का कहना है, "लोकमत का अर्थ एक ही सामाजिक गुट के सदस्यों के रूप में जनता का किसी प्रश्न या समस्या के प्रति रुख या विचार है।''

3. **रूसेक** के अनुसार, "लोकमत किसी विशेष समय या स्थान में प्रचलित प्रभावपूर्ण विरोधी विचारधाराओं के समन्वय से बना हुआ सार्वजनिक मत होता है। संपूर्ण गुट से संबंधित विवादास्पद समस्याओं के बारे में गुट के सदस्यों द्वारा अपनी पसंद निश्चित करना और उसे प्रकट करना ही लोकमत है।''

4. **जिन्सबर्ग** के शब्दों में, "लोकमत का अभिप्राय समाज में प्रचलित उन विचारों और निर्णयों के पुंज से होता है, जो न्यूनाधिक निश्चित रूप से प्रतिपादित होते हैं, जिनमें से कुछ में स्थायित्व और जिनको मानने वाले लोग उन्हें इस अर्थ में सामाजिक समझते हैं कि वे अनेक मस्तिष्कों द्वारा एक साथ विचार किए जाने का परिणाम है।''

5. **लावेल** के अनुसार, "लोकमत विवेक और निःस्वार्थ भावना के ऊपर आधारित विचार है। जिसका लक्ष्य जाति अथवा वर्ग विशेष का हित न होकर संपूर्ण समाज का हित होता है।''

6. **कोरी** तथा **अब्राहम** का कहना है, "लोकमत किसी भी रूप में अनिवार्यतः पूर्ण बहुमत की राय नहीं है, क्योंकि किसी भी विषय पर अनेक और विभिन्न लोकमत हो सकते हैं और यह ज्ञात करना वास्तव में दुष्कर है कि एक सच्चे बहुमत की राय क्या है।''

7. **सोल्टाऊ** के अनुसार, "इस शब्द का प्रयोग साधारणतया उन विचारों और इच्छाओं के संबंध में किया जाता है जो जनता अपने सामान्य जीवन के संबंध में रखती है।"

8. **कुप्पूस्वामी** के अनुसार, "एक समय विशेष में, किसी विशिष्ट समस्या के संबंध में एक छोटे या बड़े समुदाय के लोगों द्वारा स्वीकृत मत को जनमत कहते हैं।''

नोट

14.4. लोकमत की विशेषताएँ (Characteristics of Public Opinion)

लोकमत की निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं–

1. **जनसाधारण का मत**–किसी विशेष वर्ग या व्यक्तियों के मत को लोकमत की संज्ञा नहीं दी जा सकती, लोकमत के लिए यह आवश्यक है कि वह जनसाधारण का मत हो।

2. **सार्वजनिक हित की भावना से प्रेरित**–लोकमत सार्वजनिक हित व लोककल्याण की भावना से उत्प्रेरित होता है। **डॉ. बेनीप्रसाद** ने कहा है कि "वही मत वास्तविक लोकमत होता है, जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित हो।" इसी बात को **लॉबेल** ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि, "लोकमत के लिए केवल बहुमत ही पर्याप्त नहीं होता और न ही एकमत की आवश्यकता होती है। कोई भी मत लोकमत का रूप धारण करने के लिए ऐसा चाहिए, जिसमें चाहे अल्पमत भागीदार न हो, परंतु भय के कारण नहीं वरन् दृढ़ विश्वास के कारण उसे स्वीकार करता हो।"

3. **जनता का स्थायी मत**–लोकमत भावनाओं के अस्थिर आवेग या एक समय विशेष में प्रचलित पर आधारित न होकर जनता के विवेक और स्वतः विचारों पर आधारित होता है।

4. **जनमत का आधार वैचारिक स्वतंत्रता**–वैचारिक स्वतंत्रता जनमत का आधार है। स्वस्थ जनमत का निर्माण तब तक संभव नहीं है जब तक कि जनता को विचार व्यक्त करने की स्वतंत्रता न हो।

5. **विशिष्ट सांस्कृतिक आधारों एवं मूल्यों द्वारा जन्म**–लोकमत का जन्म और विकास विशिष्ट सांस्कृतिक आधारों और मूल्यों द्वारा होता है।

6. **जनता के हितों, उद्देश्यों और रुचियों का लोकमत पर प्रभाव**–लोकमत पर जनता के हितों, उद्देश्यों और रुचियों का प्रभाव पड़ता है।

7. **लोकमत के निर्माण में विविध तत्वों का योगदान**–लोकमत के निर्माण की प्रक्रिया सरल नहीं है। इसके निर्माण में जनता की विविध प्रतिक्रियाओं, वाद-विवाद और समझौता आदि का सम्मिलित योगदान होता है।

लोकमत और बहुमत (Public Opinion and Majority)–लोकमत को स्पष्ट रूप से समझने के लिए लोकमत का बहुमत और सर्वसम्मति में अंतर समझना आवश्यक हो जाता है। एक देश के बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा व्यक्त मत को बहुमत कहा जाता है। किंतु कई बार बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा व्यक्त यह मत संपूर्ण जनता के हित में नहीं होता, क्योंकि इसमें अल्पसंख्यकों के कल्याण को ध्यान में नहीं रखा जाता। परंतु जहाँ तक लोकमत का संबंध है। अल्पसंख्यक तथा बहुसंख्यक दोनों में से किसी के द्वारा भी व्यक्त मत को उस समय तक लोकमत नहीं कहा जा सकता जब तक वह सभी व्यक्तियों के हित से संबंधित न हो। लोकमत सदैव विवेक और मानव समुदाय के स्थायी विचारों पर आधारित है, जबकि बहुमत समान्यतया भावना प्रधान होता है।

लोकमत और सर्वसम्मति–लोकमत और बहुमत की भाँति लोकमत और सर्वसम्मति में भी अंतर होता है। सामान्यतया सर्वसम्मत उस मत को कहते हैं, जिसमें सभी एकमत हों। किंतु लोकमत के लिए किसी एक विषय पर इस प्रकार की सर्वसम्मति आवश्यक नहीं है। इसके साथ ही सभी व्यक्तियों द्वारा व्यक्त मत संपूर्ण जनता के कल्याण से संबंधित हो, यह आवश्यक नहीं है। स्थायित्व लोकमत का एक आवश्यक गुण है। लोकमत जनता का स्थायी मत होता है। लेकिन सर्वसम्मति में इस प्रकार से स्थायित्व एवं एकता का अभाव होता है।

नोट

राजतंत्र में लोकमत का महत्त्व–सैद्धांतिक रूप से राजतंत्रात्मक शासन व्यवस्था के अंतर्गत राजा की इच्छा सर्वोपरि होती है। इस आधार पर राजतंत्रीय शासन में शासन के निरंकुश होने और स्वार्थ साधना की दृष्टि से शासन के संचालन की अधिक संभावना रहती है। किंतु लोकमत इस प्रकार की संभावना को प्रतिबंधित करता है, क्योंकि राजा इस बात को भली भाँति जानता है कि लोकमत की अवहेलना करके उसका शासन स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकता।

विदेशी शासन में लोकमत का महत्त्व–विदेशी शासनों के लिए भी लोकमत महत्त्वपूर्ण होता है। साधारणतः विदेशी शासन का संचालन अपने देश के स्वार्थों की पूर्ति हेतु करते हैं। लेकिन लोकमत विदेशी शासन को ऐसा करने से रोकता है और उन्हें सजग करता है कि लोकमत की निरंतर अवहेलना से उनके शासन का अंत हो सकता है।

लोकतंत्र में लोकमत का महत्त्व–अन्य शासन प्रणालियों की अपेक्षा लोकतंत्र में लोकमत का विशेष महत्त्व है। लोकमत लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था का आधार है।

गैटिल के अनुसार, "लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की सफलता इस बात पर निर्भर करता है कि लोकमत किस सीमा तक स्वस्थ, सुविकसित तथा शासन के कार्य व उसकी नीतियों को नियंत्रित करने में प्रभावी है।"

लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था में लोकमत का महत्त्व निम्न प्रकार है–

1. **सरकार के निर्माण एवं पतन में लोकमत की भूमिका**–लोकतांत्रिक व्यवस्था में सरकार का निर्माण और पतन लोकमत पर ही निर्भर करता है। लोकतंत्र में सत्तारूढ़ दल के तभी पुनः सत्ता में आने की संभावना रहती है, जबकि उसके द्वारा निरंतर लोकमत का अनवरत पालन किया जाता है। परंतु यदि उसके द्वारा लोकमत का सम्मान नहीं किया जाता तो उसके स्थान पर विरोधी दल के सत्ता में आने की संभावनाएँ बढ़ जाती हैं। **ई. बी. शुल्ज** के अनुसार, "लोकमत एक प्रबल सामाजिक शक्ति है, जिसकी अवहेलना करने वाला स्वयं अपने लिए संकट आमंत्रित करता है।''

2. **शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण**–लोकमत शासन की निरंकुशता पर नियंत्रण स्थापित करने की दिशा में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। लोकतंत्र में जनमत की शक्ति के आधार पर ही शासक वर्ग को मनमानी करने से रोका जा सकता है। इस प्रकार लोकतंत्र में लोकमत के आधार पर शासन को सही दिशा में कार्य करने के लिए बाध्य किया जा सकता है।

3. **शासन का पथ-प्रदर्शन**–लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोकमत के विभिन्न अभिकरणों के माध्यम से शासन के अनुचित कार्यों की आलोचना होती रहती है, जिससे शासन का पथ प्रदर्शित होता है और शासन लोकमत के अनुकूल आचरण करने का प्रयत्न करने लगता है। **जोस आर्टीगेग** के शब्दों में, "लोकमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को आधार बनाकर पृथ्वी पर कोई नहीं रह सका है।"

4. **प्रशासकों की भ्रष्टता की प्रवृत्ति पर रोक**–कई अवसरों पर प्रशासक वर्ग को भ्रष्टता और मनमानी प्रवृत्ति को अपनाते हुए देखा गया है। लोकतंत्र में लोकमत को जागृत करके ही इस प्रकार की प्रवृत्ति पर नियंत्रण रखा जा सकता है।

5. **राजनीतिक जागरूकता में सहायक**–लोकतांत्रिक शासन की सफलता राजनीतिक जागरूकता पर निर्भर करती है। लोकमत नागरिकों में राजनीतिक जागरूकता का विकास करता है। लोकमत से प्रेरित इस प्रकार की जागरूकता लोकतंत्र के ठोस आधार का निर्माण करती है।

6. **नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा**–लोकमत नागरिकों की स्वतंत्रता की रक्षा में सहायक है, जब कभी सरकार द्वारा उसका प्रतिरोध किया जाता है। इसीलिए यह कहा जाता है कि सतत् जागरूकता ही स्वतंत्रता का मूल्य है।

उपर्युक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि स्वस्थ लोकमत से लोकतंत्र का व्यावहारिक रूप विकृत हो जाता है। लोकमत के इसी महत्त्व के कारण लोकतांत्रिक व्यवस्था में लोकमत के निर्माण में सहायक संस्थाओं को विकसित करने का समुचित प्रयत्न किया जाता है। **गैटिल** के शब्दों में आधुनिक लोकतंत्रीय राज्यों में लोकमत के महत्त्व के कारण ही प्रचार के विभिन्न साधनों पर अत्यधिक ध्यान दिया जाता है, जिससे जनता के राजनीतिक विचारों का निर्माण एवं निर्देशन किया जा सके। **डॉ. आशीर्वादम** के शब्दों में, यद्यपि लोकमत की सही-सही खोज कठिन होती है फिर भी यही एक ऐसी मजबूत आधारशिला है जिस पर स्थायी लोकतंत्र का निर्माण किया जा सकता है।

छात्र क्रियाकलाप

1. लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।

2. लोकमत की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।

नोट

14.5. लोकमत का निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति
(Formation and Expression of Public Opinion)

लोकमत की निर्माण प्रक्रिया अत्यंत जटिल है और उसमें मनुष्य के व्यक्तिगत लक्षणों से लेकर बाहर की समूह व्यवस्था, राजनीतिक संरचनाओ व प्रक्रियाओं तक का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। इस प्रकार लोकमत के निर्माण और अभिव्यक्ति के अनेक साधन हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं–

1. **मानव-तत्व** (Human Element)–लोकमत के विकास और निर्माण में सबसे महत्त्वपूर्ण भूमिका मानवीय-तत्वों की है। वस्तुतः लोकमत की अभिव्यक्ति और निर्माण के अन्य साधनों की प्रभावकारिता भी बहुत कुछ मानव के ऊपर ही निर्भर करती है। उदाहरण के लिए समाज में लोकमत के विकास में भूमिका नगण्य हो जाती है जहाँ व्यक्ति साक्षर होते हुए भी समाचार पत्र नहीं पढ़ते हैं। अतः मानवीय तत्व लोकमत के निर्माण एवं निरूपण में आधारभूत महत्त्व रखता है।

सामान्यतया उस दृष्टि से सभी व्यक्तियों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया जा सकता है–

प्रथम श्रेणी में विधायक, समाचार पत्रों के संपादक और संवाददाता तथा विभिन्न राजनीतिक दलों के महत्त्वपूर्ण सदस्यों आदि को सम्मिलित किया जा सकता है, जिनके द्वारा मुख्य रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में ही कार्य किया जाता है।

द्वितीय श्रेणी में उन व्यक्तियों को सम्मिलित किया जा सकता है जो अपना साधारण कार्य व्यापार करते हुए सार्वजनिक मामलों को समझने और संपर्क में आने वाले व्यक्तियों के विचारों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं।

तृतीय श्रेणी के अंतर्गत वे सभी व्यक्ति आते हैं जो उपर्युक्त दोनों वर्गों के विचारों से प्रभावित होकर अपने विचारों का निर्माण करते हैं। इससे स्पष्ट है मानवीय तत्व लोकमत के निर्माण में सर्वाधिक क्रियाशील होता है।

2. **परिवार व प्राथमिक समूह** (Family and Primary Group)–व्यक्ति के संस्कारों के निर्माण में परिवार व प्राथमिक समूहों का बहुत अधिक महत्त्व होता है। परिवार में ही व्यक्ति के जीवन के दृष्टिकोण का निर्माण व विकास होता है। परिवार प्रत्यक्ष रूप से मूलभूत पाठशाला कहा जा सकता है।

परिवार व अन्य प्राथमिक समूहों में व्यक्ति की अन्य व्यक्तियों से न केवल आत्मीयता होती है अपितु इनका व्यक्ति के आधारभूत विचारों के विकास में विशेष महत्त्व होता है। इस प्रकार परिवार व प्राथमिक समूहों में ही व्यक्ति समाज एवं सामाजिक रूप प्रदान करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल अपने उद्देश्यों, सिद्धातों तथा नीतियों के प्रचार द्वारा जनमत का निर्माण तथा उसमें परिवर्तन करते हैं।

14.6. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की बाधाएँ
(Hindrances to Formation of Healthy Public Opinion)

स्वस्थ लोकमत के निर्माण में अनेक बाधाएँ होती हैं, जिनमें कुछ प्रमुख बाधाएँ इस प्रकार हैं–

1. **निर्धनता और आर्थिक विषमता**–स्वस्थ लोकमत के निर्माण में सबसे बडी बाधा निर्धनता और आर्थिक विषमता की है। निर्धनता के कारण व्यक्ति की सारी शक्ति और समय दैनिक जीवन की आवश्यकताओं के साधन जुटाने में चला जाता है और सार्वजनिक हित की बातों के बारे में वह चिंतन नहीं कर पाता है। इसी प्रकार समाज में फैली हुई आर्थिक असमानता भी स्वस्थ लोकमत के निर्माण में एक मुख्य बाधा है।

जब धन संपन्न और निर्धन वर्ग एक दूसरे को अपना निश्चित शत्रु मान लेते हैं तो वे सार्वजनिक बात के संबंध में सार्वजनिक हित की दृष्टि से ही नहीं, वरन् अहित की दृष्टि से विचार करते हैं और लोकमत बहुत अधिक दूषित हो जाता है।

2. **अशिक्षा**–अशिक्षा के कारण स्वस्थ लोकमत का विकास नहीं हो पाता। अशिक्षित लोग समाचार पत्र व अन्य उपयोगी साहित्य नहीं पढ़ सकते। फलतः वे विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाते और दूसरे

लोगों के विचारों को भी नहीं जान पाते हैं। इसके साथ ही वे लेखों के माध्यम से अपने विचारों को दूसरों तक भी नहीं पहुँचा पाते हैं। इसलिए अशिक्षा लोकमत के निर्माण की एक बड़ी बाधा है।

3. वर्गीयता तथा साम्प्रदायिकता—वर्गीयता तथा साम्प्रदायिकता की भावना जनता के लिए सदा अहितकारी होती है। जिस समाज में जातियों, संप्रदायों, भाषाओं, धर्मों पर आधारित भेदभाव पाया जाता है, उसमें लोगों में पारस्परिक द्वेष रहता है। क्योंकि सब लोग अपने-अपने वर्ग एवं संप्रदाय के हित चिंतन में संलग्न रहते हैं और सार्वजनिक हित का कोई ध्यान नहीं रखते। उनके अंदर स्वार्थ भावना, संकीर्णता एवं असहिष्णुता आदि बुराईयाँ घर कर लेती हैं, जो आदर्श जनमत के निर्माण की शत्रु हैं।

नोट

4. दोषपूर्ण राजनीतिक दल—यदि राजनीतिक दल आर्थिक और राजनीतिक कार्यक्रम पर आधारित हों तो वे लोकमत के निर्माण में बहुत अधिक सहायक होते हैं। किंतु जब दलों द्वारा धर्म, जाति और भाषा पर आधारित विभिन्न वर्गों के बीच संघर्षों को जन्म देने का कार्य किया जाता है, तब ये स्वस्थ लोकमत के निर्माण को अवरुद्ध कर देते हैं।

5. सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीन और राजनीतिक चेतना का अभाव—स्वस्थ लोकमत का निर्माण उसी समय संभव है, जबकि जनता सार्वजनिक जीवन में रुचि नहीं लेती तो स्वस्थ लोकमत का निर्माण असंभव हो जाता है।

6. विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अभाव—विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का अभाव भी लोकमत के निर्माण में सबसे बडी बाधा है। लोकमत का निर्माण विचार-विनिमय की ऐसी प्रक्रिया द्वारा होता है, जिसमें पक्ष तथा विपक्ष के पूर्ण प्रकाशन के बाद जनमत का निर्धारण होता है। अतः यदि किसी समाज में सभी को अपने-अपने तरीके से विचार करने तथा उस विचार को व्यक्त करने अथवा प्रकाशित करने की स्वतंत्रता नहीं होगी, तो विचारों का विनिमय नहीं होगा और लोकमत का विकास स्वस्थ दिशा में नहीं हो सकेगा।

14.7. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियाँ (Necessary Condition for the Formation of Healthy Public Opinion)

स्वस्थ लोकमत के निर्माण के लिए कुछ परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं, जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

1. सुशिक्षित एवं समझदार जनता—लोकमत जनसाधारण के उस विवेकपूर्ण और स्थायी विचार का नाम है जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित हो। किंतु इस प्रकार के विवेकपूर्ण विचार का निर्माण उसी समय संभव है, जबकि जनता सुशिक्षित और समझदार हो। **सोल्टाऊ** के शब्दों में, "लोकमत की प्रबुद्धता की मात्रा जनता की शिक्षा एवं बुद्धि के सामान्य स्तर पर निर्भर करती है।" सुशिक्षित होने पर ही जनता सार्वजनिक मामलों से संबंधित जानकारी प्राप्त कर सकती है तथा उन्हें समझ सकती है। अतः लोकमत के विकास और निर्माण के लिए जनता का सुशिक्षित तथा समझदार होना आवश्यक होता है।

2. आर्थिक विषमता का अभाव तथा निर्धनता का अंत—स्वस्थ लोकमत के विकास के लिए यह आवश्यक है कि समाज में गरीबी और अमीरी का अत्यधिक भेद न हो। अमीरी-गरीबी का भेदभाव समाज में वर्ग संघर्ष को जन्म देता है। दोनों वर्गों की आपसी खींचतान के कारण वे किसी भी सार्वजनिक प्रश्न पर एकमत नहीं हो पाते हैं और लोकमत के विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। आर्थिक विषमता के समान ही निर्धनता भी लोकमत की अभिव्यक्ति और निर्माण में बाधक है। निर्धन व्यक्ति रोजी-रोटी और अपने परिवार के भरण-पोषण की चिंता में इतने डूबे रहते हैं कि उनकी स्वतंत्र चेतना ही समाप्त हो जाती है। उनका अपना कोई मत नहीं रह जाता। थोड़े से प्रलोभन से वे दूसरे व्यक्ति के मत के समर्थक बन जाते हैं। ऐसे व्यक्ति सार्वजनिक प्रश्नों पर उदासीनता का दृष्टिकोण अपनाते हैं। निर्धनता से उत्पन्न उनकी यह उदासीनता लोकमत की अभिव्यक्ति में एक बड़ी बाधा होती है।

3. निष्पक्ष समाचारपत्र—स्वस्थ लोकमत के लिए समाचारपत्रों को निष्पक्ष, स्वतंत्र तथा निर्भीक होना चाहिए। **वैंडल विल्की** (Wendell Wilkie) के शब्दों में "समाचारपत्रों की स्वतंत्रता सच्चे लोकमत का जीवन है। यदि प्रेस स्वतंत्र न हो और किसी वर्ग, दल या संप्रदाय के नियंत्रण में हो तो वह मिथ्या एवं कुत्सित समाचारों और विचारों का प्रचार करेगा, जिससे लोकमत विषाक्त होगा।"

नोट

4. साम्प्रदायिकता और संकीर्णता का अभाव–साम्प्रदायिकता की प्रवृत्ति एवं जात-पात, धर्म, नस्ल आदि संकीर्ण प्रवृत्तियाँ लोकमत के विकास को अवरुद्ध कर देती हैं। जिस देश के लोगों में ये पाई जाती हैं, वहाँ सार्वजनिक प्रश्नों में मतैक्यता का नितांत अभाव होता है। अतः स्वस्थ जनमत के लिए धार्मिक कट्टरता, साम्प्रदायिकता जातीयता आदि संकीर्णताओं का अंत होना चाहिए।

5. राष्ट्रीय आदर्शों के संबंध में एकता–राष्ट्रीय आदर्शों के विषय में एकता स्वस्थ लोकमत के निर्माण एवं विकास की एक विशेष आवश्यकता है। दैनिक शासन की आवश्यकताओं के विषय में मतभेद होना स्वाभाविक है, लेकिन जनता में आधारभूत राष्ट्रीय आदर्शों के संबंध में आवश्यक रूप से एकता होनी चाहिए। वस्तुतः स्वस्थ लोकमत का निर्माण उस समय तक संभव नहीं है, जब तक शासन के स्वरूप एवं उद्देश्यों के संबंध में जनता में एकता की भावना न हो।

6. स्वस्थ एवं सुदृढ़ राजनीतिक दल–लोकमत के निर्माण के लिए राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण साधन हैं। राजनीतिक दल संकीर्णता दूर करके उनका ध्यान लोकमत की ओर आकृष्ट करते हैं। केवल इतना ही नहीं ये विचार विनिमय द्वारा लोकमत के निर्माण में सहयोग भी देते हैं। अतः राजनीतिक दलों को जाति, संप्रदाय, वर्ग हित आदि संकीर्णताओं के आधार पर संगठित न होकर विस्तृत आर्थिक, राजनीतिक तथा राष्ट्रीय हित संबंधी सिद्धांतों के आधार पर संगठित होना चाहिए, तभी स्वस्थ जनमत के निर्माण में ये सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

7. विचार अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता–विचार अभिव्यक्ति अथवा विचारों का आदान-प्रदान लोकमत के निर्माण की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया है। अतः नागरिकों को स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने और अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। अल्पसंख्यक वर्गों और दलों को भी यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि वे स्वतंत्रतापूर्वक अपना मत व्यक्त कर सकें और सभी वैध उपायों से अन्यों को अपने विचारों का समर्थक बना सकें। नागरिकों को अपने विचारों के प्रचार और प्रसार के लिए सम्मेलन, संगठन और दूसरी नागरिक स्वतंत्रताएँ भी प्राप्त होनी चाहिए। किंतु इसके साथ ही नागरिकों का यह पवित्र कर्तव्य भी हो जाता है कि वे किसी भी प्रकार से इसका दुरुपयोग न करे।

14.8. लोकमत का मापन (Measurement of Public Opinion)

लोकमत लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अविभाज्य अंग है। जनमत के संबंध में महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह है कि लोकमत किस प्रकार राजनीतिक प्रक्रिया को प्रभावित करता है अथवा जनता की इच्छा का पता अधिकारी वर्ग किस प्रकार लगाता है या लोकमत किस प्रकार नापा जाता है। किंतु लोकमत के मापन के संबंध में कोई परिमाणात्मक (Quantitative) प्रविधि लम्बी अवधि तक विकसित नहीं हो पायी थी। 1935 के आस-पास में **'गैलेप पोलस'** का प्रचलन लोकमत को नापने की वैज्ञानिक पद्धति का विकास कहा जा सकता है। इसे परिमापन पर आधारित होने के कारण सुनिश्चित कहा जा सकता है। किंतु इस विधि से लोकमत के मापन के निम्नलिखित प्रमुख तरीके हैं:–

1. निर्वाचन–यह प्रश्न अत्यधिक विवादपूर्ण है कि क्या चुनाव लोकमत के मापन का सही तरीका है या नहीं? कुछ विद्वानों ने निर्वाचन को मात्र बहुमत का संकेत देने वाला साधन माना है, जबकि कुछ अन्य विद्वानों ने चुनाव परिणाम को लोकमत के मापन की विधि माना है। चुनावों में राजनीतिक दलों द्वारा अलग-अलग विचार एवं कार्यक्रम जनता के निर्णयों के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं और जनता इस संबंध में मत-पत्र द्वारा निर्णय देती है। एक दल की विजय का अर्थ है कि लोकमत उसकी नीतियों से सहमत है और चाहता है कि उनका क्रियान्वयन किया जाए। इसी को निर्वाचन के माध्यम से लोकमत की अभिव्यक्ति या माप कहा जा सकता है।

2. दबाव समूहों द्वारा मापन–अधिकारी वर्ग को चुनावों के दौरान दबाव समूहों के माध्यम से भी लोकमत की जानकारी मिलती रहती है। दबाव समूह समाचारों द्वारा, तार द्वारा अथवा व्यक्तिगत परिचय द्वारा लोकमत को प्रकट करते हैं।

3. सीधे संपर्क द्वारा मापन–व्यवस्थापक एवं प्रशासक समय-समय पर नागरिकों से सीधे संपर्क करके लोकमत को जानने का प्रयास करते हैं। राष्ट्रीय नीतियों के बारे में प्रशासक जनता को अवगत कराते हैं तथा उनके संबंध में जनता की प्रतिक्रिया भी जानने का प्रयास करते हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. स्वस्थ लोकमत की निर्माण की क्या बाधाएँ हैं? लिखिए।

2. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।

नोट

4. आरम्भिक (Initiative), लोकनिर्णय (Referendum) और प्रत्याह्वान (Recall)–आरम्भिक, लोकनिर्णय और प्रत्याह्वान द्वारा भी लोकमत को मापने का प्रयास किया जाता है। आरम्भिक उस जगह के लिए एक औपचारिक साधन माना जाता है जहाँ मतदाता स्वयं व्यवस्थापन करने में असमर्थ होते हैं। एक प्रस्तावित विधेयक अथवा संवैधानिक संशोधन मतदाताओं की एक निश्चित संख्या से हस्ताक्षर पाने के बाद जनता की स्वीकृति पाने के लिए प्रस्तुत कर दिया जाता है और उन मतदाताओं की स्वीकृति प्राप्त की जाती है जिन पर इनका प्रभाव पड़ने वाला होता है। लोकनिर्णय द्वारा एक विधेयक या संविधान के संशोधन को व्यवस्थापिका में मतदान के बाद निर्वाचकों की स्वीकृति हेतु प्रस्तुत किया जाता है। एक अधिकारी को प्रत्याह्वान द्वारा जनता उसको समय से पूर्व ही हटाने का अधिकार रखती है, क्योंकि उस अधिकारी के विचार जनता के हितों या विचारों के अनुकूल नहीं होते।

5. लोकमत के खेमों द्वारा मापन–लोकमत के मापने का एक वैज्ञानिक तरीका खेमों का प्रयास (Polling Devices) भी है। प्रारम्भ में इन खेमों में बड़ी संख्या में मतदाता रखे जाते थे। अतः मापने में अधिक निश्चितता रहती थी। लेकिन बाद में कई उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया कि निर्वाचकों की यह खेमेबाजी (Mass Polling) अवैज्ञानिक है। अतः इसके स्थान पर जनता को मापने के वैज्ञानिक परिणाम प्राप्त करने की बात की जाती है तथा संख्या की अपेक्षा गुण की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। मतव्यवहार संबंधी सर्वेक्षण सही भविष्यवाणी करने में सफल रहते हैं। परंतु फिर भी इसमें कुछ विशेष सावधानियाँ रखनी पड़ती हैं, क्योंकि थोड़ी सी भूल से गलत परिणाम निकलने की प्रबल संभावना रहती है।

14.9. सारांश (Summary)

लोकमत दो शब्दों से मिलकर बना है ''लोक'' और ''मत'' अर्थात् जनसमूह की राय। लोकमत किसी विशेष समय या स्थान में प्रचलित प्रभावपूर्ण विरोधी विचारधाराओं के समन्वय से बना हुआ सार्वजनिक मत होता है। लोकमत विवेक और निःस्वार्थ भावना के ऊपर आधारित विचार है। जिसका लक्ष्य जाति अथवा वर्ग विशेष का हित न होकर संपूर्ण समाज का हित होता है।

लोकमत को स्पष्ट रूप से समझने के लिए लोकमत का बहुमत और सर्वसम्मति में अंतर समझना आवश्यक है। लोकमत लोकतांत्रिक प्रक्रिया का अविभाज्य अंग है। लोकमत के निर्माण के लिए राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण साधन हैं। राजनीतिक दल संकीर्णता दूर करके उनका ध्यान लोकमत की ओर आकृष्ट करते हैं। स्वस्थ लोकतंत्र के लिए समाचारपत्रों को निष्पक्ष, स्वतंत्र तथा निर्भीक होना चाहिए।

14.10. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. लोकमत का अर्थ एवं परिभाषा लिखिए।
2. लोकमत की विशेषताएँ बताते हुए लोकतंत्र में लोकमत के महत्त्व को बताइए।
3. सरकार के निर्माण एवं पतन में लोकमत की भूमिका बताइए।
4. लोकमत का निर्माण एवं निर्माण की बाधाओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए।
5. स्वस्थ लोकमत के निर्माण की आवश्यक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-15

प्रतिनिधिक लोकतंत्र : भारत में चुनाव तथा प्रतिनिधित्व (English)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

15.1. उद्देश्य (Objectives)
15.2. परिचय (Introduction)
15.3. मताधिकार के अधिकार (Franchise of Right)
15.4. निर्वाचन प्रणालियाँ (Method's of Election)
15.5. मतदान की प्रणालियाँ (Voting System)
15.6. निर्वाचन-क्षेत्र एवं पद्धतियाँ (System of Constituency)
15.7. व्यस्क मताधिकार (Adult Franchise)
15.8. अल्प-संख्यकों की प्रतिनिधित्व प्रणालियाँ (Representation to the Minorities)
15.9. भारत में चुनाव प्रणाली और सुधार (In India Election Commission and Improvement)
15.10. भारतीय चुनाव सुधार (Indian Election Reform)
15.11. सारांश (Summary)
15.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

15.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आपको

- लो
- लो
- स्
- ल

15.2. परिचय (Introduction)

प्रजातंत्र के प्रकार (Kinds of Democracy)–वर्तमान युग प्रजातंत्र का युग है। संसार के अधिकांश देशों में प्रजातांत्रिक पद्धति की सरकारें ही प्रचलित हैं। जनता की सरकार को ही प्रजातंत्र कहते हैं। इस पद्धति के अंतर्गत राज्य के कार्यों का संचालन और नीति निर्धारण का काम अनंत: जनता ही करती है। शासन सत्ता का मुख्य सूत्र उसमें ही निहित होता है। प्राचीन युनान के छोटे-छोटे नगर राज्यों के प्रजातंत्रों में यह संभव था कि राज्य के संपूर्ण नागरिक प्रतिदिन एक जगह इकट्ठा होकर नीति का निर्धारण कर लें। लेकिन आधुनिक राज्यों का क्षेत्रफल और उनकी जनसंख्या काफी बड़ी होती है इसलिए प्राचीन यूनान की प्रथा आज किसी भी हालत में संभव नहीं है। जनता

प्रतिनिधियों का निर्वाचन करके ही अपनी इस शक्ति का प्रयोग कर सकती है। दूसरे शब्दों में शासन कार्य में भाग लेने के लिए जनता को अप्रत्यक्ष रूप से अवसर दिया जाता है।

अप्रत्यक्ष रूप से शासन कार्य में भाग लेने का अवसर प्रदान करने के लिए प्रतिनिधि पद्धति अपनायी गयी है। इसके अंतर्गत निश्चित समय पर निश्चित अवधि के लिए जनता प्रतिनिधि निर्वाचित करती है, उसको मताधिकार कहते हैं। मताधिकार के आधार पर जनता द्वारा चुने गए प्रतिनिधि संसद या विधानमंडल के सदस्य होते हैं और सरकार का निर्माण करते हैं तथा विरोधी दल वाले जिनका बहुमत संसद या विधान मंडल में नहीं रहता है वे सरकार की गलत नीतियों की आलोचना करते हैं। जिन लोगों को मतदान का अधिकार दिया जाता है उन्हें **निर्वाचक** और मतदान की प्रक्रिया को **निर्वाचन** कहते हैं। निर्वाचकों के संपूर्ण समुदाय को निर्वाचक मंडल कहते हैं।

नोट

15.3. मताधिकार के अधिकार (Franchise of Right)

निर्वाचन पर विचार करते समय सबसे पहली समस्या हमारे समक्ष यह आती है कि निर्वाचन संबंधी अधिकार अर्थात् मताधिकार का आधार क्या हो? इस विचारधारा के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के सदस्य होने के नाते यह नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य के प्रशासन में भाग ले सके और उसके लिए उन प्रतिनिधियों के निर्वाचन में हाथ बँटा सके, जिन्हें राज्य का शासन चलाना है। दूसरी विचारधारा के अनुसार निर्वाचन में भाग लेने अथवा मत देने का अधिकार एक विशेष अधिकार है जो प्रकृति प्रदत्त सभी को प्राप्त नहीं होता, अपितु जो उपयोगिता की दृष्टि से केवल उन्हीं लोगों अथवा नागरिकों को दिया जाता है जो उसका उचित प्रयोग रखने की क्षमता रखते हों।

दूसरे शब्दों में, इस विचारधारा के अनुसार मतदाताओं का भी एक पद उसी प्रकार का होता है, जिस प्रकार अन्य कोई राजकीय पद होता है और वह केवल ऐसे व्यक्तियों को दिया जाता है जो उसके लिए योग्य हों तथा जो उसका कार्य उत्तरदायित्व तथा योग्यता से कर सके। इसलिए किसी भी राज्य की संपूर्ण आबादी को मतदान का अधिकार प्राप्त नहीं रहता है और न ही यह संभव है। राज्य के व्यक्तियों को मताधिकार प्रदान करने के निमित्त कुछ शर्तें निर्धारित की जाती हैं। जो निम्नलिखित हैं–

(क) उम्र–मतदाताओं को मताधिकार प्रदान करने के लिए उम्र सबसे बड़ी शर्त होती है। बच्चों को मताधिकार देने का न तो कोई न्यायोचित्य है और न ही कोई उपयोगिता है। बच्चे मतदान का न तो अर्थ समझते हैं और न ही वे मताधिकार का सही प्रयोग कर सकते हैं। अतएव, हर राज्य में मतदाता होने के लिए एक निश्चित उम्र रखी जाती है। भारत में 21 वर्ष के प्रत्येक व्यक्ति को मतदान करने का अधिकार प्राप्त है।

(ख) लिंग–कुछ देशों में मताधिकार के लिए लिंग की शर्त भी रखी जाती है। स्विट्जरलैंड तथा मिस्र में महिलाओं को मतदान का अधिकार नहीं दिया गया है। अमेरिका और ब्रिटेन ने भी प्रारंभ में महिलाओं को मताधिकार से वंचित रखा था। अमेरिका में 1920 में तथा इंग्लैंड में 1929 में स्त्रियों को मताधिकार दिया गया। आजकल अधिकांश सभ्य राज्यों में महिलाओं को भी मताधिकार दिया गया है। भारत ने तो स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से ही वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को लागू कर दिया।

(ग) शिक्षा–शिक्षा मताधिकार की एक जबरदस्त शर्त है। **जे.एस. मिल** ने स्पष्ट रूप से इस बात का प्रतिदान किया है कि शिक्षा के आधार पर ही मताधिकार मिलना चाहिए। इसलिए उन्होंने वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को लागू करने के पूर्व वयस्क शिक्षा की सिफारिश की।

मिल के शब्दों में *''मैं इस बात का समर्थन नहीं कर सकता कि किसी भी व्यक्ति को लिखने पढ़ने का ज्ञान हुए बिना मताधिकार मिलना चाहिए।''*[1]

आजकल अधिकांश राज्यों में शिक्षा को मताधिकार की अनिवार्य शर्त नहीं रखा गया है, फिर भी कुछ देशों में शिक्षा आधार से ही मताधिकार प्रदान किया जाता है। अमेरिका के कुछ राज्यों में निग्रो को मताधिकार से वंचित करने के लिए शैक्षणिक योग्यता की शर्त निर्धारित की गई है।

(घ) संपत्ति–संपत्ति के आधार पर भी मताधिकार प्रदान किया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी में संपत्ति तथा कर देने की क्षमता मताधिकार के मुख्य आधार थे। भारतवर्ष में ब्रिटिश शासन काल में संपत्ति मताधिकार की मुख्य शर्त थी। 1882 ई. तक इंग्लैंड में संपत्तिधारियों तथा करदाताओं को ही मताधिकार दिया गया था। संपत्ति को मताधिकार का आधार मानने वालों का यह कहना है कि संपत्तिधारी व्यक्ति सामान्यतया शिक्षित एवं सुसंस्कृत होते

हैं। अत: उन्हें मतदान करने का अधिकार मिलना चाहिए। परंतु आधुनिक विचारकों ने संपत्ति के आधार को मान्यता देने से अस्वीकार कर दिया है। संपत्ति के आधार पर मताधिकार प्रदान करने का सिद्धांत गैर लोकतंत्रात्मक है। इससे जनसंख्या का अधिकांश भाग मताधिकार से वंचित रह जाएगा। यद्यपि संपत्ति के आधार का अधिकांश विद्वानों तथा राजनीतिज्ञों ने खंडन किया है, फिर भी कुछ देशों में इसे परोक्ष रूप से प्रथम स्थान दिया गया है। अमेरिका के कुछ राज्यों में खिलिया को मताधिकार नहीं दिया गया है।

नोट

(ङ) निवास स्थान–मताधिकार के लिए निवास स्थान को भी ध्यान में रखा जाता है। किसी भी व्यक्ति को एक चुनाव में एक ही बार तथा एक ही स्थान से मतदान करने का अधिकार दिया जाता है। अत: आम चुनाव के पूर्व प्रत्येक मतदाता को अपने निर्वाचन क्षेत्र की मतदाता सूची में नाम पंजीकृत करा लेना पड़ता है। उसे अपने निर्वाचन क्षेत्र से ही मतदान करने का अधिकार दिया जाता है। मतदाता सूची में नाम नहीं रहने पर किसी व्यक्ति को मतदान करने का अवसर नहीं दिया जाता है। लगभग सभी मुल्कों में निवास स्थान को ध्यान में रखा जाता है।

(च) नागरिकता–मताधिकार के लिए नागरिकता एक अनिवार्य शर्त है। मताधिकार विदेशियों या गैर नागरिकों को नहीं दिया जाता है। केवल नागरिक हो जाने से कोई मतदाता हो जाएगा, यह आवश्यक नहीं है। मतदाता होने के लिए नागरिकता के अतिरिक्त, उम्र, शिक्षा, निवास स्थान आदि बातों पर भी ध्यान दिया जाता है।

(छ) धर्म–किसी-किसी देश में धर्म के आधार पर भी मताधिकार प्रदान किया जाता है। यों तो आधुनिक राज्यों में धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को प्राथमिकता दी जाती है, किंतु कुछ ऐसे राज्य हैं जहाँ आज भी धर्म राजनीति में मिला हुआ है। इंग्लैंड में रोमन कैथोलिक चर्च का पादरी कॉमंस सभा का सदस्य नहीं हो सकता है, उसी प्रकार पाकिस्तान का राष्ट्रपति वही हो सकता है जो इस्लाम धर्म को मानता है

(ज) मानसिक स्थिति–मानसिक स्थिति मनोविज्ञान की वस्तु है, किंतु मताधिकार के संदर्भ में मानसिक स्थिति पर भी ध्यान दिया जाता है। मताधिकार वह अधिकार है जिसका प्रयोग एक स्वस्थ मस्तिष्क वाला व्यक्ति ही कर सकता है। पागल, जड़ तथा उन्मत्त व्यक्तियों को मताधिकार नहीं दिया जाता है क्योंकि ऐसे व्यक्ति मताधिकार के मूल तत्त्वों को भली-भाँति नहीं समझ सकते हैं।

उपर्युक्त शर्तों या आधारों के अतिरिक्त और भी कई शर्त या आधार हैं जिनको मताधिकार प्रदान करते समय ध्यान में रखा जाता है। अधिकांश विद्वानों ने वयस्क मताधिकार के सिद्धांत का समर्थन किया है और आज लोकतंत्रीय देशों में वयस्क मताधिकार के सिद्धांत को ही अधिमान्यता दी जा रही है।

15.4. निर्वाचन प्रणालियाँ (Method's of Election)

साधारणतया निर्वाचन के दो रूप हैं–प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष।

प्रत्यक्ष निर्वाचन उसे कहते हैं जहाँ मतदाता अपने प्रतिनिधियों को स्वयं निर्वाचित करते हैं। वे प्रतिनिधियों के चुनाव में स्वयं मत देते हैं। इसके विपरीत अप्रत्यक्ष प्रणाली में मतदाता प्रतिनिधियों के चुनाव में स्वयं भाग नहीं लेते बल्कि कुछ ऐसे लोगों को चुनते हैं जो उसके बदले में प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं अर्थात् प्रतिनिधियों का निर्वाचन मतदाता द्वारा निर्वाचित एक निर्वाचक मंडल (Electoral College) द्वारा होता है, स्वयं मतदाता द्वारा नहीं। इस प्रकार अप्रत्यक्ष निर्वाचन में एक बार मतदाता निर्वाचक मंडल का निर्वाचन करते हैं और दूसरी बार निर्वाचक मंडल का सदस्य प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं। उदाहरणस्वरूप भारत में लोकसभा तथा राज्य की विधानसभाओं के सदस्यों का निर्वाचन प्रत्यक्ष प्रणाली से होता है। जनता स्वयं चुनाव में भाग लेती है और प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। इसके विपरीत राज्य सभा और राज्य की विधानसभा के प्रतिनिधियों का चुनाव अप्रत्यक्ष प्रणाली से होता है। जनता द्वारा निर्वाचित व्यक्ति इसके चुनाव में भाग लेते हैं, स्वयं जनता नहीं।

प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के गुण

(1) प्रत्यक्ष चुनाव का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इससे लोग अपने अधिकारों और कर्तव्यों के बारे में सचेत हो जाते हैं।

(2) इसमें मतदाताओं में राजनीतिक जागरूकता की भावना का भी उदय होता है।

(3) वे अपनी नीति और योजना मतदाताओं के सामने रखते हैं।

(4) यह प्रणाली अधिक लोकतंत्रात्मक है क्योंकि मतदाताओं को सीधा अपना प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिल जाता है तथा

(5) इसमें प्रतिनिधि मतदाताओं से अपना संपर्क बनाए रख सकते हैं। जनता भी अपने प्रतिनिधियों के काम की निगरानी कर सकती है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के दोष

नोट

परंतु प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति की कुछ विद्वानों ने कड़ी आलोचना की है। इन आलोचकों का कहना है कि सब मतदाता अपने मताधिकार को उचित रीति से प्रयोग करने की आवश्यक योग्यता नहीं रखते। साधारण मतदाता पर मतदान करते समय अनेक प्रकार का दबाव डाला जा सकता है और डाला जाता है क्योंकि उसमें योग्य व्यक्ति को निर्वाचित करने की योग्यता नहीं होती। धर्म, जाति, संप्रदाय तथा आर्थिक हित की दुहाई देकर भोले-भाले मतदाताओं को बहकाया जाता है। परिणाम यह होता है कि अवांछनीय उम्मीदवार निर्वाचन में सफल हो जाते हैं।

परंतु **लॉर्ड ब्रोघम** (Lord Brougham) का कहना है कि, *''यदि साधारण जनता इस योग्य है कि वह उन लोगों का चुनाव कर सके जो वास्तविक प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेंगे, तो उसे इस योग्य भी समझना चाहिए कि वह स्वयं वास्तविक प्रतिनिधियों का चुनाव कर सकें।''*

अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के गुण

अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के पक्षपोषकों का कथन है कि निर्वाचन को अप्रत्यक्ष बनाकर ही सार्वजनिक मताधिकार (Universal franchise) और भीड़ तंत्र (Mob fule) के दोषों से छुटकारा मिल सकता है। इस पद्धति में वास्तविक प्रतिनिधियों को निर्वाचन करने का अधिकार निर्वाचन मंडल (Electoral College) के थोड़े चुनिंदा आदमियों के हाथ में होता है, जो अपेक्षाकृत बुद्धिमान और जिम्मेदार होते हैं तथा जिनका राजनीतिक ज्ञान अच्छा होता है तो प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते समय वे अधिक उत्तरदायी ढंग से अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। इसके अतिरिक्त अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में निर्वाचन के प्रचार और राजनीतिक दलों की दौड़-धूप का भी महत्त्व कम हो जाता है और इस प्रकार दलबंदी के दोष कम हो जाते हैं।

गिलक्राइस्ट के शब्दों में *''अप्रत्यक्ष पद्धति के कारण निर्वाचन में विलंब होता है और अप्रत्यक्ष निर्वाचन एक छलनी की भाँति काम करता है जिससे होकर निर्वाचन का ज्वर निकलता रहता है।''* अंत में अप्रत्यक्ष निर्वाचन की पद्धति का प्रयोग उन देशों के लिए अत्यंत लाभकारी है, जहाँ की जनता पर्याप्त रूप से शिक्षित तथा राजनीतिक दृष्टिकोण से व्यवस्थित नहीं है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के दोष

(1) अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के दोष वही हैं जो प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति के गुण हैं। यह पद्धति लोकतंत्रवाद के विरुद्ध है, क्योंकि इसके द्वारा व्यक्ति का राजनीतिक महत्त्व कम हो जाता है। उनको अपने प्रतिनिधि के निर्वाचन में प्रत्यक्ष रूप में भाग लेने के अधिकार से वंचित कर दिया जाता है।

(2) इसका परिणाम यह होता है कि मतदाता देश की राजनीतिक समस्याओं में आवश्यक दिलचस्पी नहीं लेता और सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीन हो जाता है। इसके द्वारा नागरिकों का राजनीतिक शिक्षण नहीं होता।

(3) इसके द्वारा मतदाता और प्रतिनिधि में संपर्क पैदा नहीं होता इसलिए प्रतिनिधि भी बहुधा उनके हितों के प्रति उदासीन हो जाता है।

(4) अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में दलबंदी के दोष भी कम नहीं होते। वस्तुतः इस पद्धति में राजनीतिक दलों की उथल-पुथल और अधिक बढ़ जाती है तथा जहाँ पर राजनीतिक दल सुव्यवस्थित अवस्था में है वहाँ पर अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति नाम-मात्र की रह जाती है और निर्वाचन वस्तुतः प्रत्यक्ष होता है। उदाहरण के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति का निर्वाचन संविधान के अनुसार अप्रत्यक्ष होता है, परंतु राजनीतिक दलों के कारण प्रत्येक मनुष्य जानता है कि यह निर्वाचन प्रत्यक्ष होता है।

15.5. मतदान की प्रणालियाँ (Voting System)

अनेक मत प्रणाली (Weighted system)

वयस्क मताधिकार का आधुनिक लोकतंत्रीय स्वरूप यह है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को, जो राज्य के निर्वाचन संबंधी कानूनों के अनुसार मतदाता है, एक ओर केवल एक मतदान करने का अधिकार होना चाहिए। अर्थात् एक

वोटर और एक वोट (मत) के नियम (One man one vote system) का पालन होना चाहिए। इसको एक मत प्रणाली (Single vote system) कहते हैं। परंतु कुछ राज्यों में इस प्रणाली के विरुद्ध कुछ मतदाताओं को एक से अधिक मत देने का अधिकार होता है। इसको अनेक मत या बहुमत प्रणाली (Plural or weighted) or differential vote system) कहते हैं। बहुमत प्रणाली का आधार **गिलक्राइस्ट** (Gilchrist) के शब्दों में *यह माना जाता है कि उन मनुष्यों को एक से अधिक मतदान करने का अधिकार होता है, जिनका राज्य में अधिक हित हो या जो अपेक्षाकृत मताधिकार का प्रयोग करने के अधिक योग्य हों।* बेल्जियम में 1893 के संशोधित संविधान के अनुसार प्रत्येक 25 वर्षीय पुरुष को एक मत देने का अधिकार था। परंतु प्रत्येक ऐसे पुरुष को जिसकी अवस्था 25 वर्ष हो, नियमित विवाह द्वारा जिसकी संतान मौजूद हो और राज्य को 5 फ्रेंक टैक्स प्रतिवर्ष देता हो, दो मत देने का अधिकार था तथा ऐसे 25 वर्षीय पुरुष को, जिसके पास किसी विश्वविद्यालय की सनद हो या वह किसी सार्वजनिक पद पर रह चुका हो, तीन मत देने का अधिकार था। परंतु तीन मत से अधिक मत देने का किसी को भी अधिकार नहीं था। बेल्जियम के अतिरिक्त अन्य देशों में भी अतिरिक्त या बहुमत प्रणाली को अपनाया गया। भारत में नये संविधान के अंतर्गत ग्रेजुएट और हायर सेकेंडरी (उच्चतर माध्यमिक) स्कूलों तथा उनसे ऊपर के शिक्षणालयों के अध्यापकों को दो मत प्राप्त हैं।

अनेक मत प्रणाली के गुण

बहुमत या अनेक मत प्रणाली के पक्ष में सर्वप्रथम युक्ति दी जाती है कि इसके द्वारा सार्वजनिक मताधिकार (Universal franchise) के दोषों को कम किया जा सकता है। सार्वजनिक मताधिकार के द्वारा अशिक्षित और अज्ञानी मनुष्यों को मताधिकार प्राप्त हो जाता है, जिनको पेशेवर पोलिटिशियन सरलता से पथभ्रष्ट कर देते हैं। अनेक मत प्रणाली के द्वारा मनुष्यों को एक से अधिक मतदान करने का अधिकार देकर इस दोष को दूर किया जा सकता है जो मताधिकार का प्रयोग करने की अपेक्षाकृत अधिक योग्यता रखते हैं या जिनको राज्य की व्यवस्था से अपेक्षाकृत अधिक हित संबद्ध है। दूसरे, **जॉन स्टुअर्ट मिल** के अनुसार *मनुष्य को मताधिकार से वंचित रखना अन्याय हो सकता है, परंतु साथ ही प्रत्येक मनुष्य के मत को समान महत्त्व देना भी अन्याय ही है।* एक सुशिक्षित और एक मूर्ख के मत को समान महत्त्व देना असंगत, अन्याययुक्त और अनुचित नहीं तो और क्या है? राज्य में अशिक्षित मनुष्यों के मत को संतुलित करने के लिए यह आवश्यक है कि शिक्षित मनुष्यों को अतिरिक्त मतदान करने का अधिकार प्रदान किया जाए। **मिल** कहता है कि, *''मतों की गणना नहीं होनी चाहिए वरन् उनका वजन किया जाना चाहिए।''*

अनेक मत प्रणाली के दोष

आधुनिक काल में राजनीतिज्ञों की प्रवृत्ति एक मत प्रणाली की ओर है।

1. इसका प्रथम कारण यह है कि अनेक मत प्रणाली लोकतंत्रवाद के विरुद्ध है। इसके द्वारा अल्पसंख्यक लोगों को बहुसंख्यक जनता की इच्छा के विरुद्ध प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने का अधिकार प्राप्त होता है। इस प्रथा के अनुसार उस राजनीतिक दल को राजशक्ति हस्तगत करने का अधिकार प्राप्त होता है जो संपत्तिशाली एवं शिक्षित मध्यवर्ग के अनुकूल हो।

2. यह निर्णय करना सरल नहीं है कि मताधिकार का उचित प्रयोग करने की किसमें अधिक योग्यता है। यह गारंटी के साथ नहीं कहा जा सकता कि एक मामूली ग्रेजुएट एक कारखाने में काम करने वाले चतुर कारीगर से अधिक योग्य है। संपत्ति को अतिरिक्त मताधिकार का आधार बनाना शासन-सूत्र को धनिक वर्ग के हाथ में सुपुर्द करना है।

3. अंत में अनेक मत प्रणाली समानता के सिद्धांत के प्रतिकूल है, जो लोकतंत्र का एक सुनिश्चित आधार है।

15.6. निर्वाचन-क्षेत्र एवं पद्धतियाँ (System of Constituency)

निर्वाचन-क्षेत्र–आम चुनाव के लिए देश को कई भागों में बाँट दिया जाता है जिसे निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) कहते हैं। निर्वाचन-क्षेत्र दो तरह का होता है। एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र (Single member constituency) और बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र (Multi member constituency)। जिस क्षेत्र से एक सदस्य

नोट

चुना जाता हो उसे एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र और जिससे एक से अधिक सदस्य चुने जाते हों उसे बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहा जाता है। पहले में मतदाता को एक ही मत देने का अधिकार है, लेकिन दूसरे में प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार है, जितने सदस्य उस निर्वाचित-क्षेत्र से निर्वाचित होते हैं।

आधुनिक युग में निर्वाचन क्षेत्र की प्रथाओं को अधिकांशत: अपनाया जाता है। यह एक सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र प्रथा अधिक लोकप्रिय है। इन प्रथाओं को अपनाने के कई कारण हैं। ये अत्यधिक सरल है, प्रतिनिधियों और मतदाताओं के बीच निकट संबंध स्थापित हो जाता है। प्रतिनिधियों में उत्तरदायित्व की भावना पैदा होती है। निर्वाचन में खर्च कम होता है। योग्य और देश-प्रेमी प्रतिनिधियों के चुने जाने की संभावना रहती है और छोटे-मोटे दलों को अधिक प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता है। जिससे स्थायी सरकार का निर्माण संभव होता है।

इन प्रथाओं में भी दोष पाए जाते हैं। एक सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र प्रथा के अंतर्गत अल्पसंख्यक समुदायों को पूर्ण प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता, प्रतिनिधि स्थानीय हितों का प्रतिनिधित्व करते हैं; राष्ट्रीय हित का नहीं और अधिकतर अल्पसंख्यक प्रतिनिधि यानी कम मत पाने वाला प्रतिनिधि निर्वाचित हो जाता है जो जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं करता है। बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र प्रथा के अंतर्गत धारा सभा में अनेक दल हो जाते हैं जिनके कारण सरकार का निर्माण कठिन हो जाता है एवं प्रतिनिधियों तथा मतदाताओं के बीच में अपनापन का संबंध नहीं रह जाता है।

निर्वाचन-नियम—निर्वाचन के संबंध में सभी बातों का निर्णय संविधान के द्वारा और कानून के द्वारा निश्चित कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ भारतीय संविधान में विविध संस्थाओं के चुनाव के बारे में बहुत कुछ लिख दिया गया है और इससे संबंधित एक अलग कानून भी है जिसे जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation set) कहते हैं। प्राय: सभी देशों में निर्वाचन के संचालन के लिए एक आयोग होता है जिसको निर्वाचन आयोग (Election commission) कहते हैं। इसका एक कार्यालय होता है जो चुनाव से संबंधित सभी बातों की देख-रेख करता है। आम चुनाव इसी की देख-रेख में होता है। आम चुनाव के लिए संविधान द्वारा ही अवधि निश्चित रहती है।

चुनाव-स्थान—जिस स्थान पर चुनाव होता है, उसे चुनाव-स्थान (Polling Station) कहते हैं। चुनाव के पहले ही स्थान निश्चित कर दिया जाता है और इसकी सूचना मतदाताओं को दे दी जाती है। यहाँ पर चुनाव की देख-रेख करने वाले बहुत से पदाधिकारी होते हैं। समस्त निर्वाचन क्षेत्र की देख-रेख करने वाले पदाधिकारी को चुनाव-अधिकारी (Returning officer) कहा जाता है। निर्वाचन-संबंधी आदेश उसी के नाम पर जारी होते हैं।

मत-पत्र—जिस कागज के जरिए मतदाता अपनी राय व्यक्त करता है, उसे मत-पत्र (Ballot paper) कहते हैं। मत-पत्र पर राय व्यक्त करने के दो तरीके हैं—पहला यह है कि मत-पत्र को छपवा लिया जाता है और उसी पर सभी उम्मीदवारों के नाम अंकित रहते हैं और मतदाता जिस व्यक्ति को अपना मत देना चाहता है, उसके नाम के सामने एक क्रोस (×) चिह्न लगा देता है। दूसरा तरीका यह है कि जितने उम्मीदवार रहते हैं, उनको अलग-अलग बक्सा दिया जाता है। बक्से या तो विविध रंग के होते हैं अथवा उन पर कुछ चिह्न लगे रहते हैं। मतदाता अपने उम्मीदवार के बक्से में अपना मत-पत्र डाल देता है। अशिक्षित मतदाताओं के लिए यह प्रथा बहुत ही सुविधाजनक है।

गुप्त मतदान—मतदान हमेशा गुप्त होता है अर्थात् मतदाता जब मत-पत्र पर अपनी पसंद व्यक्त करे या किसी उम्मीदवार के बक्से में अपना मत-पत्र डाले, उस समय कोई उसको देख नहीं सकता। इसलिए मतदान की पेटी एक सुरक्षित स्थान में रखी जाती है।

चुनाव-अपराध—निर्वाचन के सिलसिले में मतदाता को डराना-धमकाना या चुनाव स्थान पर उसे जबरदस्ती ले जाना, दूसरे आदमी के बदले में मत देना, ये सब चुनाव-अपराध माने जाते हैं। भारत में तो किसी सवारी पर मतदाता को बैठाकर ले जाना भी अपराध है। यदि इस प्रकार का कोई अपराध साबित हो गया तो चुनाव ही रद्द हो जाता है। ऐसी बातों को रोकने के लिए हर चुनाव स्थान पर प्रत्येक उम्मीदवार अपना एक प्रतिनिधि (Election agent) रखता है।

उपचुनाव—जब किसी विधानसभा के किसी सदस्य की मृत्यु हो जाती है या कोई सदस्य त्यागपत्र दे देता है या उसका चुनाव गैर-कानूनी घोषित कर दिया जाता है तब उसके रिक्त स्थान को भरने के लिए एक दूसरा चुनाव होता है जिसको उपचुनाव (bye election) कहते हैं।

छात्र क्रियाकलाप

1. प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति किसे कहते हैं?

2. वयस्क मताधिकार पर संक्षिप्त प्रकाश डालिए।

15.7. वयस्क मताधिकार (Adult Franchise)

नोट

आधुनिक युग में लगभग सभी देशों में प्रजातंत्र प्रणाली को अपनाया गया है। इस प्रणाली में जनता शासन के लिए प्रतिनिधियों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित करती है। व्यक्तियों के मत देने के अधिकार को मताधिकार कहते हैं। **गार्नर** के शब्दों में–*''मताधिकार एक उत्तरदायित्व है जिससे राज्य केवल उन व्यक्तियों के हाथ में देना है जो सामान्य हित के लिए प्रयोग करने के योग्य समझे जाते हैं।''* जिन व्यक्तियों को अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने का अधिकार होता है उन व्यक्तियों को निर्वाचक (Electors) कहते हैं। इन व्यक्तियों को सामूहिक रूप से निर्वाचक मंडल या नियोजन गण (Electorate) कहते हैं।

इस प्रकार प्रजातांत्रिक देशों में मताधिकार प्रत्येक मनुष्य का स्वाभाविक अधिकार है। कारण राज्य की संप्रभुत्ता जनता पर निर्भर करती है और उसका प्रयोग मताधिकार द्वारा किया जाता है।

परंतु यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि मताधिकार केवल एक अधिकार ही नहीं वरन् एक कर्तव्य भी है। मत के उचित प्रयोग पर ही जनता का कल्याण निर्भर है। हमें अपने मत का प्रयोग स्वार्थ-सिद्धि अथवा किसी वर्ग-हित की भावना से नहीं करना चाहिए। मत देने का अधिकार एक पावन थाती है जिसे राष्ट्र मनुष्य को इसलिए प्रदान करता है कि वह इस अधिकार के उचित उपयोग द्वारा जनता की भलाई कर सके।

वयस्क (सार्वजनिक) मताधिकार जनता प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली की आधारशिला है। जनता ही शासन की संपूर्ण शक्तियों का आधार है। अत: प्राय: सभी प्रजातांत्रिक देशों में अब वयस्कता को मताधिकार का आधार माना गया है और संपत्ति-शिक्षा, नस्ल तथा लिंग आदि के भेद के बिना उन सब व्यक्तियों को मत देने का अधिकार प्रदान किया जाता है जो वयस्क होते हैं। वयस्क मताधिकार को ही लोग सर्वसाधारण मताधिकार भी कहते हैं क्योंकि इसके अनुसार जो अल्प-वयस्क, विशिप्त (पागल), दिवालिया, अपराधी और विदेशी लोग मताधिकार से वंचित रह जाते हैं उनका वंचित रहना ही उचित समझा जाता है। इसके समर्थकों का कहना है कि मताधिकार नागरिक का जन्मसिद्ध अधिकार है। इसमें मताधिकार का आधार वयस्कता है। प्रत्येक देश में वयस्कता की अलग-अलग सीमा है जैसे–इंग्लैंड, अमेरिका तथा भारत में 21 वर्ष, रूस में 18 वर्ष, नार्वे में 23 वर्ष तथा बेलजियम में 25 वर्ष के स्त्री-पुरुष को वयस्क माना जाता है।

वयस्क (सार्वजनिक) मताधिकार के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं–

1. व्यक्तित्व का विकास–इस पद्धति के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति को अपने व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर मिलता है। चूँकि शासन द्वारा व्यवस्थित परिस्थितियों से व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास होता है। अत: इसके माध्यम से मतदान द्वारा शासन के प्रतिनिधियों का निर्वाचन करके और शासन कार्य में भाग लेकर व्यक्तित्व के विकास का समान अवसर सबको मिलता है।

2. राजनैतिक शिक्षा–इस पद्धति का दूसरा लाभ यह है कि इसके द्वारा जनता को राजनैतिक शिक्षा प्राप्त होती है। वे प्रशासन के कार्य में भाग लेना सीखते हैं। उनमें उत्तरदायित्व की भावना जाग्रत होती है और वे सार्वजनिक कार्य में अभिरुची लेने लगते हैं।

3. वर्गहित की पूर्ति–लोकतंत्र का शुद्ध रूप वही कहा जा सकता है, जिसमें सभी वर्गों के हितों की उचित पूर्ती होती रहे। सभी वर्गों के हितों की पूर्ति और उनके अधिकारों का संरक्षण इसके द्वारा होता है।

4. लोकतंत्र के अनुकूल–यह पद्धति लोकतंत्र के अनुकूल है। लोकतंत्र पद्धति में सार्वभौम सत्ता जनता के हाथ में निवास करती है। अत: जनता को बिना किसी भेद-भाव के अधिकार मिलना चाहिए। इस अर्थ में वयस्क मताधिकार लोकतंत्र के अनुकूल है।

5. सामाजिक और आर्थिक हितों की रक्षा–सामाजिक और आर्थिक हितों की रक्षा की दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि जनता शासन कार्य में भाग ले। चूँकि शासन कार्य में भाग लेने का अवसर अधिक से अधिक लोगों को तभी मिल सकता है जब मताधिकार का आधार वयस्कता हो। अत: इस दृष्टि से यह सिद्धांत वांछनीय है।

6. समता के सिद्धांत के अनुकूल–यह पद्धति समता के सिद्धांत के अनुकूल है। इस पद्धति के अनुसार सभी नागरिक समान हैं। अत: यह सिद्धांत सबको मताधिकार का एक अवसर देता है।

7. अधिकारों की रक्षा–नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए राजनैतिक अधिकारों का उपयोग अत्यंत जरूरी है। इसलिए मत देने का अधिकार सभी नागरिकों को मिलना चाहिए जिससे वह सरकार के निर्णय को प्रभावित कर अपने अधिकारों की रक्षा कर सकें।

नोट

8. एकता–सभी वयस्कों को अधिकार मिलने से देश में एकता की भावना जाग्रत होती है। इससे उनके व्यक्तित्व के विकास के लिए अवसर मिलता है।

9. स्वाभिमान–मताधिकार से मतदाताओं का स्वाभिमान बढ़ता है। जब देश के बड़े-बड़े नेता उनके पास मत माँगने आते हैं तो उनका स्वाभिमान जागता है और वे अपना महत्त्व समझने लगते हैं।

10. क्रांति की संभावना में कमी–इस पद्धति के कारण देश में क्रांति की संभावना नहीं रहती है। सबको मताधिकार का अवसर मिलने के कारण उनमें सरकार के प्रति असंतोष की भावना कम रहती है जिससे क्रांति या विद्रोह की संभावना में कमी आती है।

11. निष्पक्ष चुनाव–चुनाव में निर्वाचकों की संख्या अधिक होने के कारण चुनाव संबंधी भ्रष्टाचार की संभावना कम हो जाती है।

वयस्क (सार्वजनिक) मताधिकार के निम्नलिखित दोष हैं–

1. मूर्खों के हाथ में शक्ति–अधिकांश मतदाता अनपढ़ और मूर्ख होते हैं। वे चुनाव में मत देते समय उम्मीदवार की जाति, धर्म, गुट या पारिवारिक बंधनों से अधिक प्रभावित होते हैं। वे उम्मीदवार की योग्यता की ठीक रूप से परख नहीं कर सकते। इस प्रकार उनके मत के अनुचित उपयोग से राजनीति का क्षेत्र दूषित हो जाता है।

2. लोभवश मतदान–अधिकतर मतदाता गरीब होते हैं। इसलिए उनके मत धन से खरीदे जा सकते हैं। अत: वयस्क मताधिकार द्वारा ऐसे लोगों को मताधिकार देना व्यर्थ है जो अपने मतों को बेचकर उसका दुरुपयोग करते हैं।

3. शासन की जटिलता–शासन की समस्याएँ आजकल इतनी जटिल होती जा रही हैं कि सर्वसाधारण के लिए उनका समझना मुश्किल है। अत: वयस्क मताधिकार का परिणाम यह होता है कि निर्वाचन राजनैतिक समस्याओं के ज्ञान के आधार पर न होकर सामयिक नारों के आवेश के अधार पर होता है।

4. रूढ़ीवादी प्रवृत्ति का पोषक–सर्वसाधारण जनता रूढ़िवादी होती है और उस प्रगति के प्रति उदासीन होती है जिस पर बढ़ना आधुनिक राज्य के लिए आवश्यक है। अत: वयस्क मताधिकार पद्धति रूढ़िवादी प्रवृत्ति को सहारा देती है। इसलिए यह अनुपयोगी है।

5. महिला मताधिकार का विरोध–कुछ विद्वान महिलाओं के मताधिकार के पक्ष में नहीं हैं। उनके अनुसार महिलाओं का कार्य क्षेत्र घर और परिवार तक सीमित है। अत: महिलाएँ अपने राजनैतिक उत्तरदायित्व को कभी भी निभा नहीं सकती हैं।

6. मतदान एक पावन कर्तव्य–मताधिकार केवल अधिकार ही नहीं, वरन् एक कर्तव्य भी है। इसका प्रयोग बड़ी सावधानी, बुद्धिमता तथा विचारपूर्वक किया जाना चाहिए जो सार्वजनिक हित का निर्णय कर सके।

15.8. अल्प-संख्यकों की प्रतिनिधित्व प्रणालियाँ (Representation to the Minorities)

प्रजातंत्र शासन तभी सफल हो सकता है जबकि देश की विधि निर्मात्री सभा में सभी का उचित प्रतिनिधित्व हो। यह प्रतिनिधित्व अल्पसंख्यक जातियों के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक अधिकारों एवं हितों की रक्षा के लिए आवश्यक है। अल्पसंख्यक जातियों एवं हितों को वर्तमान राज्यों में प्रतिनिधित्व देने के अनेक उपाय काम में लाए जाते हैं। इन उपायों में निम्नलिखित अधिक महत्त्वपूर्ण हैं–

(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली (Proportional representation)

(2) सीमित मतदान प्रथा (Limited vote system)

(3) एकत्रित मतदान प्रथा (Comulative vote system)

(4) पृथक् निर्वाचन प्रथा (Separate election system)

(5) सुरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रथा (Joint electorate with reservation of seats)

(6) पेशागत प्रतिनिधित्व प्रथा (Functional or occupational representation)

(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली–जिस प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक वर्ग में व्यवस्थापिका में अपनी जनसंख्या के अनुपात में अपने प्रतिनिधियों को भेजने की व्यवस्था होती है उस प्रणाली को आनुपातिक प्रतिनिधित्व

प्रणाली कहते हैं। इस प्रणाली को सर्वप्रथम टॉमस हेयर ने 1851 में निकाला। इसलिए इसे हेयर प्रणाली भी कहते हैं। इस प्रणाली की दो योजनाएँ हैं–

नोट

(क) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली–इस प्रणाली में प्रत्येक मतदान मत-पत्र पर अपनी पहली, दूसरी, तीसरी आदि पसंदगी लिखता है। मत-पत्र पर सभी उम्मीदवारों के नाम लिखे रहते हैं। प्रत्येक मतदाता एक मत दे सकता है।

चुनाव में विजयी होने के लिए उम्मीदवारों को निश्चित मत प्राप्त करना आवश्यक है। इस प्रणाली में लाभ यह है कि कम मत पाने वाले उम्मीदवार के मतों को दूसरे उम्मीदवार को दे दिया जाता है। इस प्रकार मत बेकार नहीं होते हैं। चुनाव में विजयी होने के लिए निश्चित मत संख्या निकालने की विधि इस प्रकार है।

$$\text{निश्चित मत संख्या} = \frac{\text{मतों की कुल संख्या} + 1}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधि} + 1}$$

मान लिया जाए कि किसी क्षेत्र से 4 सदस्यों को चुना जाएगा और कुल मतदान 500 हुआ तो निश्चित मत संख्या

$$= \frac{500 + 1}{4-1} = 501$$

उपर्युक्त विधि के अनुसार भारत के राष्ट्रपति और राज्य सभा का चुनाव होता है।

(ख) सूचि प्रणाली–इस पद्धति के अंतर्गत मतदान व्यक्तिगत आधार पर न किया जाकर पार्टी के आधार पर किया जाता है। मतदाता पूरी सूचि को मत देता है, किसी एक उम्मीदवार को नहीं। उम्मीदवार की जीत के लिए निश्चित मत संख्या एकल संक्रमणीय मतप्रणाली के अनुसार निकाली जाती है। प्रत्येक सूचि के लिए मतों की अलग-अलग गिनती की जाती है। यह एक सरल प्रणाली है क्योंकि मतदाताओं को मतदान करने में विशेष कठिनाई नहीं होती है।

(2) सीमित मतदान प्रथा–इस प्रथा के अनुसार पूरे देशों को बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। इस प्रथा में मतदाता को क्षेत्र से निर्वाचित होने वाले सदस्यों की संख्या से कुछ कम मत देना होता है। जैसे–किसी क्षेत्र में चार सदस्यों के स्थान हैं तो मतदाता तीन मत दे सकता है। जिससे कम से कम एक सदस्य अल्पसंख्यक जाति से भी चुना जा सके।

(3) एकत्रित मतदान प्रथा–इस प्रथा के अंतर्गत भी बहु-निर्वाचन क्षेत्र होता है। प्रत्येक मतदाता को उतने ही मत देने का अधिकार होता है जितने किसी क्षेत्र से उम्मीदवार चुने जाने वाले होते हैं। इस प्रथा में मतदाता को यह अधिकार होता है कि यदि वह चाहे तो अपने सारे मत एक ही उम्मीदवार को दे दे या कई सदस्यों में बाँट दे। इसमें अल्पसंख्यकों का एक सदस्य तो चुन ही लिया जाता है।

(4) पृथक् निर्वाचन प्रथा–इस प्रथा को सांप्रदायिक प्रतिनिधित्व प्रथा के नाम से भी पुकारा जाता है। अंग्रेजों के जमाने में भारत में यह प्रथा प्रचलित थी। इस प्रथा के अनुसार निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की व्यवस्था धर्म के आधार पर निश्चित कर दी जाती थी। धर्म के आधार पर अलग किए हुए मतदाता अपने-अपने धर्म के प्रतिनिधियों को ही मत दे सकते हैं। अर्थात् हिंदू मतदाता केवल हिंदू उम्मीदवारों को, मुसलमान मतदाता केवल मुसलमान उम्मीदवारों को अथवा किसी धर्म के अनुयायी उसी के अनुयायी उम्मीदवार को मत दे सकते हैं।

राजनैतिक उपयोगिता की दृष्टि से इस प्रणाली का कोई मूल्य नहीं हो सकता। यह प्रथा भारत में उसी समय तक प्रचलित रही जब तक इस देश में अंग्रेजों का शासन रहा और अब पाकिस्तान में भी इस प्रथा का खुला विरोध होने लगा है।

(5) सुरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रथा–इस प्रथा के अंतर्गत अल्पसंख्यक जातियों के स्थान संविधान द्वारा निश्चित कर दिए जाते हैं। परंतु विभिन्न जातियों के सदस्यों के लिए पृथक् निर्वाचन क्षेत्र नियत नहीं किए जाते हैं। इस प्रकार यदि प्रथा अल्पसंख्यक जातियों के अधिकारों की रक्षा करने के अतिरिक्त पृथक् निर्वाचन प्रणाली के सब दोषों को दूर कर देती है। इस प्रथा में हिंदू मुसलमान को भी और मुसलमान हिंदुओं को भी अपने मत देते हैं। केवल वे ही सदस्य निर्वाचित होते हैं जिन्हें सब जातियों का विश्वास प्राप्त हो। इस प्रकार इस प्रथा से राष्ट्रीय एकता और सामाजिक दृढ़ता की नींव पड़ती है।

नोट

(6) पेशागत प्रतिनिधित्व प्रथा–डुग्वी, ग्राह्मवाला आदि विद्वानों ने पेशागत प्रतिनिधित्व प्रथा का समर्थन किया है। इन विद्वानों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपनी रोटी के लिए कोई न कोई कार्य करता है। कुछ लोग अध्यापन कार्य, कुछ लोग वकालत तथ दूसरे लोग विभिन्न कार्यों को करते हैं। अत: शासन में प्रत्येक व्यवसाय का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। जब एक सदस्य को विशेष व्यवसाय का प्रतिनिधित्व प्राप्त हो तथा इसी तरह सभी व्यवसायों के अलग-अलग प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हो तो इसे हम व्यवसायिक प्रतिनिधित्व कहेंगे।

इस प्रकार इस प्रथा के अनुसार प्रतिनिधित्व का आधार क्षेत्र न होकर व्यवसाय होता है।

आनुपातिक एकल संक्रमणीय प्रणाली

प्रतिनिधित्व को व्यापकतम बनाने के लिए जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है, उनमें से सबसे मुख्य आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली है। सर्वप्रथम इस प्रणाली का अविष्कार 19वीं शताब्दी के एक अंग्रेज विचारक टॉमस हेयर ने किया था। इसलिए इस प्रणाली को हेयर प्रणाली भी कहा जाता है।

संक्षेप में, इस प्रणाली के अनुसार बड़े-बड़े आकारों के निर्वाचन क्षेत्रों से तीन, चार, पाँच या इससे अधिक उम्मीदवारों का चुनाव होता है। प्रत्येक मतदाता को उम्मीदवारों की संख्या के बराबर मत देने का अधिकार होता है। केवल वे उम्मीदवार निर्वाचित समझे जाते हैं, जिन्हें न केवल पूर्ण बहुमत का ही समर्थन प्राप्त होता है वरन् जिन्हें मतदाताओं की उस निश्चित संख्या का भी समर्थन प्राप्त होता है जो चुनाव में डाले गए मतों की कुल संख्या को कुल उम्मीदवारों की संख्या से भाग देकर निकाली जाती है।

प्रतिनिधित्व के उपयुक्त सिद्धांत को व्यवहारिक रूप देने के लिए विद्वानों ने दो पद्धतियों का प्रतिपादन किया है।

(क) एकल संक्रमणीय मत पद्धति (Single transferable vote system)

(ख) सूचि प्रणाली (List system)

(क) एकल संक्रमणीय मत पद्धति–इस पद्धति के अनुसार सारे देश को बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्रों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक क्षेत्र से एक से अधिक सदस्यों का निर्वाचन होता है। प्रत्येक मतदाता को एक ही मत देने का अधिकार होता है, लेकिन वह मत-पत्र में उम्मीदवारों के नाम के आगे 1, 2, 3, 4 आदि चिह्नों को लगाकर अपनी पसंद जाहिर कर सकता है। 1, 2, 3, 4 आदि चिह्नों से यह जाहिर होता है कि मतदाताओं की पहली, दूसरी, तीसरी या चौथी पसंद कौन-सी है।

पसंदगियों के उल्लेख की व्यवस्था इसलिए की जाती है कि यदि कोई उम्मीदवार अपनी लोकप्रियता के कारण इतना मत प्राप्त कर ले कि उनकी संख्या निश्चित संख्या से अधिक हो जाए तो निश्चित संख्या से अधिक मत बेकार न जाएँ और इन्हें अन्य उम्मीदवारों को हस्तांतरित किया जा सके। इसी तरह हारने वाले उम्मीदवारों के मतों को भी निर्वाचित होने वाले उम्मीदवारों के बीच हस्तांतरित किया जा सकता है।

मतों की कुल संख्या निश्चित करने की एक विशेष पद्धति अपनायी जाती है।

$$\frac{\text{मतों की कुल संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या + 1}} + 1$$

जैसे यदि सात सदस्यों वाले निर्वाचन क्षेत्र में सात हजार मतदाताओं ने मतदान किया हो तो उस हालत में निश्चित संख्या

$$= \frac{7000}{7 + 1} + 1 = 876 \text{ होगी।}$$

इस पद्धति को डूप द्वारा प्रतिपादित पद्धति कहते हैं। इस प्रकार के उम्मीदवार जो पहली पसंद के अथवा मतों के हस्तांतरण का लाभ उठाकर उक्त मत संख्या प्राप्त कर लेते हैं। एकल संक्रमणीय मत पद्धति के अनुसार निर्वाचित समझे जायेंगे।

(ख) सूचि प्रणाली–इस प्रणाली के अंतर्गत भी निर्वाचन क्षेत्र बहुसंख्यक होता है लेकिन निर्वाचन का आधार व्यक्तिगत उम्मीदवार न होकर दलीय आधार होता है। यह प्रणाली में आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का एक दूसरा रूप है। इस प्रणाली के अंतर्गत प्रत्येक दल अपने-अपने उम्मीदवारों की अलग-अलग सूचि तैयार करते हैं और मतदाता दल के उम्मीदवारों की सूचि के आधार पर मतदान करते हैं। प्रत्येक मतदाता को यह अधिकार

नोट

होता है कि वह चुने जाने वाले सदस्यों की संख्या के बराबर मत दे सके। पर उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह एक उम्मीदवार को एक ही मत दे। मत देते समय मतदाता एक दल के साथ ही उम्मीदवारों को मत देते हैं। वह ऐसा नहीं कर सकता है कि अपना आधा मत एक के पक्ष में और शेष मत दूसरे दल के पक्ष में दे। उम्मीदवार की जीत के लिए निश्चित मत संख्या एक संक्रमणीय मत-प्रणाली के अनुसार निकाली जाती है। प्रत्येक सूचि के लिए मतों की अलग-अलग गिनती कर ली जाती है। एक दल के मतों को निश्चित संख्या से भाग देकर दल के निर्वाचित सदस्य मालूम किए जाते हैं। उदाहरण के लिए यदि एक दल की सूचि को 1000 मत मिलते हैं तथा निश्चित मत संख्या 500 है।

$$\text{तो उस दल के निर्वाचित सदस्य} = \frac{1000}{500} = 2 \text{ होंगे।}$$

दलों की सूचि में उम्मीदवारों को निर्वाचित घोषित किया जाता है। जिनके नाम दलों की सूचि में सबसे ऊपर होता है।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के गुण इस प्रणाली के निम्नलिखित गुण है–

1. समुचित प्रतिनिधित्व–इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके अंतर्गत अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व आसानी से प्राप्त हो जाता है।

2. दलों का समुचित प्रतिनिधित्व–इस प्रणाली के माध्यम से अल्पसंख्यक समुदायों को अतिरिक्त विभिन्न राजनीतिक दलों का भी समुचित प्रतिनिधित्व हो जाता है। विभिन्न राजनीतिक दल अपनी संख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व करने लगते हैं।

3. लोकमत का सच्चा प्रतिनिधित्व–इस प्रणाली के आधार पर जो व्यवस्थापक मंडल बनते हैं वे ही वस्तुत: लोकमत के यथार्थ प्रतिबिंब होते हैं।

4. मतदाताओं को पूरी स्वतंत्रता–इस प्रणाली के अंतर्गत मतदाता पूर्णरूपेण स्वतंत्र होते हैं। उन्हें उम्मीदवारों के चयन में पूरी आजादी रहती है। क्योंकि वे विभिन्न दलों में से अपने उम्मीदवारों का चयन कर सकते हैं।

5. राजनैतिक शिक्षण–इस प्रणाली से मतदाताओं का राजनैतिक शिक्षण भी होता है क्योंकि उन्हें अनेक उम्मीदवारों में विभिन्न राजनैतिक दलों की नीतियों और कार्यक्रमों पर विचार करने का अवसर प्राप्त होता है।

6. कोई भी मत व्यर्थ नहीं–सबसे बड़ी अच्छाई इस प्रणाली की यह है कि इससे किसी मतदाता का मत व्यर्थ नहीं जाता और उससे किसी न किसी उम्मीदवार के निर्वाचन में सहायता अवश्य मिल जाती है।

7. योग्य व्यक्तियों का चुनाव–इस प्रणाली का सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके द्वारा राष्ट्रीय ख्याति के व्यक्ति पहले चुने जाते हैं क्योंकि मतदाता उतनी पसंदगी जाहिर करते हैं, जितनी की सीटें रहती हैं। इससे विधान मंडल का धरातल ऊँचा उठ जाता है।

8. बहुमत का अत्याचार नहीं–इस प्रणाली के द्वारा बहुमत स्वेच्छाचारी नहीं हो पाता क्योंकि इसके द्वारा किसी एक दल का आधिपत्य नहीं रह पाता।

9. उम्मीदवारों और मतदाताओं के बीच घनिष्ठ संबंध–इस पद्धति के माध्यम से उम्मीदवारों और मतदाताओं के बीच घनिष्ट संबंध स्थापित हो जाता है। प्रत्येक मतदाता उम्मीदवारों के अपमान अनुभव करता है और प्रत्येक प्रतिनिधि मतदाता से घनिष्ठता महसूस करता है। इसलिए **मिल** ने कहा है कि–*"It is an essential part of democracy that minorities should be adequately represented."*

दोष

इस प्रणाली के निम्नलिखित दोष भी हैं–

1. जटिल प्रणाली–यह प्रणाली बहुत ही जटिल है। साधारण जनता इसे आसानीपूर्वक नहीं समझ सकती है। इसके अनुसार कार्य करना जनता के लिए ही नहीं बल्कि चुनाव अधिकारियों के लिए भी कठिन होता है

2. अस्थाई स्वभाव–इस प्रणाली के अनुसार निर्वाचन के परिणामस्वरूप प्राय: जो शासन स्थापित होता है वह अस्थाई स्वभाव का होता है। अनुभव इस बात का साक्षी है कि विभिन्न दलों और गुटों की मिश्रित सरकार स्थाई नहीं हो सकती है।

नोट

3. अनेक दलों का निर्माण–इस प्रणाली के परिणामस्वरूप अनेक छोटे-छोटे दल तथा समुदाय उभर आते हैं और विधान मंडल में सभी को कुछ न कुछ प्रतिनिधित्व मिल ही जाता है। जो एक अच्छी चीज नहीं है।

4. बहुसदस्य निर्वाचन क्षेत्र–इस प्रणाली के लिए बहुसदयीय निर्वाचन क्षेत्रों की आवश्यकता होती है। अत: जन साधारण को योग्यता की दृष्टि से इसे उपर्युक्त नहीं कहा जा सकता क्योंकि उन्हें अनेक उम्मीदवारों में से छाँट करके मतदान करने में बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं।

5. दल के लिए मतदान–इसकी सूचि प्रणाली में व्यवहार में मतदान उम्मीदवारों के लिए नहीं बल्कि दलों के लिए होता है। इसलिए इस प्रणाली को उचित नहीं कहा जा सकता है।

6. व्यक्तिगत संपर्क का अभाव–इस प्रणाली में निर्वाचन क्षेत्र बड़ा होने के कारण मतदाताओं और उम्मीदवारों के बीच व्यक्तिगत संपर्क का अभाव हो जाता है।

चित्र 3.1. मताधिकार का प्रयोग करती महिला

7. उपचुनाव–यह प्रणाली उपचुनाव के लिए उपयुक्त है क्योंकि उपयुक्त चुनाव में प्राय: एक ही उम्मीदवार का चुनाव होता है। अत: लोकतंत्रात्मक दृष्टि से यह प्रणाली खतरनाक है।

संगठित एवं मान्यता प्राप्त राष्ट्रीय तथा क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की संख्या

चुनाव वर्ष	*राष्ट्रीय दल*	*राज्य स्तरीय दल*	*कुल*
1952	14	60	74
1957	4	12	16
1962	–	16	16
1967	–	21	21
1971	8	17	25
1977	5	18	23
1980	6	19	25
1984	7	19	26
1989	8	20	28
1998 (जनवरी)	7	48	55
1999 (नवंबर)	7	48	55
2000 (फरवरी)	5	50	55
2004	6	45	51

[**नोट**–मार्क्सवादी कम्युनिस्ट पार्टी की 30 सितंबर, 2000 को चुनाव आयोग ने राष्ट्रीय दल के रूप में मान्यता पुराने नियमों के अंतर्गत समाप्त कर दी, किंतु 1 दिसंबर, 2000 को संशोधित आदेशों के परिप्रेक्ष्य में इस पार्टी को पुनः राष्ट्रीय दल का दर्जा मिल गया है।]

नोट

मुख्य निर्वाचन आयुक्त	
1. सुकुमार सेन	21 मार्च, 1950–19 दिसंबर, 1958
2. के.वी.के. सुंदरम	19 दिसंबर, 1958–30 सितंबर, 1967
3. एस.पी.सेन वर्मा	1 अक्टूबर, 1967–30 सितंबर, 1972
4. डॉ. नगेंद्र सिंह	1 अक्टूबर, 1972–6 फरवरी, 1973
5. टी. स्वामीनाथन	7 फरवरी, 1973–17 जून, 1977
6. एस.एल. शकधर	18 जून, 1977–17 जून, 1982
7. आर.के. त्रिवेदी	18 जून, 1982–31 दिसंबर, 1985
8. आर.वी.एस. पैरीशास्त्री	1 जनवरी, 1986–25 नवंबर, 1990
9. श्रीमती वी.एस. रमा देवी (कार्यवाहक)	26 नवंबर, 1990–11 दिसंबर, 1990
10. टी.एन. शेषन	12 दिसंबर, 1990–11 दिसंबर, 1996
11. एम.एस. गिल	12 दिसंबर, 1996–13 जून, 2001
12. जे.एम. लिंगदोह	14 जून, 2001–7 फरवरी, 2004
13. टी.एस. कृष्णमूर्ति	8 फरवरी, 2004–16 मई, 2005
14. बी.बी. टंडन	17 मई, 2005 अब तक।

- क्या चुनाव आयोग को अनुच्छेद 174 के हर हालत में पालन के लिए राज्य में स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनाव कराने को केंद्र सरकार और राज्य सरकार से संसाधनों की मदद लेनी चाहिए।

निर्वाचन आयुक्त

1. *नवीन बी. चावला*–मुख्य निर्वाचन आयुक्त 21-4-2009
2. *एस.वाई. कुरेशी*–निर्वाचन आयुक्त
3. *बी.एस. संपत*–निर्वाचन आयुक्त

सुप्रीम कोर्ट की राय

- अनुच्छेद 174 और 324 को अलग-अलग देखा जाना चाहिए। दोनों अनुच्छेद अलग-अलग परिस्थितियों के लिए हैं। दोनों में से किसी एक को दूसरे के अधीन नहीं लाया जा सकता।
- अगर सदन समय से पहले भंग होता है तो छह माह में चुनाव कराने की मजबूरी नहीं है। इसलिए राष्ट्रपति शासन वाला अनुच्छेद 356 यहाँ लागू नहीं होता।
- चुनाव कराने का जिम्मा संविधान ने स्वायत्त संवैधानिक संस्था चुनाव आयोग को सौंपा है। इसका विधायिका या संसद से कोई लेना-देना नहीं है। चुनाव कार्यक्रम तय करना सिर्फ आयोग की जिम्मेदारी है।

15.9. भारत में चुनाव प्रणाली और सुधार (In India Election Commission and Improvement)

प्रजातंत्र की सफलता स्वतंत्र और निष्पक्ष चुनावों पर ही निर्भर करती है। निर्वाचन तंत्र के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए संविधान सभा में **पं. हृदयनाथ कुँजरु** ने कहा था कि *''अगर निर्वाचन तंत्र दोषपूर्ण है या कुशल नहीं है या गैर ईमानदार लोगों द्वारा संचारित होता है तो प्रजातंत्र का क्षेत्र ही दोषपूर्ण हो जाएगा। जनता निर्वाचनों से यह*

सीखने के बदले कि कितने मतों का प्रयोग किस प्रकार करें और उनका न्यायपूर्ण मतदान किस प्रकार संविधान में परिवर्तन और प्रशासन में सुधार ला सकता है और अपने लक्ष्य की प्राप्ति के लिए किन गलत तरीकों को अपनाया जा सकता है। यह सब बेकार हो जाएगा।''

स्वतंत्र निर्वाचन तंत्र के महत्त्व को स्वीकार करते हुए भारतीय संविधान के एक पृथक् अध्याय (अनुच्छेद 324 से 329) में चुनावों से संबंधित संपूर्ण व्यवस्था की गई है।

नोट

निर्वाचन आयोग–संविधान के अनुच्छेद 324 में चुनाव की व्यवस्था के लिए चुनाव आयोग का उल्लेख किया गया है। चुनाव आयोग में मुख्य चुनाव आयुक्त (Chief election commissoner) तथा दो अन्य चुनाव आयुक्त होंगे जिन्हें राष्ट्रपति समय-समय पर नियुक्त करें। राष्ट्रपति मुख्य चुनाव आयुक्त तथा अन्य चुनाव आयुक्तों की नियुक्ति करते समय संसद द्वारा पारित कानूनों का ध्यान रखेगा। राष्ट्रपति चुनाव आयुक्त के परामर्श पर आवश्यक क्षेत्रीय आयुक्तों की नियुक्ति करेगा। ये क्षेत्रीय आयुक्त चुनाव आयुक्त की सहायता करेंगे।

कार्यकाल–संविधान के अंतर्गत चुनाव आयोग की स्वतंत्रता की पूरी व्यवस्था की गई है। चुनाव आयुक्तों का कार्यकाल तथा सेवा-शर्तें राष्ट्रपति नियमानुसार निश्चित करेगा। मुख्य चुनाव आयुक्त की नियुक्ति के बाद उसके सेवा काल की शर्तों में उसके हितों के विरुद्ध कोई परिवर्तन नहीं किया जायेगा। मुख्य चुनाव आयोग को केवल उसी प्रकार पदच्युत किया जा सकता है जिस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पदच्युत करने की व्यवस्था है। चुनाव आयोग का कार्यकाल 5 वर्ष का होगा।

चुनाव आयोग का कार्य–चुनावों से संबंधित समस्त व्यवस्था करना चुनाव आयोग का कार्य है। इस संबंध में प्रमुख रूप से उसके निम्नांकित कार्यों का उल्लेख किया जा सकता है–

1. चुनाव क्षेत्रों का परिसीमन या सीमांकन–चुनाव आयोग का सर्वप्रथम कार्य चुनाव क्षेत्रों का सीमांकन होता है। प्रथम आम चुनाव में निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन 'जन प्रतिनिधित्व अधिनियम 1950' के अंतर्गत राष्ट्रपति द्वारा जारी किए गए आदेश के आधार पर किया गया था। लेकिन यह व्यवस्था संतोषजनक नहीं पायी गई। अत: संसद ने ''परिसीमन आयोग अधिनियम 1952'' पारित किया। इस अधिनियम में यह प्रावधान है कि दस वर्ष बाद होने वाली प्रत्येक जनगणना के उपरांत निर्वाचन क्षेत्रों का सीमांकन किया जाना चाहिए। मुख्य चुनाव आयुक्त इस परिसीमन आयोग का अध्यक्ष होता है। आयोग की सहायता के लिए प्रत्येक राज्य से 2 से लेकर 7 तक सहायक सदस्यों का प्रावधान है।

2. मतदाता सूचियाँ तैयार करना–चुनाव आयोग के द्वारा लोकसभा या विधानसभा के प्रत्येक चुनाव या मध्यावधि चुनाव के पूर्व मतदाता सूचियाँ तैयार करवायी जाती हैं और इस कार्य के संपन्न होने पर ही चुनाव होते हैं। मतदाता सूची तैयार करने का कार्य इस उद्देश्य से किया जाता है कि कोई भी ऐसा व्यक्ति मताधिकार से वंचित न रहे जो मताधिकार की योग्यता रखता है।

3. विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना–चुनाव आयोग का एक महत्त्वपूर्ण कार्य विभिन्न राजनीतिक दलों को मान्यता प्रदान करना है। इस संबंध में आयोग के द्वारा कोई आधार निश्चित किया जा सकता है। चुनाव आयोग द्वारा मान्यता प्रदान किए जाने के आधार में समय-समय पर परिवर्तन किए जा सकते हैं और किए जाते रहे हैं। वर्तमान नियम के अनुसार राष्ट्रीय दलों के रूप में किसी दल को मान्यता तभी प्राप्त हो सकती है, जबकि अन्य चुनाव में उसे कम-से-कम चार राज्यों में 4 प्रतिशत मत मिले हों।

4. राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करना–आयोग मान्यता प्राप्त राजनीतिक दलों को आरक्षित चुनाव चिह्न प्रदान करता है। यदि चुनाव चिह्न के प्रश्न पर दो राजनीतिक दलों के बीच कोई विवाद उत्पन्न हो जाए तो इस स्थिति में आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह निष्पक्ष और न्यायिक ढंग से विवाद का निपटारा करेगा।

5. अर्द्ध न्यायिक कार्य–संविधान के द्वारा आयोग को कुछ अर्द्ध न्यायिक कार्य भी सौंपे गए हैं जिसमें दो उल्लेखनीय है। अनुच्छेद 103 के अंतर्गत राष्ट्रपति संसद के सदस्यों की अयोग्यताओं के संबंध में परामर्श कर सकता है तथा 192वें अनुच्छेद के अंतर्गत राज्य विधानमंडल के सदस्यों के संबंध में यह अधिकार राज्यों के राज्यपालों को दिया गया है।

6. अन्य कार्य–आयोग को उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य कार्य भी सौंपे गए हैं जो इस प्रकार हैं–

(क) राजनीतिक दलों के लिए आचार संहिता तैयार करना।

(ख) राजनीतिक दलों को आकाशवाणी पर चुनाव प्रचार की सुविधाएँ दिलवाना।

(ग) उम्मीदवारों द्वारा किए जाने वाले कुछ व्यय की राशि निश्चित करना।

(घ) मतदाताओं को राजनीतिक प्रशिक्षण देना।

(ङ) चुनाव याचिकाओं आदि के संक्षेप में सरकार को आवश्यक परामर्श देना।

नोट

इन सबके अतिरिक्त आयोग से यह अपेक्षा की जाती है कि वह समय-समय पर सरकार को अपने कार्यों के संबंध में प्रतिवेदन देता रहेगा और चुनाव प्रक्रिया के सुधार के लिए सुझाव देता रहेगा। चुनाव आयोग मतदान की तिथियों की घोषणा करता है।

15.10. भारतीय चुनाव सुधार (Indian Election Reform)

भारत 15 अगस्त 1947 को आजाद हुआ। भारत में प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार का अधिकार प्राप्त है। (वयस्क पुरुष और स्त्री को)। लेकिन दुर्भाग्य की बात है कि चुनाव के प्रति जनता की आस्था कम होती जा रही है। उसका एक मात्र कारण है हमारे देश का राजनीतिक व्यवहार। चुनाव करा लेने से ही लोकतंत्र नहीं कहलाता है। पाकिस्तान, फिलिपाइंस आदि देशों में भी चुनाव होता है। हिटलर ने भी चुनाव कराया था क्या इसे हम लोकतंत्र कह सकते हैं। इसके लिए यह भी देखना आवश्यक है कि चुनाव प्रणाली कैसी है। जन प्रतिनिधि कैसा है। उसके क्रिया-कलाप कैसे हैं आदि।

वर्तमान समय में राजनीतिक दल धन और बंदूक की नोक पर टिके हैं। इसमें गुटों और पुलिस की भी सहभागिता है। राजनीतिक दल इसे अपना अधिकार समझ बैठे हैं। 1985 के चुनाव (लोकसभा) में भी चुनाव आयोग ने एक रिपोर्ट पेश की थी। 254 निर्वाचन केंद्रों में चुनाव के अवैध तरीके प्रयोग में लाए गए। इससे न सिर्फ निर्वाचन पद्धति पर आँच आती है बल्कि उसके कानूनों पर भी।

आजादी (15 अगस्त 1947) के बाद से लेकर 1987 तक के शासन काल में कांग्रेस 50% से अधिक मत कभी नहीं पायी। यह सच है कि 1985 के आम चुनाव (लोकसभा) में भारतीयों के अपार मत श्रीमती इंदिरा गाँधी के अस्थि कलश में डाले गए लेकिन फिर भी कांग्रेस का मत प्रतिशत 49.16% ही रहा। जो कुल मत का 34. 3% ही था।

चुनाव में उम्मीदवार द्वारा धन खर्च किए जाने पर कानून द्वारा प्रतिबंधित तो है लेकिन व्यवहार में शायद ही नियमित रूप से कोई उम्मीदवार धन खर्च करता हो। क्योंकि दल द्वारा किए गए खर्च और उम्मीदवार द्वारा किए गए खर्च को अलग-अलग खर्च मान उम्मीदवारों को धन खर्च करने की छूट दे दी गयी है। सर्वोच्च न्यायालय ने भी एक मुकदमें में इसकी पुष्टि कर दी है। निर्वाचन में अपार धन के व्यय को रोकना होगा। इसकी सिफारिश भूतपूर्व मुख्य चुनाव आयुक्त श्री त्रिवेदी ने भी की थी और चुनाव आयुक्त श्री पेरीशास्त्री ने भी की है और टी. एन. शेषन का भी विचार है कि उम्मीदवारों को सरकार द्वारा मतदाता सूची रियायती दरों पर कागज आदि उपलब्ध कराना चाहिए। पश्चिम जर्मनी, जापान, इटली और यूरोप के कई देशों में सरकारी कोष से उम्मीदवारों को एक निश्चित धन राशि चुनाव में खर्च करने की व्यवस्था सफल हुई है। किंतु भारत में जब तक ऐसा नहीं होता है तब तक तो चुनाव के बाद उम्मीदवारों को प्रस्तुत किए जाने वाल खर्च ब्योरे की जाँच भी तो निष्पक्ष ढंग से 15 जुलाई 1985 को चुनाव आयोग ने चुनाव सुधार से संबंधित प्रश्नावली पर राजनीतिक दलों से सुझाव माँगा पर इंका ने ऐसा करने से इंकार कर दिया। स्मरणीय है श्रीमती गाँधी ने अपने शासन काल के दौरान चुनाव आयोग द्वारा प्रस्तुत की गयी सुझाव की जाँच हेतु एक कैबिनेट (Cabinet) स्तर की समिति नियुक्त की थी।

चुनाव आयोग अग्रलिखित सुझावों को पहले भी प्रस्तुत कर चुका है और आज भी प्रस्तुत कर रहा है। चुनाव पद्धति में सुधार हेतु निम्नलिखित सुझाव दिए गए हैं–

1. उम्मीदवारों की संख्या कम करने के लिए लोकसभा के प्रत्याशी को अग्रिम राशि 5000 रु. तथा विधानसभा के प्रत्याशी को अग्रिम राशि 2500 रु. जमा करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

2. 20% मत (कुल मत का) प्राप्त होने पर ही उम्मीदवार का जमानत बचा हुआ माना जाना चाहिए वरना जब्त हो जानी चाहिए।

3. संसदीय प्रत्याशी हेतु नामांकन पत्र भरते वक्त एक M.L.A. द्वारा उसके नामांकन पत्र पर अनुमोदित होना चाहिए तथा विधानसभा प्रत्याशी हेतु उस क्षेत्र के 20 प्रत्याशियों की सूची जनमत के लिए पेश की जानी चाहिए। जनमत द्वारा जिस प्रत्याशी को स्वीकृति मिले उसे ही निर्वाचन हेतु टिकट देना चाहिए।

छात्र क्रियाकलाप

1. कृपया प्रश्न लिखिए

2. कृपया प्रश्न लिखिए

नोट

4. मान्यता प्राप्त दल को ही सरकार द्वारा सुविधा दी जानी चाहिए अन्य दलों को नहीं।

5. वैसा व्यक्ति जो हिस्ट्रीशीटर हो, खूनी हो, अपराधी हो, तस्करी में पकड़ा गया हो, नैतिक अपराधी हो। चाहे ऐसा व्यक्ति 2 वर्ष की ही सजा क्यों न काटा हो। उम्मीदवार बनने हेतु इन्हें अयोग्य माना जाना चाहिए।

6. एक उम्मीदवार को एक ही निर्वाचन क्षेत्र से चुनाव लड़ने की अनुमति देनी चाहिए, दो क्षेत्रें से नहीं।

7. उम्मीदवारों को नामांकन पत्र भरते समय आयकर विभाग द्वारा अभिप्रमाणित अपनी संपूर्ण धनराशि का ब्योरा पेश किया जाना चाहिए।

8. राजनीतिक दल को भी अपनी आय का ब्योरा पेश करना चाहिए।

9. जो उम्मीदवार चुनाव में अवैध तरीके का सहारा लेते हैं उन्हें 6 वर्ष हेतु उम्मीदवार बनने से अयोग्य माना जाना चाहिए और दंड की व्यवस्था होनी चाहिए।

10. चुनाव के दरमियान सरकारी पदाधिकारियों या कर्मचारियों द्वारा चुनाव में अवैध तरीके अपनाने में मदद किए जाने पर इन्हें भी कठोर दंड से दंडित किया जाना चाहिए।

11. जिन लोगों में 30% मतदान हो वहाँ पुनः मतदान कराया जाना चाहिए।

12. स्वतंत्र उम्मीदवारों को निर्वाचित होने के बाद किसी दल में शामिल होने की छूट नहीं दी जानी चाहिए।

13. जिसे मतदान केंद्रों पर चुनाव के अवैध तरीके अपनाए जाएँ उस निर्वाचन क्षेत्र (पूरे) में फिर से मतदान कराना चाहिए।

14. चुनाव प्रचार के लिए मंत्रियों, प्रधानमंत्रियों, राजनेताओं द्वारा सरकारी तंत्र का दुरुपयोग तथा सरकारी कोष से खर्च नहीं करना चाहिए।

15. चुनाव के समय समाचार पत्रों पर से युक्तियुक्त प्रतिबंध को हटा लेना चाहिए जिससे वास्तविकता मालूम हो सके।

16. जिस निर्वाचन क्षेत्र में जिस जाति की अधिक बहुलता हो या जिस संप्रदाय का दबदबा हो, वहाँ से उस जाति या संप्रदाय के व्यक्ति को उम्मीदवार नहीं बनाना चाहिए।

17. समाज के पिछड़े वर्गों के लिए मतदान की अलग व्यवस्था होनी चाहिए।

18. अवैध मतदान करने वाले व्यक्ति को 6 वर्ष का सश्रम कारावास विधि द्वारा निश्चित कर देना चाहिए।

19. स्त्रियों के अलग तथा पुरुषों के अलग मतदान केंद्र होने चाहिए तथा दोनों के मतदान केंद्रों पर दोनों वर्गों के ही कर्मचारी चुनाव कार्य में उपस्थित रहें।

20. चुनाव क्षेत्रों के पर्यवेक्षक उस राज्य के वरिष्ठ अधिकारी नहीं होने चाहिए।

21. संवेदनशील क्षेत्रों में चुनाव सेना की उपस्थिति में कराया जाना चाहिए।

22. संपूर्ण मतदान केंद्रों पर केंद्रीय रिजर्व पुलिस के जवान अपने नियंत्रक के साथ बहाल किए जाने चाहिए।

23. पत्र पर शब्दात केंद्र निर्मित करते समय यातायात की सुविधा का ज्यादा खयाल रखा जाना चाहिए।

24. मतदान से पूर्व सभी प्रकार के समाज विरोधी कार्यवाही करने वाले व्यक्ति को (जो न्यायालय द्वारा दंडित या दोषी पाए गए हों) मताधिकार से वंचित कर उन्हें हिरासत में ले लेना चाहिए।

25. चुनाव में खड़े उम्मीदवार को बैठने की अनुमति नहीं देनी चाहिए।

26. चुनाव के दौरान या चुनाव काल तक Law and order maintain करने की जिम्मेवारी स्वतंत्र रूप से चुनाव आयोग पर छोड़ देनी चाहिए।

27. चुनाव आयोग को कुछ नियंत्रण मुक्त बनाना चाहिए।

28. जनता की प्रतिनिधित्व प्रणाली में भी संशोधन किया जाना चाहिए।

उपरोक्त वर्णित सुधारों के संबंध में यदि हम दृष्टिपात करते हैं तो उसमें से बहुत सुझाव अमल करने योग्य हैं। उल्लेखनीय है भारतीय संविधान के अनुच्छेद 324 के द्वारा व्यवहारतः प्रधानमंत्री की राय से राष्ट्रपति चुनाव आयोग का गठन करता है। इसमें मुख्य कर्ता भारतीय प्रशासनिक सेवा के सेवक होते हैं। इस प्रकार यह कार्यपालिका की कठपुतली बन जाता है।

नोट

सरकार द्वारा दल-बदल के विरुद्ध कड़ी कार्यवाही की व्यवस्था की जा रही है। किसी निर्दलीय उम्मीदवार की मृत्यु हो जाने पर चुनाव स्थगित नहीं किए जायेंगे। राष्ट्रपति ने 1992 में एक अध्यादेश के माध्यम से चुनाव प्रचार की न्यूनतम समय सीमा को 20 दिनों से घटाकर 14 दिन कर दिया है।

देश की राजनीति से दल-बदल को समाप्त करने तथा भारी-भरकम मंत्रिपरिषदों के निर्माण पर प्रतिबंध लगाने के लिए 97 वाँ संविधान संशोधन विधेयक को दिसंबर, 2003 में संसद से पारित कर दिया गया है। इस अधिनियम के अनुसार यदि कोई सांसद या विधायक अपने दल से किसी भी कारण से त्यागपत्र देता है तो उसे दल-बदल माना जाएगा और संबंधित संवैधानिक इकाई से उसकी सदस्यता तुरंत प्रभाव से समाप्त हो जाएगी। साथ ही वह अगला चुनाव जीतने तक मंत्री पद सहित कोई भी लाभ का पद नहीं ले सकेगा। इस विधेयक में मंत्रिपरिषद का आकार लोकसभा या विधानसभा की संख्या के 15 प्रतिशत तक सीमित रखने का प्रावधान किया गया है। छोटे राज्यों के संबंध में मंत्रियों की संख्या बारह तक की जा सकती है।

मतदाताओं को सभी राज्यों में फोटोयुक्त परिचय पत्र देने का कार्य लगभग पूरा किया जा रहा है। राजनीतिक अपराधी छवि वाले व्यक्तियों को राजनीति से अलग करने संबंधी नियम भी बनाए जा रहे हैं। इस प्रकार भारत सरकार द्वारा निर्वाचन सुधार अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। इसके लिए जनता को जागरूक एवं शिक्षित होना जरूरी है।

भारतीय चुनाव प्रणाली में वास्तविक रूप से सुधार तभी आ सकता है जबकि भारतीय जनता अंग्रेजों के समान शिक्षित और जागरूक हो। भारत में आज भी शिक्षा की कमी है। जनता की बेबसी है। भारत सरकार को इसे दूर करना होगा। निर्वाचन में प्रतिनिधित्व जनता के प्रतिनिधि करते हैं। इसलिए वह जितने अच्छे तरीके से उसे पहचान सकती है, सरकारी तंत्र उसे क्या पहचानेगा लेकिन विधि निर्माण जनमत के निर्णय से जरूर मिला हुआ होना चाहिए। जनता और सरकारी तंत्र दोनों को चुनाव के दौरान एक-दूसरे का सहयोगी बनना होगा तथा जनमत को वास्तविक रूप में अपना परिचय प्रस्तुत करना होगा तभी भारतीय चुनाव प्रणाली में कुछ सुधार के आसार नजर आएँगे। न्यायपालिका को चुनाव संबंधी मामलों का निपटारा जल्द करना चाहिए। आज के राजनैतिक परिवेश की जो हालत है उसमें कुछ भी कहना युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता। जिस प्रकार की घटनाएँ घटा करती हैं, जिस प्रकार के नाटक रचाए जाते हैं यदि ऐसी ही हालत बनी रही तो चुनाव बस एक औपचारिकता बन जाएगी लोकतंत्र सिर्फ नाम का कहलाएगा। इसके लिए यह जरूरी है कि जनता अपने नैतिक स्तर को ऊँचा करे।

15.11. सारांश (Summary)

वर्तमान युग प्रजातंत्र का युग है। संसार के अधिकांश देशों में प्रजातांत्रिक पद्धति की सरकारें ही प्रचलित हैं। जनता की सरकार को ही प्रजातंत्र कहते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को राज्य के सदस्य होने के नाते यह नैसर्गिक अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य के प्रशासन में भाग ले सके और उसके लिए उन प्रतिनिधियों के निर्वाचन में हाथ बँटा सके, जिन्हें राज्य का शासन चलाना है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन उसे कहते हैं जहाँ मतदाता अपने प्रतिनिधियों को स्वयं निर्वाचित करते हैं। वे प्रतिनिधियों के चुनाव में स्वयं मत देते हैं। इसके विपरीत अप्रत्यक्ष प्रणाली में मतदाता प्रतिनिधियों के चुनाव में स्वयं भाग नहीं लेते बल्कि कुछ ऐसे लोगों को चुनते हैं जो उसके बदले में प्रतिनिधियों का निर्वाचन करते हैं अर्थात् प्रतिनिधियों का निर्वाचन मतदाता द्वारा निर्वाचित एक निर्वाचक मंडल (Electoral College) द्वारा होता है, स्वयं मतदाता द्वारा नहीं।

आम चुनाव के लिए देश को कई भागों में बाँट दिया जाता है जिसे निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) कहते हैं। निर्वाचन-क्षेत्र दो तरह का होता है। एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र (Single member constituency) और बहु-सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र (Multi member constituency)। जिस क्षेत्र से एक सदस्य चुना जाता हो उसे एक सदस्यीय निर्वाचन-क्षेत्र और जिससे एक से अधिक सदस्य चुने जाते हों उसे बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र कहा जाता है।

वयस्क (सार्वजनिक) मताधिकार जनता प्रजातंत्रात्मक शासन प्रणाली की आधारशिला है। जनता ही शासन की संपूर्ण शक्तियों का आधार है।

नोट

15.12. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. बताइए कि संविधान यह किस प्रकार सुनिश्चित करता है कि चुनाव आयोग एक स्वतंत्र निकाय के रूप में कार्य करेगा?
2. सांप्रदायिक निर्वाचन पद्धति तथा सीटों के आरक्षण के साथ संयुक्त निर्वाचन प्रणाली में क्या अंतर है? भारतीय संविधान निर्माताओं ने सांप्रदायिक निर्वाचन पद्धति को अस्वीकार क्यों किया?
3. भारत में स्वतंत्र तथा निष्पक्ष चुनाव सुनिश्चित करने के लिए क्या उपाए किए गए हैं?
4. आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण तथा दोष क्या हैं?
5. प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष लोकतंत्र में अंतर कीजिए।
6. भारत में चुनाव सुधार से संबंधित कुछेक प्रमुख सुझावों पर चर्चा करें।
7. एकल संक्रमणीय मत प्रणाली का क्या अर्थ है? राज्यसभा के सदस्यों का चुनाव किस प्रकार किया जाता है?
8. साधारण बहुमत प्रणाली के क्या दोष हैं? भारत ने इस प्रणाली को क्यों अपनाया?
9. भारत में चुनाव आयोग की शक्तियों तथा कार्यों को स्पष्ट कीजिए।

❑❑❑

नोट

अध्याय-16

धर्मनिरपेक्षता
(Securalism)

पाठ-संरचना (Lesson-structure)

16.1. उद्देश्य (Objectives)
16.2. परिचय (Introduction)
16.3. धर्मनिरपेक्षता (Securalism)
16.4. धर्मनिरपेक्षता के तत्त्व (Element of Secularization)
16.5. धर्मनिरपेक्षता के कारक (Factors of Secularization)
16.6. सारांश (Summary)
16.7. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

16.1. उद्देश्य (Objectives)

इस अध्याय में आपको

- लो
- लो
- स्
- ल

16.2. परिचय (Introduction)

स्वतंत्रता के बाद भारत में विश्व के अन्य देशों की भाँति एक संविधान का निर्माण किया गया। संविधान निर्माताओं ने देश की एकता एवं अखंडता को बरकरार रखने के लिए संविधान में पंथनिरपेक्षता को आधार मानकर संविधान का निर्माण किया। भारत एक विचित्र देश है। यहाँ अनेकता में एकता का अपना महत्त्व है। सभी धर्म के लोग एकता के सूत्र में बँधकर अपने कार्यों का संपादन करते हैं। धर्म निरपेक्षता का अर्थ यह है कि भारत में कोई राज्य धर्म नहीं है, राज्य का क्षेत्र और धर्म का क्षेत्र अलग-अलग है। संविधान के द्वारा भारत में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। संविधान के 42वाँ संशोधन अधिनियम के अंतर्गत धर्मनिरपेक्ष शब्द का स्पष्ट उल्लेख किया गया है। राज्य को किसी धर्म से कोई मतलब नहीं है। धर्म एक व्यक्तिगत चीज मानी गई है, कोई सार्वजनिक महत्त्व की वस्तु नहीं है। धर्म के संबंध में राज्य बिल्कुल निरपेक्ष है, पूर्णतया तटस्थ है। धर्म से उनका कोई प्रयोजन नहीं है। सरकार न किसी धर्म को सहायता ही देगी और न उसकी प्रगति के मार्ग में बाधा ही उपस्थित करेगी। संविधान में धर्मनिरपेक्षता उसकी सबसे बड़ी विशेषता है और इस पर हम सभी को गर्व है। भारत में रहने वाले अल्प संख्यकों में विश्वास पैदा करने के लिए ये उपबंध आवश्यक थे। धर्मनिरपेक्षता प्रत्येक प्रगतिशील राष्ट्र का प्रमुख लक्षण माना जाता है और इस तरह की पद्धति भारत जैसे देश के लिए आवश्यक है क्योंकि यहाँ विभिन्न धर्म, भाषा, नस्ल के लोग एक ही जगह रहते आए हैं।

नोट

16.3. धर्मनिरपेक्षता (Securalism)

धर्मनिरपेक्षता राजनीतिशास्त्र की एक जटिल अवधारणा है। आज का युग स्वतंत्रता और समानता का युग है। अत: धर्म के नाम पर अथवा धर्म के आधार पर नागरिकों में भेदभाव करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता अत: धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना आज के युग की पुकार है। धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ ही होता है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं हो और धर्म के आधार पर वह नागरिक-नागरिक के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता हो।

भारतीय संविधान के अनुसार भारत में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। अर्थात् राज्य धर्म व जाति आदि के आधार पर किसी व्यक्ति अथवा संस्था को किसी प्रकार की सहायता प्रदान नहीं करेगा। परंतु हरिजन आदिवासियों तथा समाज के दबे कुचले एवं पिछड़े वर्गों के लोगों को केवल कुछ समय के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ दी गई हैं ताकि वे समाज एवं राष्ट्र की मुख्य धारा से जुड़ सकें एवं अपने जीवन स्तर को ऊपर उठा सकें। भारतीय संविधान की प्रस्तावना में यह स्पष्ट तौर पर कहा गया है कि सभी नागरिकों को धर्म, विश्वास, पूजा इत्यादि बातों में स्वतंत्रता होगी और सबको न्याय एवं अवसर की समानता समान रूप से प्रदान की जाएगी और वे अपने धार्मिक विचारों का प्रचार स्वतंत्रतापूर्वक कर सकते हैं। धर्मनिरपेक्षता का तात्पर्य यह नहीं है कि भारत सरकार अपने नागरिकों को नास्तिक अथवा विधर्मी बनाना चाहती है। इसका अर्थ यह है कि राज्य एवं केंद्र की सरकारें धार्मिक कृत्यों में तटस्थ रहेंगी और राज्य किसी धर्म विशेष के साथ पक्षपात नहीं करेगा। भारतीय नागरिकों को यह अधिकार है कि वे अपनी शिक्षण संस्थाएँ खोलकर उनमें धार्मिक शिक्षा दी जा सकती है। 42वें संविधान संशोधन अधिनियम द्वारा संविधान की प्रस्तावना में भी धर्मनिरपेक्ष शब्द जोड़ दिया गया है ताकि धार्मिक मामले में जनता दिग्भ्रमित न हो सभी नागरिक यह महसूस कर सकें कि राज्य धार्मिक मामलों में अथवा धार्मिक आधार पर नागरिक-नागरिक के बीच कोई विभेद नहीं करेगा अर्थात् धर्म के मामले में राज्य तटस्थ रहेगा। इतना जान लेने के बाद Secularization के अर्थों को सही परिपेक्ष्य में जान लेना यहाँ पर आवश्यक प्रतीत होता है।

Secularization शब्द Secular से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ *धर्मनिरपेक्ष* होता है *Chambers English Hindi Dictinary* में Secular का शाब्दिक अर्थ *सर्व धर्म समतापरक, धर्मनिरपेक्ष* तथा *असंप्रदायिक बतलाया गया है।* अत: धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि वह नागरिकों को धर्म में विश्वास रखने पर रोक लगाने वाला होता है इसका वास्तविक अर्थ होता है धार्मिक मामलों में राज्य की तटस्थता। धर्मनिरपेक्ष राज्य में सभी नागरिकों को धार्मिक अधिकार प्राप्त रहते हैं। यों तो Secular या Secularization की परिभाषाओं के संबंध में विद्वानों में मतेक्यता का अभाव है। इस संबंध में कहा जाता है कि जितने लेखक हैं उतने ही अलग-अलग ढंग से उन्होंने इसके अर्थ बतलाए हैं। इस संबंध में **आर. वेंकटरमण** की परिभाषा अधिक सटीक एवं सोद्देश्यपूर्ण जान पड़ती है जो इस प्रकार है–*''धर्मनिरपेक्ष राज्य न तो धार्मिक होता है, न अधार्मिक, लेकिन धार्मिक मतों और सिद्धांतों से अपने को अलग रखता है और प्रत्येक नागरिक को धार्मिक स्वतंत्रता का अधिकार देता है, इस प्रकार कहने का तात्पर्य यह है कि धर्म के मामले में राज्य (भारत) कोई दखल नहीं देगा। यहाँ का नागरिक अपनी इच्छा से कोई भी धर्म रख सकता है तथा उसका अनुपालन कर सकता है। अपनी इच्छा से वह (यानी बिना राज्य के दबाव के) यदि चाहे तो अपना धर्म परिवर्तन भी कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि धार्मिक मामलों में राज्य की भूमिका तटस्थता की होगी अर्थात् अपने राज्य के सभी नागरिकों के मध्य धार्मिक आधार पर कोई विभेद नहीं किया जाएगा। कानून की निगाह में हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई सभी बराबर हैं। अत: जाति, धर्म एवं संप्रदाय के आधार पर राज्य द्वारा नागरिक-नागरिक के बीच किसी प्रकार का विभेद नहीं किया जाएगा।''*

डोनाल्ड यूजीन स्मिथ ने भारतीय संदर्भ में पंथ निरपेक्षता के बारे में लिखा है कि *''पंथ निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म की व्यक्तिगत तथा समवेत स्वतंत्रता प्रदान करता है, संवैधानिक रूप से किसी धर्म विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है और जो धर्म का न तो प्रचार करता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करता है।''*

न्यायमूर्ति देसाई ने कहा था, *''एक पंथ निरपेक्ष राज्य व्यक्ति के साथ एक नागरिक के रूप में व्यवहार करता है और उसके पंथ की ओर ध्यान नहीं देता है। वह किसी पंथ विशेष से जुड़ा नहीं होता है और न वह किसी पंथ को बढ़ावा देता है और न हीं उसमें हस्तक्षेप करने का प्रयास करता है। अनिवार्य है कि एक पंथ निरपेक्ष राज्य का धार्मिक कार्यों से कोई संबंध न हो, सिवाय उस स्थिति के जब उनके प्रबंध में अपराध, धोखाधड़ी, अंतर्ग्रस्त हो या वह राज्य की एकता तथा अखंडता के लिए खतरा बन जाए।''*

न्यायमूर्ति गजेंद्र गडकर ने भारतीय संविधान की पंथ निरपेक्षता की परिभाषा देते हुए कहा है कि *''नागरिकों को नागरिक के रूप में समान अधिकार प्राप्त है तथा इस मामले में उनका पंथ या मजहब पूर्णतया अप्रासंगिक है।''* उन्होंने कहा है कि राज्य किसी पंथ विशेष के प्रति आसक्ति नहीं रखता, वह धार्मिक या धर्म विरोधी नहीं होता, वह सभी पंथों को समान स्वतंत्रता प्रदान करता है। भारतीय 'धर्मनिरपेक्षता' ने धर्म के युक्ति युक्त कार्यों के बीच *'तर्क संगत विश्लेषण'* स्थापित करने का प्रयास किया।

नोट

स्वतंत्रता से पूर्व भारत में धर्मनिरपेक्षता की लड़ाई राजनीतिक स्तर पर लड़ी जा रही थी, जिसमें समाज के सभी वर्गों को स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़ने के लिए प्रेरित एवं प्रोत्साहित किया जाता था। यह लड़ाई सांस्कृतिक स्तर पर भी चल रही थी। इसके अंतर्गत प्रत्येक धर्म की पुनः व्याख्या करने की व्यवस्था थी ताकि प्रत्येक संस्कृति की रचनात्मक और गतिशील प्रक्रियाओं को प्रमुखता मिले और विभिन्न संस्कृतियाँ एक दूसरे के निकट आएँ परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् इस लड़ाई का स्वरूप बदल गया। इसे आर्थिक, सामाजिक और शैक्षणिक स्तर पर चलाया गया। सभी समुदायों, खासकर उपेक्षित एवं दबे-कुचले वर्गों को विकास कार्यों में शामिल करना धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देने के प्रयास की अनिवार्य शर्त बन गई।

धर्मनिरपेक्षता के संबंध में यूरोपीय मॉडल–धर्मनिरपेक्षता का यूरोपीय मॉडल मुख्यतः अमेरिकी मॉडल द्वारा प्रेरित है। इस मॉडल में विशेष बात यह है कि राज्य न तो धर्म के मामले में हस्तक्षेप कर सकता है और न ही धर्म (धार्मिक संस्था) राज्य के मामले में कोई निर्देश दे सकता है। दोनों अपने-अपने क्षेत्र में स्वतंत्र तथा दोनों की सीमाएँ अलग हैं। राज्य अपनी किसी नीति को धार्मिक आधार पर निर्मित नहीं कर सकता है और न धर्म किसी राज्य नीति को धार्मिक आधार पर प्रभावित कर सकता है। राज्य किसी धार्मिक संस्था को किसी भी प्रकार से सहायता नहीं करेगा और न धार्मिक समुदायों द्वारा संचालित शैक्षणिक संस्थाओं को वित्तीय सहयोग देगा। यदि किसी धार्मिक समुदाय का कोई कार्य देश के कानून द्वारा निर्मित सीमा के अंदर है तो राज्य इनके कार्यों में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। जैसे यदि कोई विशेष धार्मिक समुदाय अपने कुछ सदस्यों को कोई धार्मिक कार्य करने से निषेध कर देता है तो इसमें राज्य उन सदस्यों का पक्ष लेते हुए कुछ नहीं कर सकता। क्योंकि धर्म एक निजी मामला है और वह राज्य का विषय नहीं हो सकता।

16.4. धर्मनिरपेक्षता के तत्त्व (Element of Secularization)

धर्मनिरपेक्षता के तत्त्व निम्नलिखित हैं–

1. समानता का विकास–भारत में पहले धर्म, जाति लिंग आदि के आधार पर भेदभाव किया जाता था। हिंदुओं में ब्राह्मणों का स्थान सर्वोच्च था। किंतु धर्मनिरपेक्षता के कारण इस प्रकार के भेदभाव समाप्त हो गए।

2. धार्मिकता का ह्रास–धर्मनिरपेक्षता की जैसे-जैसे वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे ही धर्म का ह्रास होने लगता है मानवीय व्यवहार और सामाजिक घटनाओं की व्याख्या करने में धर्म के हस्तक्षेप को उचित नहीं माना जाता है।

3. तार्किकता–धर्मनिरपेक्षता में तर्क को बहुत महत्त्व दिया जाता है और जीवन में आने वाली प्रत्येक समस्या पर तर्क और बुद्धि के आधार पर विचार किया जाता है न कि धार्मिक और ईश्वरीय आधार पर। तार्किकता का बढ़ना ही धर्मनिरपेक्षता है।

4. विभेदीकरण–धर्मनिरपेक्षता में विभेदीकरण बढ़ता जाता है अर्थात् समाजिक, धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक पक्ष एक दूसरे से अलग कर दिए जाते हैं। इन सभी क्षेत्रों में धर्म का प्रभाव कम हो जाता है। जैसे–पहले राजा पुरोहित के अधीन होता था परंतु आज धर्म और राजा अलग-अलग हो गए हैं।

5. आधुनिकीकरण की प्राप्ति में सहायक–प्रत्येक समाज आज अपने को आधुनिक कहलवाना पसंद करता है इस लिए परंपरागत आचार-व्यवहारों में परिवर्तन करना आवश्यक है। भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य घोषित होने के बाद यहाँ के परंपरागत व्यवहार प्रतिमान में बहुत परिवर्तन हुआ।

6. वैज्ञानिक अवधारणा–धर्म चूँकि श्रद्धा की वस्तु है इसलिए उसमें तर्क के लिए कोई स्थान नहीं होता जबकि धर्मनिरपेक्षता तार्किकता पर बल देती है और उसी वस्तु को सही मानती है जिसमें कार्य-कारण का संबंध स्पष्ट हो।

भारत 15 अगस्त, 1947 को आजाद हुआ। 26 जनवरी, 1950 को इसने अपना संविधान लागू किया। भारतीय संविधान में पंथनिरपेक्षता या धर्म निरपेक्षता शब्द को लाया गया है जो संविधान की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता भी है। अनेकता में एकता को आधार मानकर यह हिमालय से कन्याकुमारी तक एक है। यहाँ पर सर्व धर्म समन्वय की बात होती है।

नोट

भारत में वास्तविक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना कैसे की जाए (How to achieve a genuine Secular State in India)

धर्मनिरपेक्षता आधुनिक युग की माँग है। भिन्न धर्मों वाले देश के लिए यह और भी आवश्यक है। ब्रिटेन तथा पाकिस्तान अपने आपको धर्मनिरपेक्ष राज्य नहीं कह सकते। भारत में भी इस शब्द के वास्तविक अर्थ की ओर ध्यान देने की आवश्यकता है। भारत में भिन्न धर्मों के लोग कई बार इसका अर्थ अपने ढंग से ही लगाते हैं जिससे हमारे नवराष्ट्र पर बुरा प्रभाव पड़ता है। नेहरू ने 1954 में कहा था, ''भारत के लिए 'धर्मनिरपेक्ष' शब्द ठीक नहीं है, बेहतर शब्द न होने के कारण इसका प्रयोग किया जा रहा था।'' डॉ. राधाकृष्णन के शब्दों में, ''भारतीय राज्य की धार्मिक तटस्थता को धर्मनिरपेक्षता अथवा नास्तिकता से नहीं गड़बड़ाना चाहिए। यह धर्मनिरपेक्षता प्राचीन भारतीय परंपराओं के अनुकूल है।''

इसलिए सच्चे अर्थों में धर्मनिरपेक्ष बनने के लिए हमें भारतीय सभ्यता और संस्कृति को अपनाना पड़ेगा जिसके बिना भारत भारत नहीं हो सकता। संस्कृति का अर्थ विभिन्न समूहों की भौतिक, सामाजिक, धार्मिक तथा कलात्मक उपलब्धियाँ हैं। इसमें सांझे मूल्य तथा विश्वास सम्मिलित होते हैं। इसलिए भारतीय संस्कृति को अपनाने के लिए हमें हिंदू, बौद्ध, जैन, सिक्ख तथा मुस्लिम धर्मों के पाठों को ग्रहण करना चाहिए। प्रायः एक धर्म के लोगों को दूसरे धर्मों का ज्ञान नहीं है। ऐसे सांझे ज्ञान के बिना हम भारतीय संस्कृति को पूरी तरह नहीं समझ सकते।

किंतु भारतीय राजनीति में धर्मनिरपेक्षता का प्रभाव स्पष्ट दिखाई दे रहा है। जनसंघ जिसे सांप्रदायिक दल समझा जाता था, ने भी अपने आपको राष्ट्रीय दल घोषित किया है जिसका सदस्य किसी भी धर्म का व्यक्ति बन सकता है। कुछ मुसलमान इसके सदस्य बन भी गए हैं। अब कोई भी राजनीतिज्ञ खुले तौर पर धर्मनिरपेक्षता के विरुद्ध कुछ नहीं कर सकता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि भारत में धर्मनिरपेक्षता की जड़ मज़बूत है। यह अच्छी बात है और इससे भारत में स्वस्थ राजनीतिक तथा सामाजिक वातावरण बनाए रखने में सहायता मिलती है।

भारतीयकरण का महत्त्व (Importance of Indianisation)

धर्मनिरपेक्षता को भारत में वास्तव में सफल बनाने के लिए भारतीयकरण की अत्यंत आवश्यकता है। भारतीयकरण का अर्थ भारत के लोगों को हिंदुकरण, इस्लामीकरण अथवा पाश्चात्करण नहीं है। भारतीयकरण का अर्थ धर्मनिरपेक्ष आदर्शों का संश्लेषण है। इसे धर्मनिरपेक्षता को और बढ़ावा देना चाहिए न कि उनके विरुद्ध जाना चाहिए। भारतीयकरण से अभिप्राय यह है कि प्रत्येक भारतीय को भारतीय राष्ट्रिक बनना चाहिए। राष्ट्रीय एकीकरण के लिए यह आवश्यक है। भिन्नता में एकता तभी आ सकती है यदि सभी भारतीय अपने आपको भारतीय राष्ट्रिक समझें। सहनशीलता अत्यंत आवश्यक है। राष्ट्रीय एकता के लिए दूसरे धर्मों के प्रति सहनशीलता अनिवार्य है। एक धर्म के व्यक्तियों को दूसरे धर्म, दूसरी संस्कृति तथा दूसरी सामाजिक पृष्ठभूमि का ज्ञान होना चाहिए तथा उसके प्रति सहनशीलता होनी चाहिए। कोई भी अपना धर्म तथा रीतियाँ छोड़े बिना किसी दूसरे धर्म तथा रीतियों के प्रति पूर्णतया सहनशील हो सकता है।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की सफलता (Success of Concept of Secularism in India)

भारत में पर्याप्त सीमा तक धर्मनिरपेक्षता की भावना सफल रही है। भिन्न धर्मों के लोग परस्पर निकट आए हैं। आधुनिकीकरण तथा पाश्चात्यकरण के साथ धर्मनिरपेक्षता का विचार भी भारत में बराबर पनपा है। लोग धार्मिक दृष्टिकोण की बजाय तर्कसंगत तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने लगे हैं। एम.एन. श्रीनिवास के मतानुसार स्वतंत्रता के बाद हिंदुओं पर धर्मनिरपेक्षता का बहुत प्रभाव पड़ा है। हिंदुओं में से ब्राह्मणों पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ा है। ऊँची जाति के हिंदुओं और अन्य हिंदुओं का सामाजिक अंतर भी समाप्त हो रहा है। इसका जाति प्रथा पर भी प्रभाव पड़ा है। जाति प्रथा समाप्त तो नहीं हुई है लेकिन इसका रूप बदल गया है। जाति अब राजनीति के लिए इतनी आवश्यक हो गई जितनी कि राजनीति के लिए जाति। लाभ उठाने के लिए भिन्न जातियों में प्रतियोगिता है। इसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज में परिवर्तन आ गया है। परिवार में भी परिवर्तन हो गया है। संयुक्त परिवार के स्थान

छात्र क्रियाकलाप

1. धर्मनिरपेक्षता का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

2. धर्मनिरपेक्षता के विरोधी घटक कौन-कौन से हैं?

पर अब एकल परिवार है। धर्मनिरपेक्षता का धार्मिक मठों तथा उनके मुखियाओं पर भी प्रभाव पड़ा है। शिक्षित हिंदू अब यह अनुभव करते हैं कि उनकी संपत्ति को शिक्षा तथा सामाजिक कल्याण के लिए प्रयुक्त किया जाना चाहिए।

नोट

धर्मनिरपेक्षता के विरोधी घटक (Factors that threaten Secular State in India)

भारत में कई ऐसे घटक तथा शक्तियाँ हैं जो धर्मनिरपेक्ष राज्य के विकास में बाधक हैं। ये निम्नलिखित हैं–

1. सांप्रदायिकता (Secularism)–सांप्रदायिकता का अर्थ है सारे राष्ट्र से अधिक अपने धार्मिक समुदाय के प्रति निष्ठा रखना। सांप्रदायिक चुनावों को समाप्त करने के बाद भी देश में सांप्रदायिकता समाप्त नहीं हुई है। अभी तक भी यह एक राजनीतिक शक्ति बनी हुई है और कई बार इलाहाबाद, अलीगढ़, दिल्ली, मेरठ तथा कलकत्ता में हिंसात्मक दंगों के रूप में फूटकर सामने आती है।

2. जातिवाद (Casteism)–संवैधानिक दृष्टि से तो जातिवाद को समाप्त कर दिया गया है लेकिन भारतीय समाज में अभी तक यह प्रचलित है। भारत में लगभग सभी राजनीतिक दल अभी तक किसी चुनाव-क्षेत्र की जनसंख्या की जाति के आधार पर ही चुनाव लड़ते हैं।

भारत में साम्यवादी दल, जो धर्मनिरपेक्ष है और जातिरहित तथा वर्गरहित समाज में विश्वास रखता है ने भी जातिवाद से समझौता कर लिया है। आंध्र प्रदेश में साम्यवादी दल के इतिहास को काम्मा और रेड्डी जातियों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है।

मोरिस जोंस के शब्दों में, *''जाति अथवा समुदाय पारंपरिक राजनीति का केंद्र है। सारा सामाजिक ढाँचा इससे जुड़ा हुआ है। यह सब ओर व्यापक है। प्रत्येक व्यक्ति किसी विशेष जाति अथवा समुदाय में उत्पन्न होता है और उससे समाज में एक विशेष स्थान पाता है जिससे उसका सारा व्यवहार तथा दृष्टिकोण प्रभावित होता है।''*

3. भाषावाद (Lingualism)–भाषावाद न केवल राष्ट्रीय एकीकरण के मार्ग में बाधा है बल्कि भारत में एक सच्चे धर्मनिरपेक्ष राज्य के विकास में भी बाधा है। अज्ञानतावश उर्दू तथा संस्कृत जैसी कई भाषाओं को विशेष धर्मों से संबद्ध किया जाता है।

4. धार्मिक समुदायों के साथ भिन्नात्मक व्यवहार (Differential Treatment with Religious Communities)–भारतीय राज्य के सम्मुख एक बड़ी कठिनाई है। धर्मनिरपेक्षता के कड़े अर्थों के अनुसार यह ('सार्वजनिक व्यवस्था, नैतिकता तथा स्वास्थ्य' के आधार के अतिरिक्त) किसी सामाजिक रीति में हस्तक्षेप नहीं कर सकता। दूसरी ओर सामाजिक न्याय भारतीय सामाजिक ढाँचे में आमूल परिवर्तनों की माँग करता है।

प्रो. स्मिथ के मतानुसार, *''भारत में राज्य की संवैधानिक शक्तियों पर धर्मनिरपेक्षता के नाम पर लगाई गई सीमाओं को अनुभव नहीं किया जाता। प्रायः यह प्रश्न पूछा जाता है। यदि सरकार सामाजिक तथा आर्थिक जीवन के विस्तृत क्षेत्रों को विनियमित कर सकती है तो उसी प्रकार वह धार्मिक क्षेत्र को विनियमित क्यों नहीं कर सकती?''*

भारत में कुछ राज्यों ने हिंदी मंदिरों को 'सुधारने' का कार्य किया है। 1950 का मद्रास पशु तथा पक्षी बलिदान उन्मूलन अधिनियम राज्य द्वारा प्रत्यक्ष रूप से धार्मिक सुधार करने का एक उदाहरण है। धर्म को सुधारने के आधार पर ही हिंदू कोड बिल पास किया गया था। इसी प्रकार मंदिर प्रबंध को सुधारने के लिए और बिल पास किए गए हैं। कुछ निजी संपत्ति अधिनियम भी बनाए गए हैं जो केवल हिंदुओं पर लागू होते हैं। सरकार द्वारा किसी मुस्लिम प्रथा को नहीं छुआ गया है। यह अद्‌भुत बात है कि सरकार भारत जैसे धर्मनिरपेक्ष राज्य में भिन्न धर्मों के लोगों के सुधार के संबंध में भिन्न विचार रखती है। भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री वी.पी. सिंह ने राम जन्म भूमि-बाबरी मस्जिद समस्या का समाधान धर्मनिरपेक्षता के आधार पर करने पर बल दिया था।

5. सरकारी उत्सवों में रीतियों का प्रचलन (Continuance of Religious Observance in Official Functions)–मंत्री शपथ लेते समय अपने-अपने धर्मों की रीतियों का अनुसरण करते हैं। जहाज़ों तथा संस्थाओं का उदघाटन भी धार्मिक रीतियों से होता है। इनके लिए ब्राह्मणों को बुलाया जाता है। धर्मनिरपेक्षता पर बुरा प्रभाव डालने वाली बात सांप्रदायिक दलों में वृद्धि है। धर्मनिरपेक्षता की भावना के विकास के मार्ग में ऐसे दल बाधा उत्पन्न करते हैं।

6. पाकिस्तान के साथ संबंध (Relation with Pakistan)–वी.के. सिन्हा के मतानुसार भारत में धर्मनिरपेक्षता का भविष्य पाकिस्तान के साथ उनके संबंधों से जुड़ा हुआ है। पाकिस्तान भारत की धर्मनिरपेक्षता पर संदेह करता है। पाकिस्तान का जन्म ही धर्मनिरपेक्षता के विरोध में हुआ था। पाकिस्तान अपने आपको इस्लामी

मूल्यों का संरक्षक मानता है। जिसके कारण आजादी के बाद से ही दोनों देशों का संबंध मधुर नहीं हो सका है। इधर हाल के वर्षों में दोनों देशों के संबंध में सुधार के नवीन प्रयास किए जा रहे हैं। दोनों देशों के बीच रेल एवं बस परिवहन का आवागमन शुरू हो गया है। राजनयिक प्रयास के माध्यम से दोनों देशों के बीच नए संबंधों की स्थापना के लिए नए प्रयास किए जा रहे हैं।

नोट

16.5. धर्मनिरपेक्षता के कारक (Factors of Secularization)

भारत में धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देने वाले निम्नलिखित कारक हैं–

1. पश्चिमीकरण–धर्मनिरपेक्षता को बढ़ाने में पश्चिमीकरण ने योगदान दिया है। अंग्रेजों के 150 वर्ष के शासन काल में यह पश्चिमीकरण प्रभावी रहा। इसमें नई प्रौद्योगिकी यातायात, संचार, डाक तार, रेल, शिक्षा, नवीन ज्ञान, विश्वास और मूल्यों का प्रभाव पड़ा जिससे भारत में धर्म का प्रभाव कम हुआ तथा भोगवाद, व्यक्तिवाद और भौतिकवाद को बढ़ावा मिला।

2. नगरीकरण तथा औद्योगीकरण–धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया नगरों में ही अधिक देखने को मिलती है क्योंकि नगरों में ही औद्योगीकरण, शिक्षा, संचार, रेल, प्रौद्योगिकी गाँवों की अपेक्षा अधिक पाए जाते हैं जिनमें विभिन्न जातियों, प्रजातियों, धर्मों, भाषाओं के लोग साथ-साथ काम करते हैं। इससे उनमें धार्मिक कट्टरता समाप्त होकर तार्किता और वैज्ञानिकता का विकास होता है।

3. यातायात तथा संचार के विकसित साधन–प्राचीन समय में संचार के साधनों का अभाव था इसलिए उनमें गतिशीलता नहीं पाई जाती थी। अन्य धर्मों और संप्रदायों के संपर्क में न आने के कारण वे धार्मिक कट्टरता और अंधविश्वासों से घिरे रहते थे। परंतु यातायात और संचार के साधनों के विकसित हो जाने से उनमें गतिशीलता बढ़ी तथा व्यक्ति अन्य धर्मों, जातियों, प्रजातियों के लोगों के संपर्क में आए तथा धार्मिक कट्टरता कम हुई तथा समानता की धारणा पनपी।

4. आधुनिक शिक्षा प्रणाली–आधुनिक शिक्षा प्रणाली ने धर्मनिरपेक्षता को बढ़ाने के लिए सहयोग दिया है। प्राचीन शिक्षा में धर्म की प्रधानता थी और शिक्षा केवल द्विज जातियों तक ही सीमित थी किंतु आधुनिक शिक्षा सभी के लिए समान रूप से खुली है।

5. धार्मिक एवं समाज सुधार आंदोलन–भारत में धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने के लिए अनेक आंदोलन चलाए गए। उनके साथ स्वामी विवेकानंद, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, महात्मा गाँधी, केशवचंद्र सेन। सैयद अहमद खाँ, रानाडे आदि के नेतृत्व में अनेक सुधार कार्यक्रम चले। इन सभी के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारतीय समाज में छुआछूत, जाति-पाँति का भेद-भाव, कट्टरता, धार्मिक अंधविश्वास आदि में कमी हुई।

6. सरकारी प्रयत्न–भारत में धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा देने में सरकार द्वारा विभिन्न समयों पर बनाए गए विधानों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जैसे–जाति निर्योग्यता उन्मूलन अधिनियम 1850, हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम 1856, विशेष विवाह अधिनियम 1954, हिंदू विवाह अधिनियम 1955, अस्पृश्यता अपराध अधिनियम 1955 आदि के द्वारा हिंदुओं के परंपरागत धर्म, विवाह और छुआछुत संबंधी विचारों में परिवर्तन हुए। नए संविधान द्वारा देश के सभी नागरिकों को समान मौलिक अधिकार प्रदान किए गए।

7. राजनीतिक दल–भारत में राजनीतिक दलों ने भी धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा दिया है। भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस पार्टी के सभी जाति और धर्मों के व्यक्ति सदस्य थे। समाजवादी नेताओं ने भी धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा दिया है।

8. धार्मिक भिन्नता–भारत में हिंदू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध सभी धर्मों के लोग साथ-साथ रहते हैं, इसलिए भारत में धर्मनिरपेक्षता को स्वीकार किया है। उससे सभी धर्मों के मानने वालों में सद्भाव और उदारता पैदा हुई जिससे धर्मनिरपेक्षता को बढ़ावा मिला।

विकासशील देशों में भारत ही एक ऐसा देश है जिसने धर्मनिरपेक्षता को सरकार की नीति और कार्यक्रमों का निर्देशक सिद्धांत माना है। भारतीय धर्मनिरपेक्षता कोई बौद्धिक अवधारणा नहीं है और न हीं इसकी उत्पत्ति सैद्धांतिक और वैचारिक उहापोह में से हुई है। इसने स्वतंत्रता संग्राम के उन नेताओं और असंख्य अज्ञात भारतवासियों के बलिदान से भौतिक शक्ति और नैतिक बल प्राप्त किया जो गंभीर घड़ी में भी धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद की राह से डिगे नहीं। इस प्रकार के त्याग व संघर्ष के इतिहास ने ही भारत में धर्मनिरपेक्ष परंपरा के रूप को गढ़ा है।

नोट

इसमें कोई शक नहीं कि धर्मनिरपेक्षता का सिद्धांत पश्चिमी विचारकों और सुधारकों के चिंतन का फल है। भारत इस दृष्टि से पश्चिमी जनता का ऋणी है। परंतु भारत ने धर्मनिरपेक्षता का विचार ब्रिटिश उपनिवेशवाद से नहीं लिया। उपनिवेशवादी सरकार का धर्मनिरपेक्षता से कोई वास्ता नहीं था वह तो फूट डालो और राज करो की नीति अपनाकर एक धर्म को दूसरे धर्म से लड़ाने की कला में सिद्धहस्त थी। इसके अलावा उसने भारतीय शिक्षा व संस्कृति को भी धर्मनिरपेक्षता की राह पर चलने के लिए प्रोत्साहित नहीं किया। भारत के प्रगति विरोधी वर्गों का साथ देकर उपनिवेशवादी शासन ने भारतीय समाज को धर्मनिरपेक्ष स्वरूप धारण करने में सदा बाधा पैदा की।

भारत में धर्मनिरपेक्षता की धारणा का सूत्रपात करने का श्रेय पश्चिमी विचारधारा में पले उन भारतीयों को जाता है जिन्होंने इग्लैंड की औद्योगिक तथा फ्रांस की राजनीतिक क्रांतियों से प्रेरणा प्राप्त की है। धर्मनिरपेक्षता का विचार भारत में उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष और देश में जातियों, धर्मों तथा भाषाओं की विविधता को देखते हुए एक राष्ट्र की पहचान करने के प्रयासों के फलस्वरूप ऐतिहासिक परिस्थितियों में से उभरा है।

भारत में धर्मनिरपेक्ष प्रक्रिया का विकास विशेषकर धर्म के कुछ पोंगापंथी और पुरातनवादी तत्त्वों के विरुद्ध बौद्धिक संघर्ष के रूप में नहीं हुआ। धर्मनिरपेक्षता की प्रक्रिया का एक महत्त्वपूर्ण पहलू धर्म के भीतर ही प्रगतिशील और प्रगति विरोधी तत्त्वों के बीच संघर्ष रहा है। धर्म के भीतर धर्म निरपेक्षता की प्रक्रिया मध्यकाल में ब्राह्मणवाद और बौद्ध धर्म के बीच तथा धार्मिक और सामाजिक कट्टरता की शक्तियों और भक्ति आंदोलन से प्रेरित सामाजिक मुक्ति की शक्तियों के बीच संघर्ष में देखी जा सकती है। आधुनिक युग में विवेकानंद और महात्मा गाँधी जैसे महापुरुषों के नेतृत्व में धर्मनिरपेक्षता के आंदोलन के उदय में भी यही बात दिखलाई पड़ती है।

देश के समझदार संवेदनशील लोग धर्मनिरपेक्षता के लिए हाल में तेजी से बढ़ते खतरों से चिंतित व क्षुब्ध हैं। प्रश्न उठता है कि धर्मनिरपेक्षता के लिए हाल में तेजी से बढ़ते खतरों से चिंतित व क्षुब्ध हैं। प्रश्न उठता है कि धर्मनिरपेक्ष और एकीकृत, भारत की जो कल्पना संविधान में की गई है, उसमें और भारतीय धर्मनिरपेक्षता के स्वरूप के क्रमिक ह्रास की चिंताजनक स्थिति के बीच यह दूरी क्यों है? यह देखकर दुख होता है कि सामान्य लोग धर्मनिरपेक्ष विरोधी विचारधाराओं से भ्रमित हो रहे हैं। इससे भी अधिक चिंतनीय बात यह है कि भारत का संभ्रांत वर्ग भी धर्मनिरपेक्षता की चुनौती के व्यापक आयामों के प्रति सचेत नहीं है। उसने इस धर्मनिरपेक्ष धारणा को आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनैतिक तथा शैक्षणिक क्षेत्रों में परिवर्तन लाने के नीति निर्देशकों में बदलने के लिए देश में उपलब्ध सभी साधनों को नहीं जुटाया है। बुद्धिजीवियों में धर्मनिरपेक्ष तत्त्वों और सामान्य लोगों में परस्पर संपर्क का अभाव है जिसका परिणाम यह होता है कि आमलोग धर्मनिरपेक्षता विरोधी ताकतों की विचारधारा से प्रभावित होते रहते हैं तथा धर्मनिरपेक्ष शक्तियों द्वारा इस संदर्भ में कुछ नहीं किया जाता।

अत: यह कहा जा सकता है कि Secularization अथवा धर्मनिरपेक्षता जैसे कारकों का भारतीय संविधान में समावेश करना जरूरी था क्योंकि यहाँ विभिन्न धर्मों और जातियों के लोग निवास करते हैं। अत: इस सूत्रयामी धर्मनिरपेक्षता के द्वारा इन विविध धर्मावलंबियों को एक सूत्र में पिरोना आवश्यक था, ताकि राष्ट्रीय एकता कायम की जा सके। साथ ही साथ यदि धर्मनिरपेक्षता के बल पर राष्ट्रीय एकता प्राप्त करनी है तो उसे ऐसा जड़ सिद्धांत नहीं बने रहने देना चाहिए। जिससे केवल धर्म सहिष्णुता के परिपालन पर बल दिया जाता है। इसे एक गतिशील विचार बनाना होगा जिसमें असमानता मिटाने की दिशा में सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तन की धारणा भी सम्मिलित हो।

एस.आर बोंबई बनाम भारत संघ, ए.आई.आर 1994 एस.सी. 1918 में उच्चतम न्यायालय ने संविधान में पंथ निरपेक्षता के मूल तत्त्व पर सविस्तार चर्चा की और भाजपा शासित तीन राज्यों में बाबरी मसजिद गिराए जाने के बाद राष्ट्रपति शासन लगाए जाने को उचित ठहराया। सेंट जेवियर कॉलेज सोसाइटी बनाम गुजरात राज्य के मामले में उच्चतम न्यायालय ने 1974 में निर्णय दिया कि भले ही संविधान में पंथनिरपेक्ष राज्य की बात नहीं कही गई है, फिर भी इस विषय में कोई संदेह नहीं कि संविधान निर्माता इसी तरह का राज्य स्थापित करना चाहते थे।

संविधान में एक ऐसी पंथनिरपेक्षता की व्यवस्था स्थापित करने का प्रयास किया गया जिसके अंतर्गत बहुसंख्यकों को राज्य की ओर से कोई विशेष अधिकार नहीं दिए गए या उन्हें कोई प्राथमिकता पाने का अधिकार नहीं दिया गया और अल्पसंख्यक के धार्मिक अधिकारों को अनेक प्रकार के संरक्षण प्रदान किए गए। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत में पंथ निरपेक्षता का जन्म चर्च तथा राज्य के परस्पर संघर्ष के कारण नहीं हुआ। इसकी जड़ें भारतीय संस्कृति एवं प्रकृति में पहले से ही विद्यमान थी। अत: यह भारत को विरासत के रूप में मिला है। **श्री एम.सी. सीतलवाड़** का भी यही विचार था कि पंथ निरपेक्ष राज्य के अधीन सभी नागरिकों के साथ एक-सा व्यवहार होना चाहिए तथा उनके धर्म के कारण उनके साथ भेदभाव नहीं बरता जाना चाहिए।

छात्र क्रियाकलाप

1. कृपया प्रश्न लिखिए

2. कृपया प्रश्न लिखिए

नोट

16.6. सारांश (Summary)

धर्मनिरपेक्षता राजनीतिशास्त्र की एक जटिल अवधारणा है। आज का युग स्वतंत्रता और समानता का युग है। अत: धर्म के नाम पर अथवा धर्म के आधार पर नागरिकों में भेदभाव करना कदापि उचित नहीं कहा जा सकता अत: धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना आज के युग की पुकार है। धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ ही होता है कि राज्य का अपना कोई धर्म नहीं हो और धर्म के आधार पर वह नागरिक-नागरिक के बीच किसी प्रकार का भेदभाव नहीं करता हो।

भारतीय संविधान के अनुसार भारत में एक धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की गई है। अर्थात् राज्य धर्म व जाति आदि के आधार पर किसी व्यक्ति अथवा संस्था को किसी प्रकार की सहायता प्रदान नहीं करेगा।

Secularization शब्द Secular से बना है जिसका शाब्दिक अर्थ *धर्मनिरपेक्ष* होता है *Chambers English Hindi Dictinary* में Secular का शाब्दिक अर्थ *सर्व धर्म समतापरक, धर्मनिरपेक्ष* तथा *असंप्रदायिक बतलाया गया है।* अत: धर्मनिरपेक्ष राज्य का अर्थ यह कदापि नहीं लगाना चाहिए कि वह नागरिकों को धर्म में विश्वास रखने पर रोक लगाने वाला होता है इसका वास्तविक अर्थ होता है धार्मिक मामलों में राज्य की तटस्थता।

डोनाल्ड यूजीन स्मिथ ने भारतीय संदर्भ में पंथ निरपेक्षता के बारे में लिखा है कि *''पंथ निरपेक्ष राज्य वह राज्य है जो धर्म की व्यक्तिगत तथा समवेत स्वतंत्रता प्रदान करता है, संवैधानिक रूप से किसी धर्म विशेष से जुड़ा हुआ नहीं है और जो धर्म का न तो प्रचार करता है और न ही उसमें हस्तक्षेप करता है।''*

16.7. अभ्यास-प्रश्न (Exercise Questions)

1. धर्मनिरपेक्षता से आप क्या समझते हैं? उसके प्रमुख तत्त्वों का वर्णन करें।
2. भारतीय संविधान में वर्णित धर्मनिरपेक्षता का वर्णन करें।
3. भारत जैसे विकासशील देश में धर्मनिरपेक्षता के महत्त्व पर प्रकाश डालें।
4. ''भारत विविधता में एकता बनाए हुए है'' वर्णन करें।
5. भारत एक धर्मनिरपेक्ष राज्य है? कैसे?

❑❑❑